मानस-मीमांसा

अथवा

गोस्वामी तुलसीदास जी कृत 'रामचरितमानस' की एक निष्पक्ष समालोचना

लेखक
ज्यौतिषाचार्य, विद्यानिधि,
रजनीकान्त शास्त्री, बी० ए०, बी० एल
साहित्य-सरस्वती, ज्योतिर्भूषण

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्तु ते किमपितान् प्रतिनैष यत्नः।
उत्पस्यते हि मम कोऽपि समान धर्म्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी॥"

—भवभूतिः

प्रकाशक
किताब महल, इलाहाबाद, बम्बई

प्रथम संस्करण १९४९

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक—पं० संतदास 'श्रीवैष्णव' शास्त्री, श्रीवैष्णव प्रेस, दारागंज, प्रयाग

भूमिका

गोस्वामी तुलसीदास जी कृत 'रामचरितमानस' की सच्ची और निष्पक्ष समालोचना आज तक किसी भी विद्वान् ने न की। जिस किसी समालोचक ने इसकी समालोचनार्थ अपनी लेखनी उठाई उसने केवल इसके गुणों का बखान कर इसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए; पर इसके दोषों के विषय में वह मौन धारण किए रहा; अथवा उसे इसके दोष सूझ ही नहीं पड़े। इसके केवल तीन कारणों में से कोई न कोई एक अवश्य हो सकता है; या तो इस ग्रन्थ के दोषों के उद्घाटन से उसको किसी स्वार्थ की सिद्धि में विघ्न-बाधा पड़ने की आशंका रहती होगी; या नहीं तो वह इस ग्रन्थ को एक महात्मा की कृति समझकर इसे सर्वथा निर्दोष तथा निर्भ्रान्त समझता होगा; या नहीं तो वह इस ग्रन्थ के दोषों को जानता हुआ भी इसे एक धार्म्मिक (?) ग्रन्थ समझकर इसके दोषों का उद्घाटन करना अपने अन्ध-विश्वास के कारण अनुचित समझता होगा। ऐसे समालोचकों से मेरा यह नम्र निवेदन है जब स्वयं गोसाईं जी ही इस मत के कायल हैं कि 'विधि-प्रपंच गुण-अवगुण साना', तो फिर एक ग्रन्थ जो केवल मनुष्य का 'प्रपंच' है सर्वथा दोष मुक्त कैसे हो सकता है? इस दशा में हमें गोसाईं जी के ही इस आदेश के अनुसार कि 'सन्त-हंस गुण लहहिं पय, परिहरि वारि विकार', इस ग्रन्थ के गुणों से लाभ उठाने एवं उसके

दोषों से बचने के लिए इसकी सच्ची तथा निष्पक्ष समालोचना करनी चाहिए।

मैं मानता हूँ कि हिन्दी-भाषी हिन्दू जनता इस ग्रन्थ को एक अति ही पवित्र दृष्टि से देखती है। इसके माधुर्य्य पर वह सदा मुग्ध रहती है। इसके पठन-पाठन से वह अपना ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण मानती है, तथा विदेशी विद्वान् भी इसकी खूबियों को देखकर इसकी प्रशंसा मुक्त-कंठ से करते हैं। पर सत्य के अनुरोध से मुझे कहना पड़ता है कि जनता का ध्यान इस ग्रन्थ की त्रुटियों के प्रति अब तक आकृष्ट नहीं हुआ, जिससे उसकी बड़ी हानि हुई है और अब तक हो रही है। इस दशा में प्रत्येक विद्वान् का इसकी खूबियों के प्रदर्शन के साथ-साथ इसके दोषों का पर्दाफ़ाश करना एक धार्म्मिक कर्त्तव्य हो जाता है।

इस पुस्तक में किन-किन विषयों पर प्रकाश डाला गया है इसका एक संक्षिप्त पूर्व-परिचय मैं अपने पाठकों को दे देना चाहता हूँ जिसमें वे मेरा उद्देश्य जान लें। यह पुस्तक 'मानस' की समालोचना-मात्र नहीं है; बल्कि और भी कुछ है। इसमें समालोचना के साथ-साथ तुलसीदास जी की जनता में प्रचलित उस झूठी जीवनी का, जो प्रायः 'मानस' के सटीक संस्करणों के प्रारंभ में लगी देख पड़ती है, समूलोच्छेद करते हुए उनकी वास्तविक जाति-पाँति आदि पर उनकी ही कृतियों का हवाला देते हुए, स्वतंत्र तथा निष्पक्ष रूप से प्रकाश डाला गया है; एवं 'मानस' के नायक, नायिका तथा अन्य पात्रों के सच्चे चरित्र-चित्रण के साथ-साथ उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का खंडन करते हुए उन्हें महर्षि वाल्मीकि के

की उपज-मात्र सिद्ध किया गया है, जिससे रामायण की कथा का सत्य घटनाओं पर अवलम्बित होना आप से आप नष्ट हो जाता है और उसको देखने में जगमगाती हुई ऊँची अट्टालिका मरु-मरीचिका-जन्य गन्धर्व नगर की तरह वास्तविक सत्ता से रहित हो जाती है। 'मानस' की कथा-वस्तु पर विचार करने के सिलसिले में उसके आधार ग्रन्थों पर भी प्रकाश डाल कर यह दिखाया गया है कि कहाँ पर उसका उक्त ग्रन्थों के साथ साम्य और कहाँ पर वैषम्य है। इसी प्रसंग में गोसाईं जी की स्वकल्पना-प्रसूत सती-मोहादि जैसी आख्यायिकाओं का भी रचना-प्रयोजन बता दिया गया है जिससे पाठकों को उनका कच्चा चिट्ठा भली-भाँति मालूम हो जाए। तथा सब के अन्त में 'मानस' की खूबियों और तत्पश्चात् उसके कतिपय दोषों पर भी प्रचुरमात्रा में प्रकाश डाला गया है जिसमें इसकी समालोचना सर्वाङ्गीण एवं परिपूर्ण हो जाए। जहाँ एक ओर तो गोसाईं जी अपने इस अमूल्य महाकाव्य में पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, प्रजा-वात्सल्य, पातिव्रत्य आदि सम्बन्धी विविध आदर्शों के स्थापन का प्रयत्न करते हुए हमें नाना प्रकार के सदुपदेश और नीति की अच्छी-अच्छी शिक्षाएँ देते हैं, जिनके अनुसार चलने से यह नरकोपम संसार भी स्वर्ग-निर्विशेष हो सकता है; तथा सोने में सुगंध की तरह इसमें अलंकारों, रसों एवं प्रसाद आदि गुणों के द्वारा एक अपूर्व साहित्यिक मधुरिमा कूट-कूटकर भर देते हैं, जिसका एक बार आस्वादन करने से उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता; वहाँ दूसरी ओर वे 'नहि कलि कर्म न धर्म विवेकू। राम-नाम अवलंबन एकू' आदि जैसे विविध अन्धविश्वासों का प्रचार-कर अपने अन्ध-भक्तों को अकर्म्मण्य, निरुत्साह तथा संसार-

यात्रा के लिए पौरुषहीन बना देते हैं; जिसका निष्पक्ष विवेचन पुस्तक में यथास्थान किया गया है।

इस प्रसंग में मैं अपने पाठकों का ध्यान एक विशेष विषय की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह है अवतारवाद। गोसाईं जी जैसे अवतारवादियों का मत है कि देवताओं तथा गौ-ब्राह्मणों का दुःख दूर करने के लिए ईश्वर का समय-समय पर मनुष्यादि प्राणियों के रूप में आविर्भाव हुआ करता है। पर तर्क की कसौटी पर इस मत को अच्छी तरह कसकर यह दिखाया गया है कि यह मत केवल एक ढकोसला-मात्र है जिसका आदि प्रवर्त्तक कोई महाधूर्त्त रहा होगा जिसने अबोध जनता में तथा-कथित अवतारों का पूजा-पाठ चलाकर उसके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया होगा। पहले तो स्वयं ईश्वरवाद ही एक विवाद-ग्रस्त विषय है। संसार का विद्वत्समाज आज तक इस विवाद का निपटारा न कर सका कि इस विश्व को नियंत्रित करनेवाली कोई ईश्वर-संज्ञक चेतन-शक्ति है, अथवा वह प्रकृति के अटल नियमों द्वारा पूर्णतः नियंत्रित होकर आप से आप चल रहा है। सच पूछिए तो पृथ्वी का एक बड़ा भाग अनीश्वरवादी है। ईश्वरवादियों का दायरा छोटा है। सारा बौद्ध-संसार किसी ईश्वर को नहीं मानता। इसी प्रकार जैन धर्म्म में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवादी सोवियट रूस ने भी अपने यहाँ से ईश्वर को खदेड़ दिया है। अतः यदि अनीश्वरवादियों की गणना की जाए तो उनकी संख्या ईश्वर-वादियों की संख्या से कहीं अधिक निकलेगी। इस दशा में मुझे उन तथा-कथित शिक्षित महाशयों की बुद्धि पर तरस आता है जो ईश्वरवाद के इस प्रकार विवाद-ग्रस्त रहते हुए भी

अवतारवाद के कीचड़ में बेतरह फँसे हैं। उनका कथन है कि विश्व के सभी मानव-प्राणी ईश्वर के अवतार हैं। इनमें जो विशेष तेजोयुक्त होते हैं, उन्हीं के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट होता है और वे ही अवतार-संज्ञा के अधिकारी होते हैं। पर साधारण मानव-प्राणी, जिनमें विशेष आभा नहीं रहती, ईश्वर के रूप होते हुए भी उपेक्षित अवस्था में पड़े रहते हैं। पर शोक है कि ईश्वरवादियों की यह बुद्धि तर्क करने पर उनके ईश्वर को किस रसातल में ढकेल देती है, यह इन बिचारों को मालूम नहीं। इस बुद्धि के अनुसार एक अवतार रामचन्द्र हुए और दूसरा अवतार रावण हुआ। रावण को, जिसके हुंकार-मात्र से त्रैलोक्य में हड़कम्प मँच जाता था, ईश्वर का एक जबर्दस्त अवतार मानना पड़ेगा। मज़ा यह हुआ कि एक ईश्वर ने दूसरे ईश्वर की बहन के नाक-कान कटवा लिए। इस पर दूसरे ईश्वर ने प्रतिहिंसा के भाव से प्रेरित होकर पहले ईश्वर की स्त्री को चुरा लिया। फलतः दोनों ईश्वरों में रोमांचकारी युद्ध छिड़ गया, जिसमें पहले ईश्वर ने दूसरे ईश्वर को नाती-पूत समेत यमधाम पेठा दिया। यह ईश्वर-लीला यहीं पर समाप्त नहीं होती। संसार में जितने लुच्चे, गुंडे, चोर, डाकू तथा बदमाश हैं, वे सभी ईश्वर के अवतार हैं और उन्हीं की संख्या, अच्छे लोगों की संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक है। फलतः ईश्वर के अवतार-वाद के आधार पर हमें यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर ने ही नाना प्रकार के उक्त दुष्टों का रूप धारण करके संसार में इतना ऊधम मँचा रखा है कि उससे नाकों दम आ गया है और वह संसार की जितनी भलाई नहीं करता उससे कई गुणा अधिक बुराई ही करता है! वाह रे ईश्वर और तेरे अवतार!!

अन्त में पाठकों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे शान्त-चित्त होकर 'मानस-मीमांसा' नामक मेरी इस पुस्तक का अध्ययन तथा मनन करें और हठ एवं पक्षपात छोड़कर एतद्विषयक अपना निर्णय करें।

बक्सर (शाहाबाद)
यमद्वितीया, विक्रम संवत् २००२
(भौमवार)
ता० ६-११-१९४५ (ई० सन्)

विनीत
रजनीकान्त शास्त्री
ग्रन्थकार

संक्षिप्त-सूची

आधार ग्रन्थों की सूची (Bibliography,

(१) श्रीमद्भागवत
(२) वाराह-पुराण
(३) शिव पुराण
(४) मनुस्मृति
(५) वाल्मीकीय रामायण
(६) महारामायण
(७) अध्यात्म-रामायण
(८) हनुमन्नाटक
(९) प्रसन्न-राघव-नाटक
(१०) उत्तर रामचरित
(११) अभिज्ञान-शाकुन्तल
(१२) मेघदूत
(१३) भट्टि-काव्य
(१४) शिशुपाल वध
(१५) भगवद्गीता
(१६) विद्वद्-वृत्त (काली प्रसाद शास्त्री संवत् १९९४)
(१७) चाणक्य-नीति
(१८) हितोपदेश
(१९) कठोपनिषद्
(२०) श्वेताश्वतरोपनिषद्
(२१) साहित्य-दर्पण
(२२) मुहूर्त्त-चिन्ता मणि
(२३) हनुमान-चालीसा
(२४) रामचरितमानस
(२५) विनय-पत्रिका
(२६) कवितावली
(२७) हनुमान-बाहुक
(२८) गीतावली
(२९) Life & Times of Sankar (C. N. K. Aiyar—4th Edn.)
(३०) The New Testament (Hindi) (B. F. B. S. 1929—Indian Press, Ltd. Allahabad.)

अथ प्रथम परिच्छेद

गोस्वामी तुलसीदास कौन थे ?

गोसाईं जी की जीवनी—जिन गोसाईं जी ने "रामचरितमानस" की मधुर वंशी फूँककर "शवरी नाद मृगी जनु मोही" को चरितार्थ करते हुए हिन्दू-जनता को मंत्र-मुग्ध सा कर दिया है, वे अपने शुभ-जन्म से भारत के किस प्रान्त तथा किस जाति के मुखोज्ज्वलकर्त्ता हुए थे; उनकी पारिवारिक स्थिति कैसी थी; उनका शैशवकाल किस दशा में व्यतीत हुआ था; उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किसने किया था; उनके धार्मिक एवं सामाजिक विचार कैसे थे—ये बातें विद्वानों की खोज के लिए अति ही गहन तथा अति ही आवश्यक विषय हैं। यद्यपि जनता के हृदय में चिरकाल से दृढ़बद्ध मूल धारणा के विरुद्ध लेखनी उठाना मानो प्रशान्त महासागर में एकाएक प्रचण्ड तूफान उठा देना है; तथापि समालोचना की धधकती हुई ज्वाला में उस धारणा को खूब तपाए बिना सोने की तरह उसकी असलीयत मालूम नहीं हो सकती। इस धारणा के अनुसार गोसाईं जी ब्राह्मण थे; उनकी शादी हुई थी तथा उनकी ज्ञान-प्राप्ति का कारण उनकी स्त्री ही थी। कितनों ने तो यहाँ तक गप्प हाँका है कि गोसाईं जी को पुत्र भी उत्पन्न हुआ था तथा शादी में दहेज-स्वरूप अच्छी रकम भी हाथ

लगी थी। जनता की उक्त धारणा की जन्मदात्री गोसाईं जी की वह जीवनी है जो "रामचरितमानस" के प्रायः सभी संस्करणों के प्रारंभ में छपी पाई जाती है। इस परिच्छेद में उस जीवनी की छान-बीन करते हुए यह दिखलाया जाएगा वह जीवनी स्वयं गोसाईं जी तथा उनके समकालीन लेखकों के निजी लेखों के साथ कुछ भी अनुकूलता नहीं रखती। वह एकदम जाली है जिसे गोसाईं जी के कुछ चापलूस आधुनिक चेलों ने एक मन-गढ़न्त रच ली है।

प्रचलित जीवनी कल्पित है

प्राचीन भारतीय कवियों के प्रामाण्य जीवन-चरित हमें उपलब्ध नहीं, जिनके द्वारा उनके वंशादि का ठीक-ठीक पता लग सके। इन कवियों के बिषय में हम जो कुछ जानकारी रखते हैं, उसका अधिकांश परम्परा की निराधार जनश्रुतियों तथा मनगढ़न्त घटनाओं के विवरणों से भरा रहता है, जिनकी सत्यता वा असत्यता का ठीक-ठीक निर्णय करना टेढ़ी खीर प्रतीत होता है। अतः अगर कुछ भरोसा किया जा सकता है तो केवल उन्हीं विवरणों के ऊपर जो सम्बन्धित कवि के निजी लेखों तथा उसके समकालीन अन्य कवियों के लेखों में पाए जाते हैं। पर इनका अंश बहुत थोड़ा रहता है। किन्तु इनके स्वल्प होने पर भी इनका मूल्य स्वल्प नहीं, प्रत्युत अत्यधिक समझना चाहिए; कारण कि अन्य विवरणों की सचाई वा मिथ्यापन के निर्णयार्थ ये कसौटी हैं। इसके अतिरिक्त जाति-भेद जनित पक्षपात की मात्रा इतना अधिक है कि सभी का यही प्रयत्न रहता है कि प्रख्यात कवियों तथा महापुरुषों को अपनी ही बिरादरी का होना सिद्ध किया

जीवनी विषयक सच्ची सामग्रियों का अभाव

जाए। अज्ञात कुल शील महात्मा कबीरदास को जन्म का ब्राह्मण लिख मारना तथा उनका जन्मतः ब्राह्मणत्व सिद्ध करने के लिए कपोल-कल्पित विलक्षण घटनाओं का आश्रय लेना इस भारतीय मनोवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। तथ्य के अनुसन्धान में जातीय पक्ष की अपेक्षा प्रान्तीय पक्ष कुछ कम विघ्न-बाधा नहीं उपस्थित करता। महाकवि कालिदास को बङ्गाल के रहने वाले बङ्गाली, मिथिला के रहने वाले मैथिल तथा महाराष्ट्र के रहने वाले महाराष्ट्री सिद्ध किया चाहते हैं। फल यह होता है कि भारतीय साहित्य व निविड़ तिमिराच्छन्न गगन में ऐतिहासिक सामग्रियों की चन्द्र-ज्योत्स्ना के अभाव के कारण हमारे सत्यान्वेषकगण अतिसावधानतापूर्वक टटोल-टटोलकर चलते हुए भी कभी-कभी ठोकर खाकर मिथ्या के घोर अन्धकूप में जा गिरते हैं। अतः हमें यही उचित है कि किसी भी कवि का परिचय मालूम करने के लिए हम उसी के लेखों का आश्रय लें और अन्यों के लेखों का उतना ही अंश ग्रहण करें जो सम्बन्धित कवि के निजी लेखों के साथ पूरा-पूरा फिट कर जाए तथा शेषांश को झूठा अथवा अप्रामाणिक समझकर त्याग दें।

जातीय तथा प्रान्तीय पक्षपात

गोसाईं जी के स्वविषयक विवरण—अब देखना यह है कि उक्त निर्णय-पद्धति का अनुसरण करते हुए हम गोसाईं जी के विषय में किस निर्णय पर जा पहुँचते हैं। आप ने अपना कुछ-कुछ परिचय अपनी कवितावली, विनय-पत्रिका तथा रामचरितमानस में जहाँ-तहाँ दिया है, जिससे आप के जीवन-सम्बन्धी कतिपय घटनाओं पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। सबसे प्रथम मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ

कि गोसाईं जी के पैदा होते ही आप के माता-पिता ने अति ही निष्ठुरता के साथ आप का परित्याग कर दिया था तथा आप का बाल्य-काल एक अनाथ बच्चे की तरह अति ही दीनावस्था में व्यतीत हुआ था, यहाँ तक कि आप दर-दर से भीख माँग-माँगकर अपना पेट पाला करते थे।

गोसाईं जी का अपने माता-पिता द्वारा तजा जाना

कवितावली में लिखा है—

(क) मातु-पिता जग जाय तज्यो, विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकर लागि ललाई ॥उ॰ का॰ ५६॥

अर्थ—संसार में जन्म देकर मुझे माता-पिता ने छोड़ दिया। ब्रह्मा ने भी मेरे ललाट में कोई भलाई न लिखी थी। मैं अति ही नीच, अपमान का पात्र तथा साहसहीन था और कुत्ते की तरह टुकड़ों के लिए लालायित रहता था।

इसकी पुष्टि विनय-पत्रिका भी करती है—

(ख) जननी जनक तज्यो जन्मि कर्म-बिनु विधिहूँ सृज्यो अवडेरे।
मोह से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे ॥२॥
फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसालफल अब हौं बबुर बहेरे ॥३॥ भजन २२७॥

अर्थ—माता-पिता ने जन्म देकर और कर्म्महीन (अभागा) जानकर मुझे छोड़ दिया और ब्रह्मा ने भी मुझे अधम बनाया। लोग अज्ञान से मुझे राम का दास कहते हैं। सिवा रामनाम के वे किस सम्बन्ध से ऐसा कहते हैं? ॥२॥ मैं बिना राम-नाम लिए पेट के लिए लालायित फिरता था और मुझे देखकर दुःख भी दुःखी होता था। किन्तु अब नाम की कृपा से बबूल और बहेड़े के वृक्षों से भी आम का फल पाता हूँ; अर्थात् नाम के प्रताप से अब बुरी चीजें भी मेरे लिए भली हो गईं ॥३॥

गोसाईं जी के माता-पिता आप के शैशवकाल में मर नहीं गए—गोसाईं जी की इन उक्तियों से कोई-कोई यह भाव निकालते हैं कि आप के माता-पिता ने आप को वस्तुतः छोड़ नहीं दिया, जैसा कि 'छोड़ने' शब्द का आन्तरिक अर्थ लिया जाता है; बल्कि वे बिचारे आपके शैशव-काल में ही काल-कवलित हो गए और आप अनाथ हो गए। इसी वास्तविक घटना को लेकर गोसाईं जी ने अपने को अपने माता-पिता द्वारा त्यागा जाना लिखा है। पर इस भाव की पुष्टि आप के अन्य स्पष्ट वचनों से, जिन्हें आप ने इस सम्बन्ध में कहा है, नहीं होती। वे तो निःसन्दिग्धरूप से यह बता देते हैं कि गोसा जी के माता-पिता ने आप का सद्योजातावस्था में ही परित्याग कर दिया था, जिस नृशंसता के कारण आप ने उन्हें भला-बुरा भी जहाँ-तहाँ कहा है। विनय-पत्रिका पुनः देखिए—

(ग) तनु जनेउ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिता हूँ।
काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोंसो सकुचत सब छुई छाहूँ॥
॥२॥ भजन २७५॥

अर्थ—जैसे कुटिल कीड़ा (साँप) अपनी देह से उत्पन्न हुई केंचुली को छोड़ देता है; वैसे ही मेरे माता-पिता ने मुझे जन्मते ही त्याग दिया। मैं किस पर क्रोध करूँ और किसे दोष दूँ? मेरे ही अभाग से सभी मेरी छाया तक भी छूने से हिचकते हैं। यहाँ पर गोसाईं जी ने अपने माता-पिता को कुटिल कहा है और उनकी उपमा साँप जैसे एक हेय सरीसृप से दी है। गोसाईं जी अपने माता-पिता द्वारा सचमुच छोड़ दिए गए थे, इसका समर्थन विनय-पत्रिका का एक दूसरा भजन भी करता है—

(घ) अगुण अलायक आलसी जानि अघन अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा कैसो टोटक औचट उलटि न हेरो ॥२॥
॥ भजन २७२ ॥

अर्थ—मुझे गुणहीन, नालायक, आलसी और पापी जानकर अपने मतलब के साथी माता-पिता ने तिजारी के टोटके की तरह तज दिया और भूलकर भी मेरे ओर नहीं ताका।

परित्याग का कारण—यह बात सिद्ध हो जाने पर कि गोसाईं जी के माता-पिता ने आपको सद्योजात अवस्था में ही तज दिया था, अब इस बात पर विचार किया जाता है कि इस सद्योजात-शिशुत्याग का कारण क्या था। गोसाईं जी के प्रचलित जीवनी के लिखने वालों का कथन है कि आप का जन्म अभुक्तमूल में हुआ था, अतः आप के माता-पिता ने ज्योतिः शास्त्र के "जातं शिशुं तत्र परित्यजेद्वा, पिता समाश्चाष्ट मुखं न पश्येत्"; (अर्थात् अभुक्तमूल में जन्मे बालक का या तो परित्याग कर दे, या नहीं तो पिता आठ वर्ष तक उसका मुँह न देखे) इस वचन के अनुसार आप का त्याग कर दिया था और इसके सबूत में वे कवितावली के "सुनत सिहात सोच विधिहू गनक को" (उ० का० ७३), इस वचन को पेश करते हैं और इसका अर्थ यों करते हैं कि ब्रह्मा को भी गोसाईं जी का जन्म अभुक्तमूल में हुआ बतलाने वाले गणक अर्थात् ज्यौतिषी की मूर्खता सुनकर आश्चर्य और शोक हुआ। पर यह अर्थ प्रसंग तथा उक्त छन्द के तात्पर्य्य के अनुकूल नहीं होने के कारण ठीक नहीं है। इसका ठीक अर्थ जानने के लिए मैं उक्त छन्द को पूरा-पूरा उद्धृतकर उसका अर्थ कर देता हूँ—

'अभुक्तमूल' वाली थ्योरी

गोसाईं जी का जन्म—(ङ) जायो कुल मंगन बधावो न बजायो मुनि, भयो परिताप पाप जननी जनक को। बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हौं चारिफल चारिहि चनक को। तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवकहि, सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को। नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो करत गिरि ते गरू तृणते तनक को॥ उ० का० ७३॥

यहाँ ब्रह्मा को ही गणक (ज्यौतिषी) कहा गया है

तुलसीदास विषयक यह अति ही प्रसिद्ध छन्द है। पाठक-गण इसको विशेष रूप से नोट कर लें। कारण कि इससे गोसाईं जी के कुलादि तथा आप के माता-पिता के आचरण पर प्रकाश पड़ता है। इसकी सविस्तर व्याख्या आगे चलकर की जाएगी। तब तक इसका सीधा अर्थ कर देता हूँ—

अर्थ—मैंने भिखमंगों के कुल में जन्म लिया। मेरा जन्म सुनकर बधावा नहीं बजाया गया। मेरे माता-पिता को अपने पाप (कुकर्म) का परिताप (पछतावा) हुआ। मैं बचपन से ही भूख से व्याकुल होकर दरिद्रता के कारण अन्न के लिए लालायित रहता और घर-घर रोता फिरता था। कहीं चने के चार दाने भी मिल गए तो मुझे चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म्म, काम और मोक्ष) पा जाने की खुशी होती थी। ब्रह्मा-ज्यौतिषी ने जब सुना कि तुलसीदास जैसे दीन-हीन पापी भी समर्थ स्वामी (रामचन्द्र) का एक अच्छा सेवक बन गया, तो उसको तुलसीदास विषयक अपने फलादेश को झूठा होते देखकर आश्चर्य और शोक हो गया। हे राम! नहीं मालूम होता कि आप का नाम समझदार है कि पागल, जो वह तृण से भी हल्के पदार्थ को पहाड़ से भी भारी बना देता है; अर्थात् महापतितों को भी पूज्य बना देता है।

यहाँ अर्थ स्पष्ट हो गया। ब्रह्मा जी को किसी दूसरे ज्यौतिषी की मूर्खता पर नहीं; बल्कि अपनी ही मूर्खता पर आश्चर्य और शोक हुआ। 'विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई' से तो यह मालूम हुआ था कि ब्रह्मा ने भी गोसाईं जी के ललाट में कुछ भी अच्छी बात न लिखी थी और यहाँ आप रामचन्द्र के अच्छे भक्त बन गए, जिससे अच्छी वात दुनिया में होती नहीं, अतः अपने फलादेश को इस प्रकार विफल होते देखकर बुढ़ऊ बाबा भी यह जानकर हताश हो गए कि अब मेरा लेख भी फेल करने लगा। इस छन्द में गोसाईं जी ने ब्रह्मा को ही 'गनक' (ज्यौतिषी) कहा है। जैसे ज्यौतिषी जन्म-पत्र पर फल लिखता है, वैसे ही ब्रह्मा भी प्राणी-मात्र के ललाट पर उनका शुभा-शुभ भाग्य-फल लिख देते हैं।

गोसाईं जी ने ब्रह्मा की उपमा एक ज्यौतिषी से अन्य स्थान पर भी दी है। कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द २० का अन्तिम चरण पढ़िए—"राय दशरत्थ के समर्थ राम राजमणि, तेरे हेरे लोपै लिपि विधिहूँ गनक की" अर्थ—हे राजा दशरथ के सुपुत्र, सामर्थ्यशाली तथा राजाओं के मणि श्री रामचन्द्र ! आप के कृपा-कटाक्ष से ब्रह्मा-ज्यौतिषी का भी लेख गायब हो जाता है।

'अभुक्तमूल' वाली थ्योरी केवल पाखंड है—अतः अभुक्तमूल वाली थ्योरी केवल एकदम गलत ही नहीं; अपितु पाखंडियों की पाखंड-लीला तथा धूर्तों की चाल-बाज़ी है। इसके अतिरिक्त ईस थ्योरी को ग़लत मानने के अन्य भी कई कारण हैं। एक तो यह कि गोसाईं जी के माता-पिता-सदृश महादरिद्र भिखमंगों के घर बच्चे उत्पन्न होने पर अर्थाभाव के कारण ज्यौतिषी नहीं बुलाए जाते। यदि गोसाईं जी के

जन्म होने पर कोई ज्यौतिषी बुलाया भी गया हो तो, उसने आप की जन्मपत्री के अन्य शुभाशुभ फलों के साथ यह भी भविष्यवाणी अवश्य कही होगी कि यह लड़का एक जगत्-प्रसिद्ध कवि होगा जो अपने यशोरश्मि जाल की धवलिमा से सारे संसार को उद्भासित कर देगा। ऐसे होनहार पुत्र के भरण-पोषण की वेदी पर पुत्र-स्नेह के प्रतिमा भूत माता-पिता अपना तन, मन, धन, सर्वस्व वलिदान कर देने में तनिक भी नहीं हिचकते। पर यदि अपने पुत्र की भावी उन्नति सुनकर भी गोसाईं जी के जननी-जनक ने आप के भरण-पोषण का भार अस्वाकार करते हुए आपको तज दिया तो यह बात विश्वास-योग्य नहीं प्रतीत होती। दूसरी बात यह कि यदि आप का जन्म सचमुच अभुक्तमूल में हुआ तो, यह आवश्यक नहीं था कि आप के माता-पिता आप के परित्याग जैसे नृशंस-कार्य्य करने में ही अपना कल्याण समझें। शास्त्रों में अभुक्तमूल का शान्ति-विधान भी बतलाया गया है। अतः वे अभुक्तमूल की शान्ति भी करवा सकते थे। यदि कहो क वे दरिद्रता के कारण शान्ति नहीं करवा सके तो, यह भी मान लेने की बात नहीं है; कारण कि शास्त्रों ने प्रत्येक स्थिति के मनुष्य के लिए महँगी से महँगी तथा सस्ती से सस्ती विधि बतलाई है। यह तो मैं मानता हूँ कि अभी कुछ काल पहले अन्धविश्वासी हिन्दू अपने सद्यो-जात शिशुओं को किसी मनौती की पूर्त्ति के लिए गंगासागर में फेंक आते थे तथा राजपूताने के राजपूत भविष्य में किसी के साले-ससुर कहलाने की लाज के मारे अपनी सद्योजात पुत्रियों को मार डालते थे, जसे ब्रिटिश-सरकार ने कानून द्वारा बन्द किया। पर गोसाईं जी की जन्म-सम्बन्धी स्थिति ही दूसरी थी। वहाँ शान्ति-विधान का मार्ग खुला हुआ था। उन्हें सद्यो-

जातावस्था में फेंक देने की कुछ भी न विवशता थी, न आवश्यकता थी। तीसरी बात यह कि पिता भले ही सद्योजात पुत्र को तज दे; स्नेहमयी जननी अपने दुधमुँहे बच्चे को अपनी छाती से अलग क्योंकर करे? पिता ज्योतिः शास्त्र की पूर्वोक्त आज्ञा का पालन करने के लिए भले ही कहीं अन्यत्र चला जाए और जब तक बालक आठ वर्ष का न हो जाए, घर न लौटे; पर माता के लिए पुत्र मुख दर्शन शास्त्रों ने तो निषिद्ध नहीं ठहराया। इन सब बातों पर निष्पक्ष होकर विचारने से यही मानना पड़ता है कि गोसाईं जी का अभुक्तमूल में जन्म लेना और उसी कारण माता-पिता द्वारा आप का तजा जाना आप की प्रचलित जीवनी के लेखकों की कोरी कल्पना है। वह सिवाय एक भारी गप्प के और कुछ नहीं। गोसाईं जी के कितने अन्ध-भक्त विनय-पत्रिका के "तज्यो तिजरा कैसो टोटक औचट उलटि न हेरो", इस वचन में, अभुक्तमूल में जन्म लेने के कारण गोसाईं जी के तजे जाने की गन्ध अनुभव करते हैं। पर अभुक्त-मूल वाली थ्योरी का पूर्वोक्त कारणों से समूल उच्छेद हो जाने के कारण इन महाशयों को अभुक्तमूल के स्थान में किसी अन्य वस्तु की गन्ध अनुभव करना चाहता था जिस पर आगे चलकर प्रकाश डाला जाएगा।

अवैध बच्चे ही लोकापवाद के मत से फेंक दिए जाते हैं—हम लोग प्रायः यह सुना करते हैं तथा समाचार-पत्रों में भी लिखा पाते हैं कि अमुक रेलवे लाइन के बगल में, अथवा अमुक नदी के किनारे, अथवा अमुक खेत में एक सद्योजात अनाथ बच्चा फेंका हुआ मिला है। ऐसे अनाथ बच्चों के विषय में जनता की यही धारणा होती है और

वह धारणा निर्मूल नहीं होती कि उस बच्चे को उसके जननी-जनक ने किसी लोकापवाद के भय से फेंक दिया है। पर लोकापवाद का भय तब होता है जब सम्बन्धित जननी-जनक के बीच कोई अवैध सम्बन्ध होता है। क्या गोसाईं जी के जन्म के सम्बन्ध में कोई ऐसा ही रहस्य तो नहीं था ? क्या आप के जननी-जनक ने भी किसी लोकापवाद के भय से ही तो नहीं आप का परित्याग सद्योजातावस्था में कर दिया था ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विचार करते समय समालोचकों को बहुत ही धीरे-धीरे तथा अत्यन्त सावधानी के साथ कदम बढ़ाना चाहिए और ऐसे अनुमान का कुछ भी मूल्य नहीं समझना चाहिए जब तक गोसाईं जी की निजी उक्तियों से इसकी परिपुष्टि न होती हो। अतः प्रिय पाठकवृन्द ! गोसाईं जी के "जायो कुल मंगन" वाले कवितावली के छन्द (उ० का० ७३) पर पुनः विचार कीजिए। उसमें आप लिखते हैं कि "बधावो न बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी जनक को।" पर पुत्र जैसे रत्न की प्राप्ति पर तभी नहीं बधावा बजाया जाता तथा जननी-जनक को तभी पाप का परिताप होता है जब दाल में कुछ काला रहता है। यह बात तो समझ में आ सकती है कि दरिद्रता के कारण बधावा नहीं बजाया गया; यद्यपि यह बात भी बिना ननु नच के नहीं मानी जा सकती; क्योंकि यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि दरिद्र से भी दरिद्र माता-पिता पुत्र के जन्म होने पर अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य बधावा बजाते हैं। पर यदि केवल बधावा का नहीं बजाना ही होता तो कुछ रियायत की जाती। यहाँ पर तो एक दूसरा अड़ंगा भी है जो एक जबर्दस्त अड़ंगा है। वह है गोसाईं जी

के जन्म होने पर आप के माँ-बाप को पाप का परिताप होना। उन लोगों ने कौन सा पाप किया था जिसका

किस पाप का परिताप हुआ ?

उन्हें परिताप हुआ ? क्या दोनों के बीच कोई अवैध सम्बन्ध था ? क्या गोसाईं जी अपने माँ-बाप की अवैध सन्तान थे ? क्या इसी कारण आप के माता-पिता ने आप को कहीं पर फेंक दिया ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल होना बहुत ही ज़रूरी है।

अब देखना यह है कि गोसाईं जी के निजी लेखों से उक्त प्रश्नों के हल करने में कुछ सहायता मिल सकती है कि नहीं। कोई-कोई 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' का यह अर्थ करते हैं कि गोसाईं जी पैदा होते ही अपने माता-पिता के लिए कष्ट और सन्ताप के कारण हो गए; कारण कि भीषण दरिद्रता के कारण वे आप के भरण-पोषण में नितान्त असमर्थ थे, जिससे आप उनके लिए भार-स्वरूप हो गए और इसी से उन्होंने आप को दूसरे के हवाले कर दिया। यही आप का परित्याग है। पर यदि केवल दरिद्रता के ही कारण आप के माता-पिता आप को छोड़े होते तो, गोसाईं जी उनके 'स्वारथ के साथिन तज्यो' में स्वार्थी तथा 'तनु जनेउ कुटिल कीट' में कुटिल नहीं कहकर उनके लिए अपने लेखों में सहानुभूति-सूचक शब्दों का प्रयोग करते। 'औचट उलटि न हेरो' से तो यह भी मालूम होता है कि गोसाईं जी के माता-पिता आप को अत्यन्त उपेक्षा तथा घृणा की दृष्टि से देखते थे। 'स्वारथ के साथिन तज्यो', 'तनु जनेउ कुटिल कीट', 'औचट उलटि न हेरो' आदि वचन एक ऐसे हृदय के उद्गार हैं जो अपने प्रति अपने जननी-जनक के क्रूर तथा नृशंस व्यवहार को याद कर-करके सदा जलता रहता था।

यदि गोसाईं जी के माता-पिता ने आप का जन्म अभुक्तमूल में होने, अथवा स्वयं दरिद्र होने के कारण आप के भरण-पोषण का समुचित प्रबन्ध करते हुए आप को किसी दूसरे की संरक्षकता में रख दिया था, तो फिर आप के हृदय से अपने माता-पिता के प्रति ऐसे कटु उद्गार क्यों निकले ? इस प्रसंग में एक और भी बात विचारणीय है जो कम महत्व का नहीं है। वह यह है कि गोसाईं जी के माता-पिता ने आप के भरण-पोषण के लिए आप को जिस व्यक्ति के हाथ सौंपा होगा उसकी आर्थिक स्थिति अवश्य ही सन्तोष-जनक होगी। वह आप के माँ-बाप की तरह कोई महादरिद्र न होगा तथा वह अपनी जिम्मेदारी भली भाँति समझता होगा। इस दशा में यह समझ में नही आता कि गोसाईं जी ऐसे अभिभावक को पाकर भी दाने-दाने के लिए घर-घर भीख क्यों माँगते फिरे और अपने बाल्यकाल को एक दुःसह दुर्गति में क्यों बिताया, जैसा कि आप के निम्न-लिखित उद्गारों से स्पष्ट है। आप कवितावली में लिखते हैं—

सद्योजात गोसाईं जी किसी अभिभावक को नहीं सौंपे गए

आपकी बाल्यकालीन भीषण दरिद्रता

(च) पातक पीन, कुदारिद दीन, मलीन धरे कथरी करवाहै।
लोक कहे विधिहू न लिख्यो, सपनेहुँ नहीं अपने बरवाहै॥
॥ उ० क० ४६ ॥

अर्थ—मैं पाप से मोटा अर्थात् बड़ा भारी पापी तथा बुरी दरिद्रता के कारण दुःखी हूँ। मेरे पास सिवा एक मैली गुदड़ी के कोई वस्त्र तथा सिवा एक मिट्टी के करवे के कोई जलपात्र नहीं है। लोग कहते हैं कि न तो ब्रह्मा ने ही इसके भाग्य में कुछ लिखा, न स्वप्न में भी इसकी भुजाओं में बल है।

(छ) मातु-पिता जग जाय तज्यो, विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर, कूकर टूकर लागि ललाई॥
॥ उ० का० ५७ ॥

अर्थ पहले कह आया हूँ; उद्धरण (क) देखिए।

(ज) हौं तो जैसो तब तैसो अब, अधमाइ कै कै, भरौं पेट राम रावरोइ गुन गाइकै॥ उ० का० ६१॥

अर्थ—मैं तो जैसा पहले था वैसा ही अब भी हूँ और हे रामचन्द्र! आप के गुण गा-गाकर नीचता से अपना पेट पालता हूँ।

(झ) जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागिवस, खाए टूक सब के, विदित बात दूनी सो॥ उ० का० ७२॥

अर्थ—भूख से आतुर होकर अपनी जाति, अपने से ऊँची जाति, तथा अपने से नीची जाति, अर्थात् जाति-पाँति का विचार छोड़कर, सभी से रोटी के टुकड़े माँग-माँगकर खाए—यह बात संसार जानता है।

(ञ) वारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन जानत हौं चारिफल चारिहि, चनक को॥ उ० का० ७३॥

अर्थ के लिए उद्धरण (ङ) देखिए।

(ट) माँगि के खैवो मजीत को सोइवो, लेबै को एक न देबै को दोऊ॥ उ० का० १०६॥

अर्थ—माँगकर खाना और किसी मसजिद (देवालय) में जाकर सो रहना, यही मेरा काम है। न लेना एक न देना दो, अर्थात् मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है। आप विनय-पत्रिका में लिखते हैं—

(ठ) फिर्यों ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोंहि हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे॥ ३॥
॥ भजन २२७॥

अर्थ के लिए उद्धरण (ख) देखिए।

(ड) द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परी पाहूँ। हैं दयाल दुनि दश दिशा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषण काहू ॥ १ ॥
॥ भजन २७५॥

अर्थ—मैं द्वार-द्वार पर दाँत काढ़कर और लोगों के पैरों पड़-पड़कर अपनी गरीबी कहता फिरा। और दुनिया में ऐसे-ऐसे दया करने वाले हैं जो दशो दिशाओं के दुःख और दोष दूर करने में समर्थ हैं; परन्तु उनमें से किसी ने मेरी बात न पूछी।

इन उद्धरणों में गोसाईं जी ने अपनी दीनता के प्रकाशन के साथ-साथ अपनी दारुण दरिद्रता का नंगा चित्र भी खींच दिया है जिसे देख पाठकों के रोंगटे खड़े हो जात हैं। क्या आप के इन निजी वचनों से यह सिद्ध नहीं होता कि आप किसी अभिभावक के हाथ अपने बाल्य-काल में नहीं सुपुर्द किए गए थे ? क्योंकि यदि आप के माता-पिता ऐसा कुछ प्रबन्ध किए रहते तो आप का बाल्य-काल पाषाण हृदय को भी पिघलाने वाली ऐसी दुर्गति में नहीं व्यतीत होती कि आप को अपनी क्षुधाग्नि को शान्त करने के लिए घर-घर की ठोकरें खानी पड़तीं और एक खाना-बदोश होकर सोने के लिए किसी मसजिद वा देवालय की शरण लेनी पड़ती। अभुक्तमूल की तरह यह अभिभावक वाली थ्योरी भी किसी पागल का प्रलाप मात्र मालूम होती है।

पर गोसाईं जी की जीवनी लिखने वाले विचित्र जन्तु मालूम पड़ते हैं। एक महाशय लिखते हैं कि जब गोसाईं जी के माता-पिता ने आप का जन्म अभुक्तमूल में होने के कारण आप को कहीं पर फेंक दिया तो आस-पास के साधुओं ने आप को अपने स्थान पर ले जाकर और पोस-पालकर बड़ा किया। पता

मिलने पर आप के मामा आप को अपने घर ले गए और दीन-बन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के साथ आपका विवाह कर दिया। मालूम पड़ता है कि मामू साहब इतने दिनों तक भंग के तरंग में थे। भांजा जब पैदा हुआ तो आप को कुछ भी खबर नहीं मिली। जब वह अनाथ की तरह फेंक दिया गया तब भी आप की आँखें नहीं खुलीं। पर जब दूसरों ने उसे पोस-पालकर सयाना किया तो चट आप ने अँगड़ाई ली और अपने भांजे का अभिभावक बनकर उसे साधुओं से छीन लाए। वे इतने काल तक अपन भांजे से क्यों गाफिल रहे, यह मालूम नहीं पड़ता।

परित्याग के अन्य मनगढ़न्त कारण—दूसरे महाशय तो गप्प हाँकने में पहले को भी मात कर देते हैं। वे लिखते हैं कि गोसाईं जी अपनी माता के गर्भ में बारह महीने रहकर उत्पन्न हुए। जन्मकाल में ही आप के मुँह में बत्तीसों दाँत थे और राम नाम का उच्चारण करते हुए ही आप गर्भ के बाहर आए। कहते हैं कि सद्योजातावस्था में ही आप पाँच वर्ष के बालक की तरह हृष्ट-पुष्ट थे तथा आप के जन्म के समय आकाश में शंखध्वनि हो रही थी। बालक के इन कुलक्षणों को देखकर माता-पिता बहुत घबराए और उसे पालने के लिए अपनी दासी की सास के पास भेजवा दिया इत्यादि। गप्पी हो तो ऐसा ही हो कि गप्प हाँकते समय जुबान न लटपटाए! मजा तो तब आता यदि लेखक जी यह भी लिख देते कि गोसाईं जी "मानस" का पाठ करते हुए ही उत्पन्न हुए तथा शंखध्वनि तो मैंने भी अपने कानों से सुनी थी! यदि आकाश में शंखध्वनि हुई तो यह आकाश-वाणी क्यों न हुई कि "अरी हुलसी! तू घबरा मत। इस बालक का लालन किसी दूसरे से न कराकर स्वयं करते। यह

एक जगद्विख्यात महाकवि होगा" ! ऐसी-ऐसी ऊटपटाँग बातों का मूल्य वर्तमान काल में क्या है, इसे पाठकगण भली-भाँति जानते हैं। 'हुलसी' यह गोसाईं जी की माता का नाम बताया जाता है, जो भी केवल एक कपोल-कल्पना है।

आखिर इस बात में अब तनिक भी सन्देह नहीं रह गया कि गोसाईं जी को आपके माता-पिता ने वास्तविक रूप में तज दिया था; पर आप क्यों तजे गए, इस प्रश्न का भी कोई सन्तोष-जनक उत्तर मिलना चाहिए। यदि कहा जाए कि आप अभुक्त-मूल में उत्पन्न होने के कारण तजे गए तो यह उत्तर समीचीन नहीं; कारण कि वहाँ पर मूल-शान्ति तथा गोमुख-प्रसव-शान्ति का द्वार खुला था। और यदि यह कहा जाए कि आप अपने माता-पिता के दारुण दरिद्रता के कारण तजे गए तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इस दशा में गोसाईं जी को अपने माता-पिता की दारिद्र्य-जनित विवशता पर तरस आता और आप उनको स्वार्थी, कुटिल आदि विशेषणों के द्वारा याद नहीं करते। अतः एक निष्पक्ष समालोचक, गोसाईं जी के प्रति सदिच्छा रखते हुए भी, इसी निर्णय पर विवश होकर पहुँचता है कि आप के परित्याग का कारण किसी लोकापवाद का भय ही था जिसका सामना करने में आपके जननी-जनक नितान्त असमर्थ थे।

संसार के कतिपय अन्य महापुरुषों का भी जन्म अवैध रीति से हुआ है

प्रायः देखा गया है कि संसार के कतिपय प्रसिद्ध पुरुषों का जन्म प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष में अवैध रीति से हुआ है। क्या कोई भी नैतिक-साहस-सम्पन्न तथा सत्य का पक्ष लेने वाला मनुष्य अपने हृदय पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि जगद्वन्द्य प्रातः स्मरणीय महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास अपने जनक महर्षि पराशर

और जननी सत्यवती की एक अवैध सन्तान न थे ? पुनः इन्हीं व्यास जी के सुपुत्र भागवत की कथा एक सप्ताह में सुनाकर राजा परीक्षित का बेड़ा पार करने वाले, आबाल ब्रह्मचारी एवं अद्वितीय ब्रह्मज्ञानी श्री शुकदेव जी थे। क्या

व्यास

कोई भी निर्भीकता-पूर्वक सत्य बोलने वाला मनुष्य मुझे यह बतला देने की कृपा कर सकता है कि जिस स्त्री में व्यास जी ने शुकदेव जी को उत्पन्न किया था उस स्त्री के साथ व्यास जी का शुभ विवाह शास्त्रोक्त विधि से कब और कहाँ हुआ था ? और यदि वह नहीं बतला सकता तो यह कठोर सत्य कहने में क्या वह तनिक भी संकोच कर सकता है कि शुकदेव जी भी व्यास जी की एक अवैध ही सन्तान थे ? इसी प्रकार

शुकदेव

महाभारत के प्रसिद्ध धनुर्द्धर कर्ण, कुन्ती और सूर्य के, एक अवैध पुत्र थे। अब प्राचीनों को छोड़कर अर्व्वाचीनों की ओर आइए। जगद्विख्यात अद्वैत-

कर्ण

वाद के प्रवर्त्तक स्वामी शंकराचार्य के जन्म के विषय में हम लोग कैसी-कैसी अफवाहें सुनते हैं ! C. N. Krishnasamy Aiyar, M. A., L. T., Assistant Native College, Coimbatore ने Life And Time of Sankar नामक एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के पृ० १२ में आनन्दगिरि कृत "शंकर-विजय" के आधार पर आप लिखते हैं—We are told that there

शंकराचार्य

was a pious Brahmin living with his wife at this place (Chidambaram), and that at one time the husband retired to a neighbouring forest after renouncing the world, that

the wife continued for a long time to serve the Lord of Chidambaram, and that as reward of her devotion, the Lord was pleased to make her conceive in some mysterious and miraculous manner. And the child thus born to her was Sankar.

अर्थ—हम लोगों से कहा जाता है कि इस स्थान पर (चिदंबरम् में) एक धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मण अपनी स्त्री के साथ रहते थे। काल पाकर वे संसार से विरक्त हुए और एक निकटवर्त्ती बन में चले गए। उनकी स्त्री बहुत काल तक चिदंबरम् के अधिष्ठाता देवता की सेवा करती रही। देवता ने उसकी भक्ति के पुरस्कार-स्वरूप उसे किसी गुप्त तथा करामाती उपाय से गर्भवती बना दिया और इस प्रकार जो बच्चा उत्पन्न हुआ वही शंकर हुआ।

नोट—ब्राह्मण देवता तो संसार से विरक्त होकर बन में चले गए थे। उनके संसार-त्याग के बाद उनकी धर्म्मपत्नी बिना किसी पुरुष के संसर्ग के ही गर्भवती कैसे हो गई, यह समझ में नहीं आता। पाठकगण Mysterious तथा Miraculous शब्दों से अपना जो भाव चाहें, निकाल लें। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहता।

पुनः उक्त पुस्तक के उसी पृष्ठ में पंडित नारायणाचार्य्य कृत "मणि मञ्जरी" के आधार पर लिखा है—The writer of Manimanjari states that a Brahmin widow of Kaladi went astray from the ascetic life imposed upon her and begot a male child, and this child was Sankar. This plain statement, however, is based upon a tradition still current in some parts of Malabar, that

a young widow of Kaladi once went to the temple of Siva along with girls of her own age and that as some among them prayed for children, she also did so, and the Lord granted her request, and that she bore Sankar in consequence.

अर्थ—"मणि मञ्जरी" का लेखक कहता है कि कालडी की एक विधवा ब्राह्मणी तापस-जीवन से, जो उसके लिए विहित था, परिच्युत हो गई और उसने एक पुत्र उत्पन्न किया। यही लड़का शंकर था। इस सीधे-सादे कथन का आधार परम्परागत वह लोक-कथा है जो मालाबार के कुछ भागों में अब तक प्रचलित है। वह लोक-कथा यह है कि कालडी की एक अल्पवयस्क विधवा अपनी ही उमर की अन्य लड़कियों के साथ एक बार शिव के मन्दिर में गई और चूँकि उन लड़कियों में से कुछ ने बच्चों के लिए प्रार्थना की, उसने भी वैसा ही किया और प्रभु ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। परिणाम-स्वरूप उसने शंकर को उत्पन्न किया।

नोट—कोई-कोई कहते हैं कि शंकराचार्य्य अपने पिता के मृत्यूपरान्त जन्मे थे सही; पर वे अवैध सन्तान न थे; कारण कि गर्भाधान उनके पिता के जीवन-काल में ही हुआ था। ऐसी सन्तान को अंग्रेज़ी में Posthumous कहते हैं। यदि सचमुच ऐसी बात थी तो इस उद्धरण में शंकराचार्य्य की माता उक्त विधवा ब्राह्मणी के सम्बन्ध में "went astray from the ascetic life imposed upon her", ऐसा लिखने का क्या अर्थ? क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि वह पतित हो गई थी? इसका जो अर्थ हो, पाठकगण अपना विचार लें।

कबीरदास—महात्मा कबीरदास जी के विषय में कहा जाता है कि वे अपने माता-पिता के द्वारा सद्योजातावस्था में ही कहीं फेंक दिए गए थे। किसी जुलाहे दम्पती ने, जिन्हें कोई अपनी सन्तान न थी, उन्हें अपने घर ले जाकर पाला-पोसा।

ईसामसीह—ईसाई धर्म्म के प्रवर्त्तक महात्मा ईसामसीह कुमारी मरियम (Virgin Mary) के पुत्र थे। मरियम की मँगनी (Betrothal) यूसुफ (Joseph) नामक एक बढ़ई से हुई थी; पर दोनों में अभी विवाह नहीं हुआ था। ईसा मरियम के गर्भ से उसके कौमार्य में ही उत्पन्न हुए थे। इसी कारण उन्हें ईसाई लोग ईश्वर का पुत्र मानते हैं। किसी कुमारी कन्या को बच्चा क्योंकर पैदा हो सकता है; इसका विचार पाठक करें। The New Testament (In Hindi) B. F. B. S. 1929, Printed by K. Mitra, at the Indian Press, Ltd., Allahabad, के मत्ती रचित सुसमाचार, पृ० २ में लिखा है—

"यीशु मसीह का जन्म इस प्रकार से हुआ। जब उसकी माता मरियम की मँगनी यूसुफ से हुई तो उनके इकट्ठे होने से पहले वह पवित्र आत्मा की ओर से गर्भवती पाई गई। सो उसके पति यूसुफ ने जो धर्मी था उसको बदनाम करना न चाहकर उसे चुपके से त्यागने की मनसा की। जब वह इन बातों के सोच ही में था तो प्रभु का स्वर्ग दूत उसे स्वप्न में दिखाई देकर कहने लगा कि हे यूसुफ दाउद के सन्तान तू अपनी पत्नी मरियम को अपने यहाँ लाने से मत डर क्योंकि जो उसके गर्भ में है वह पवित्र आत्मा की ओर से है। वह पुत्र जनेगी और तू उसका नाम यीशू रखना क्योंकि वह अपने लोगों को उनके पापों से छुड़ाएगा। यह सब कुछ इसलिए हुआ कि जो

वचन प्रभु ने नबी के द्वारा कहा था वह पूरा हो कि, देखो कुँवारी गर्भवती होगी और पुत्र जनेगी" इत्यादि।

नोट—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यूसुफ के साथ सहवास करने के पूर्व ही मरियम गर्भवती हो गई और खुद विचारे यूसुफ को भी मालूम न था कि यह गर्भ किस पुरुष का है; क्योंकि तभी तो उसने बदनामी तथा अधर्म के भय से मरियम को छोड़ देना चाहा। फ़िरिश्ते का यह वचन कि 'देखो कँवारी गर्भवती होगी', इससे अधिक टीका-टिप्पणी की ज़रूरत रहने नहीं देता। बिचारा यूसुफ भी अजीब बुद्धू था कि वह 'प्रभु के दूत' के घपले में आ गया और मरियम को अंगीकार कर लिया!

खोज करने पर अन्य भी कितने महापुरुषों का जन्म इसी प्रकार संदिग्ध तथा अवैध रीति से हुआ मिलेगा। इस दशा में यदि गोसाईं जी भी उक्त प्रकार से जन्मे हुए महात्माओं में से ही हों तो, इसमें अचंभे की कौन सी बात है? संसार में किसी भी बात को असंभव नहीं मानना चाहिए, बशर्त्ते कि वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध न हो। इसके अतिरिक्त गोसाईं जी के सम्बन्ध में 'भयो परिताप पाप जननी जनक को', 'तनु जनेउ कुटिल कीट ज्यों', 'स्वारथ के साथिन तज्यो', आदि वचनों से दूसरा कोई परिणाम भी तो नहीं निकलता जो बिना ननु नच किए ग्रहण कर लिया जाए।

'पाप जननी जनक को' में 'पाप' शब्द पापी-अर्थ में 'जननी जनक' का विशेषण भी हो सकता है; जैसे 'पापोऽहं पापकर्म्माहं' में 'पापः' शब्द 'अहम्' शब्द का विशेषण है। पापमस्त्य स्येति पापः (पाप+अर्श आदि भ्योऽच् आकृति गणोऽयम्)। गोसाईं जी के ग्रन्थों में शब्दों का संस्कृतवत्

प्रयोग पाया जाना कोई नवीन या अनोखी बात नहीं है; जैसे राम नमामि नमामि इत्यादि। इस दशा में भी यही ध्वनि निकलती है कि गोसाईं जी के जननी जनक के बीच कोई पापमय सम्बन्ध था।

कोई-कोई 'जायो कुलमंगन' वाले छन्द में 'बधावो न बजायो' की जगह 'बधावनो बजायो' पाठ मानते हैं, जिसका यह अर्थ होता है कि गोसाईं जी के जन्म होने पर बधावा बजाया गया। पर यह पाठ बिल्कुल अस्वाभाविक तथा ऊटपटाँग है जो 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के साथ फिट् नहीं करता; कारण कि जिस सन्तान के जन्म लेने पर माता-पिता को अपने पाप का पछतावा होता हो, या जो सन्तान जन्म लेने पर अपने माता-पिता के लिए कष्ट और सन्ताप का कारण हो गया हो, जैसा कि और लोग मानते हैं, वैसी सन्तान के जन्म होने पर बधावा का बजाया जाना बुद्धि कबूल नहीं करती; अतः 'बधावो न बजायो' यही शुद्ध पाठ है।

गोसाईं जी की जाति—गोसाईं जी के जन्म के सम्बन्ध में इस प्रकार तर्क-वितर्ककर अब आप की जाति पर विचार किया जाता है। कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७३ में, जैसा कि पहले लिख आया हूँ, आप ने अपने को 'जायो कुल मंगन' लिखा है। पुनः विनय-पत्रिका के भजन (छंद) १३५ में आप ने अपने सम्बन्ध में 'दियो सुकुल जन्म' लिखा है, जिसका अर्थ है—भगवान् ने मेरा जन्म उत्तम कुल में दिया है। साधारणतः 'कुल मंगन' तथा 'सुकुल' शब्दों से लोग 'ब्राह्मण-कुल' का अर्थ लेते हैं और इस अर्थ के आधार पर गोसाईं जी को जाति का ब्राह्मण मानते हैं। पर आप की जाति का यथा-संभव पता लगाने के पूर्व हमें कई बातों पर विचार करना

पड़ेगा। प्रथम तो यह कि गोसाईं जी जिस असीम श्रद्धा तथा भक्ति की दृष्टि से, जैसा कि आप के लेखों से विदित होता है, ब्राह्मण जाति को देखते थे, उस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए आप के द्वारा उस जाति के लिए 'मंगन' जैसे एक हीनता-सूचक शब्द का प्रयोग किया जाना मानने योग्य है कि नहीं;

ब्राह्मण जाति मंगन नहीं

द्वितीय यह कि गोसाईं जी सद्योजातावस्था में ही अपने माता-पिता द्वारा तजे गए थे। इस दशा में आप को या किसी अन्य को यह कैसे मालूम हुआ कि आप ब्राह्मण जाति के बच्चे थे, क्योंकि जिस परिस्थिति में आप फेंक दिए गए थे, उस परिस्थिति में आज भी कितने बच्चे फेंक दिए जाते हैं; पर उनकी जाति का पता किसी को भी मालूम नहीं रहता। तृतीय यह कि लोक में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ऐसे अनाथ बच्चे होश सँभालने पर अपनी वही जाति बताते हैं जो उनके पालक की रहती है। निम्नलिखित पंक्तियों में इन्हीं तीनों बातों पर सामूहिक रूप से विचार करते हुए यह दिखाया जाएगा कि गोसाईं जी का पालक कोई मंगन जाति का मनुष्य था जिसके सम्बन्ध से आप ने अपने को भी मंगन लिखा है।

सबसे पहले 'मंगन' शब्द को लीजिए और इस बात पर विचार कीजिए कि गोसाईं जी ब्राह्मण जाति के लिए इस शब्द का प्रयोग कर सकते थे कि नहीं। आप की जिस दिव्य लेखनी ने ब्राह्मण जाति के अतुल महत्त्वप्रख्यापक ये वचन लिख डाले—'बन्दौं प्रथम महीसुर चरणा, मोह जनित संशय सब हरणा'; पूजिए विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना; विप्र वंश की अस प्रभुताई, अभय होय जो तुमहिं डेराई; शापत ताड़त परुष कहन्ता, विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता; फिर वही

लेखनी इस जाति को मंगन-कुल लिखकर इसके सारे महत्त्व पर एकबारगी पानी फेर दे, यह विश्वास में नहीं आता। जिस लेखनी ने इस जाति की प्रशंसा करते-करते इसे सातवें आसमान पर चढ़ा दिया, फिर वही लेखनी इसे भिखमंगों की जाति बना अपने इस एक ही आघात से इसे रसातल में ढकेल दे, यह कब मानने की बात है ? इसके अतिरिक्त मन्वादि शास्त्रकारों ने ब्राह्मणों के जो ६ कर्म (पठन-पाठन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह) लिखे हैं, उनमें भीख माँगना कहीं भी नहीं लिखा। कोषकारों ने भी 'ब्राह्मण' शब्द के विविध पर्यायों में 'याचक' वा 'भिक्षुक' शब्द को सम्मिलित नहीं किया। तब कैसे माना जाए कि 'मंगन-कुल' का अर्थ ब्राह्मण कुल करना गोसाईं जी की ब्राह्मण जाति के प्रति निजी प्रगाढ़ श्रद्धा और असीम भक्ति के अनुकूल, युक्ति युक्त, शास्त्र संगत और कोषानुमोदित है ? वास्तव में ब्राह्मण जैसी अतुल प्रभावशालिनी जाति की शान में 'मंगन' शब्द का प्रयोग करना एक अक्षम्य धार्मिक तथा सामाजिक अपराध है। मुरादाबाद निवासी स्वर्गीय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने 'जाति-भास्कर' नामक वृहद् ग्रन्थ में जिन विविध मंगन जातियों का विवरण लिखा है, उनमें ब्राह्मण जाति का उल्लेख नहीं किया। दिवंगत मिश्र जी ने वहाँ पर केवल अलखनामी, अतीत (अथीथ), अघोरी, जोगी, खाकी आदि विविध प्रकार के मंगनों का ही वर्णन किया है। सचमुच ब्राह्मण जाति को उक्त जातियों का समकक्ष लिख मारना मानों हंस को गृद्धों की पंक्ति में बैठा देना है। उक्त नाना प्रकार के भिखमंगों की जातियों में से हम अपने पाठकों का ध्यान अतीत (अथीथ) नामक मंगन जाति की ओर विशेष रूप से आकर्षित कराना चाहते हैं। फुलेरा (जयपुर) निवासी श्रोत्रिय पं०

छोटेलाल जी शर्म्मा ने अपनी पुस्तक 'जाति-अन्वेषण' प्रथम भाग, पृष्ठ ६५ में '(१६) अतीत' शीर्षक विवरण में अथीथ जाति-विषयक जो टिप्पणी दी है वह देखने योग्य है। यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"यह युक्त प्रदेश की हिन्दू जाति है××××× किसी-किसी विद्वान् ने इस जाति को धार्म्मिक वा साम्प्रदायिक भिक्षु लिखा है××××× ये तो अपने को ब्राह्मण बतलाते हैं, पर ब्राह्मण लोग इससे इनकार करते हैं××××× इन्हीं का एक भेद गुसाईं है, जो गोस्वामी शुद्ध शब्द का बिगड़कर बना है ये लोग गृहस्थी होते हैं।"

पं० छोटेलाल जी के इस विवरण से अब इस गुप्त रहस्य पर प्रचुर प्रकाश पड़ जाता है कि गोसाईं जी ने अपने को मंगन-कुल-जात क्यों लिखा और लोग आप को 'गोसाईं जी' क्यों कहते हैं और साथ-साथ हम लोग एक दृढ़ भूमि पर स्थित इस अनुमान् पर हठात् जा पहुँचते हैं कि चूँकि गोसाईं जी को अति ही अबोध अवस्था में अपने माता-पिता द्वारा तजे जाने के कारण अपनी असली जाति तो मालूम न थी और न अब तक किसी को मालूम है, हो न हो आप का पालक गोसाईं वर्ग का कोई अथीथ मंगन था जिसने कहीं पर फेंके हुए आप को ठीक उसी तरह घर उठा लाया और पाला-पोसा जिस तरह कुन्ती द्वारा फेंके हुए अनाथ कर्ण को अधिरथ ने पाला-पोसा था और जिसकी ही जाति को आप अपनी जाति मानने लगे जैसे आज-कल भी अनाथ बच्चे अपने को अपने पालकों के ही सजाति बतलाते हैं। इस अनुमान की दृढ़ भूमि क्या

अथीथ ही मंगन और गोसाईं हैं

छोटेलाल जी शर्म्मा ने अपनी पुस्तक 'जाति-अन्वेषण' प्रथम भाग, पृष्ठ ६५ में '(१६) अतीत' शीर्षक विवरण में अथीथ जाति-विषयक जो टिप्पणी दी है वह देखने योग्य है। यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए उसका कुछ अंश उद्‌धृत किया जाता है—

"यह युक्त प्रदेश की हिन्दू जाति है × × × × × किसी-किसी विद्वान् ने इस जाति को धार्म्मिक वा साम्प्रदायिक भिक्षु लिखा है × × × × × ये तो अपने को ब्राह्मण बतलाते हैं, पर ब्राह्मण लोग इससे इनकार करते हैं × × × × × इन्हीं का एक भेद गुसाईं है, जो गोस्वामी शुद्ध शब्द का बिगड़कर बना है ये लोग गृहस्थी होते हैं।"

पं० छोटेलाल जी के इस विवरण से अब इस गुप्त रहस्य पर प्रचुर प्रकाश पड़ जाता है कि गोसाईं जी ने अपने को मंगन-कुल-जात क्यों लिखा और लोग आप को 'गोसाईं जी' क्यों कहते हैं और साथ-साथ हम लोग एक दृढ़ भूमि पर स्थित इस अनुमान् पर हठात् जा पहुँचते हैं कि चूँकि गोसाईं जी को अति ही अबोध अवस्था में अपने माता-पिता द्वारा तजे जाने के कारण अपनी असली जाति तो मालूम न थी और न अब तक किसी को मालूम है, हो न हो आप का पालक गोसाईं वर्ग का कोई अथीथ मंगन था जिसने कहीं पर फेंके हुए आप को ठीक उसी तरह घर उठा लाया और पाला-पोसा जिस तरह कुन्ती द्वारा फेंके हुए अनाथ कर्ण को अधिरथ ने पाला-पोसा था और जिसकी ही जाति को आप अपनी जाति मानने लगे जैसे आज-कल भी अनाथ बच्चे अपने को अपने पालकों के ही सजाति बतलाते हैं। इस अनुमान की दृढ़ भूमि क्या

अथीथ ही मंगन और गोसाईं हैं

है, वह पाठकों को बतलाई जाती है। यह सभी मानते हैं कि आप अर्थीथों की तरह, जैसा कि उक्त विवरण से जान पड़ता है, युक्त प्रदेश के रहने वाले थे। उन अर्थीथों की ही तरह आप जनता में स्मरणातीत काल से 'गोसाईं जी' की उपाधि से प्रसिद्ध हैं। आप के ही लेखों से सिद्ध है कि आप भी अर्थीथ बच्चों की तरह अपने बाल्य-काल में घर-घर भीख माँगकर अपना पेट पालते थे। उद्धरण (क), (ख), (ङ), (च), (छ), (ज), (झ), (ञ), (ट), (ठ), और (ड) पर पुनः एक बार दृष्टिपात कीजिए। इन अखंडनीय प्रमाणों तथा प्रबल तर्क शैली के होते हुए भी कौन ऐसा मनुष्य है जो अपने मस्तिष्क में थोड़ी सी भी बुद्धि रखता हुआ गोसाईं जी को ब्राह्मण मानने का हठ करे।

यह आवश्यक नहीं कि 'सुकुल' शब्द से केवल ब्राह्मण का ही अर्थ निकलता है—अब रह गई विनय-पत्रिका की 'दियो सुकुल जन्म' वाली बात। जो लोग यह मान बैठे हैं कि यदि गोसाईं जी ब्राह्मण न रहते तो आप अपने को सुकुल-जन्मा नहीं लिखते, उनसे मेरा यह नम्र निवेदन है कि 'सुकुल' शब्द का अर्थ केवल 'कुलीन' है। इससे किसी जाति-विशेष का बोध नहीं हो सकता। कुलीन-अकुलीन सभी जातियों में हो सकते हैं। जो लोग अर्थीथों को कुलीन कहने में हिचकते हों वे कृपाकर किसी अर्थीथ से इस विषय में बातचीत करने का कष्ट उठावें और देखें कि वह अपने को कुलीन कहता है अथवा अकुलीन। यथार्थ बात तो यह है कि अर्थीथ भी, जैसा कि पं० छोटेलाल जी के उक्त विवरण से स्पष्ट है, अपने को ब्राह्मण अतः कुलीन ही मानते हैं। इस दशा में यदि गोसाईं

जी ने अपने पालक के नाते अपने को सुकुल-जन्मा लिखा तो इसमें कौन सी मार्के की बात है; चाहे आप वा आप का पालक अन्यों की दृष्टि में भले ही ब्राह्मण न हों ? इसके अतिरिक्त यदि आप मंगन थे तो कुलीन नहीं और कुलीन थे तो मंगन नहीं; क्योंकि ये दोनों परस्पर-विरोधी शब्द हैं। और यदि आप अपने को दोनों (मंगन और कुलीन) मानते थे तो आप अवश्य अथीथ थे।

प्रतिग्रह और भीख दो भिन्न वस्तु हैं—कितने लोग ब्राह्मण जाति को मंगन-जाति सिद्ध करने के लिए यह दलील पेश करते हैं कि ब्राह्मणों का जो शास्त्रोक्त प्रतिग्रह-कर्म्म है वही मंगन-कर्म्म का मूलस्रोत है। और युगों में ब्राह्मण वास्तविक ब्राह्मण होते थे; प्रायः प्रतिग्रह-कर्म्म (दान लेने के कर्म्म) का प्रतिपादन वे अपने आश्रमों पर ही करते थे। फिर जैसे-जैसे उनकी दशा गिरती गई, वे क्रमशः दाता के यहाँ जाने और माँगने का भी कर्म्म करने लगे और अपने इस दलील की पुष्टि में वे महाशय महाभारत, भागवत तथा रामायणादि ग्रन्थों से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण पेश करते हैं जिन्होंने ब्राह्मण होकर अथवा ब्राह्मण-वेश धारणकर दूसरों से कुछ माँगा है; जैसे श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन का मगधराज जरासन्ध से ब्राह्मण-वेश में युद्ध माँगना; वामन-रूप-धारी विष्णु का राजा बलि से तीन पग पृथ्वी माँगना; त्रिजट नाम किसी दरिद्र ब्राह्मण का वनगमनोन्मुख रामचन्द्र से सहायता माँगना, इत्यादि। खेद है कि इन उदाहरणों में जो कई बातें विचारणीय हैं उन पर उन महाशयों का ध्यान नहीं जाता।

श्री कृष्णादि और जरासन्ध—श्री कृष्णादिकों ने

ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध से युद्ध माँगा था सही; पर उन लोगों का वह वेश युद्ध माँगने के उद्देश्य से न था; क्योंकि युद्ध माँगना और युद्ध देना ब्राह्मणों का धर्म्म न होकर क्षत्रियों का धर्म्म है; बल्कि अपनी पहचान (Identity) छिपाने के उद्देश्य से था। उन लोगों को भय था कि उन्हें पहचान लेने पर जरासन्ध उन्हें अवश्य फटकार सुनावेगा और सचमुच उन लोगों का परिचय पाने पर उन लोगों को उसने खूब फटकारा भी; क्योंकि श्रीकृष्ण एक बार पहले उसको रण में पीठ दिखा चुके थे और अर्ज्जुन बहुत दिनों तक राजा विराट् के घर वृहन्नला बने थे; पर वीर होने के कारण उसने युद्ध से मुँह नहीं मोड़ा।

वामन और बलि—वामन-रूप धारी विष्णु ब्रह्मचारी का वेश धारणकर राजा बलि से तीन पग पृथ्वी माँगने गए थे। ब्रह्मचारियों और यतियों (सन्यासियों) का भिक्षा माँगना शास्त्र विहित है और यह कर्म्म उनकी जाति से नहीं; बल्कि उनके आश्रम से सम्बन्ध रखता है। प्रतिवादियों को यह सूक्ष्म अन्तर मालूम नहीं होता।

त्रिजट और राम—त्रिजट एक दुरत्यय-तेज-सम्पन्न ब्राह्मण था जो दरिद्रता की भीषण यंत्रणाओं से परिपीड़ित होता हुआ भी जात्याभिमान के कारण किसी से भीख माँग-कर नहीं; बल्कि उञ्छवृत्ति से अपने परिवार का पालन किया करता था। पर जब वह अति वृद्ध होने के कारण स्वकुटुम्ब पालन में असमर्थ हुआ तो उसने रामचन्द्र से सहायता माँगी और उन्होंने भी त्रिजट को असंख्य गौएँ देकर उसकी जीविका का प्रबन्ध कर दिया। अशक्तता की दशा में प्रत्येक प्रजा का, चाहे वह किसी भी जाति का हो, अपने राजा से सहायता

माँगने का पूर्ण अधिकार है। त्रिजट से भी अधिक जात्याभिमानी सुदामा थे जो श्रीकृष्ण के यहाँ अपनी स्त्री से तंग होकर जाने पर भी अपनी ज़ुबान तक न हिलाई और घर लौटते समय बराबर इसी चिन्ता में डूबते-उतराते रहे कि स्त्री के पूछने पर मैं क्या उत्तर दूँगा।

सुदामा और श्रीकृष्ण

ऊपर ब्राह्मणों के वा ब्राह्मण-वेश-धारियों के माँगने के जो उदाहरण दिए गए हैं वे वैयक्तिक हैं। उनका सम्बन्धित व्यक्तियों की जाति-मात्र से कुछ भी सरोकार नहीं। पुराणों में तो ऐसे ब्राह्मणों का भी ज़िक्र आया है जिन्हें तेल-व्यवसायी, मद्य-व्यवसायी, कुसीद (ब्याज) जीवी, भग जीवी आदि कहा गया है, पर केवल इन कुल-कलंकों के आधार पर ब्राह्मण-मात्र को तेली आदि की जाति मान बैठना मूर्खता है। पद्मपुराण में नारद-मान्धाता का सम्वाद पढ़िए, जहाँ अपांक्तेय ब्राह्मणों की सूची दी गई है—

आगारदाही आदि ब्राह्मण—आगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी। सामुद्रिको राजदूत स्तैलिकः कूट-कारकः॥

अर्थ—आग लगाने वाले, विष देने वाले, कुण्डे में खाने वाले, मद्य बेचने वाले, हस्त-रेखा देखने वाले, राजदूत, तेल बेचने वाले और चावल कूटने वाले ब्राह्मण अपांक्तेय हैं। पुनः ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, प्रकृति खण्ड, अध्याय ३१ देखिए—

भगजीवी आदि ब्राह्मण—भगजीवी वार्द्धुषिको, विष हीनो यथोरगः। यः कन्या विक्रयी विप्रो, यो हरे नमिविक्रयी॥

अर्थ—अड्डा खोलकर भड़वाई करने वाले, ब्याज खाने वाले, कन्या बेचने वाले और भगवान् के नाम कागज वा

भोजपत्र पर लिखकर बेचने वाले ब्राह्मण विषहीन साँप की तरह वास्तविक ब्राह्मणत्व से शून्य हैं। वर्त्तमान काल में भी बहुत से गर्ग-गौतम-शांडिल्य-गोत्री ब्राह्मण बाबुओं के घर रसोइए का काम करते हैं; पर इससे हम ब्राह्मण जाति को याचकों की जाति नहीं कह सकते। मन्वादि धर्म्म शास्त्रकारों ने आपत्काल में भी ब्राह्मणों के लिए भिक्षा वृत्ति नहीं लिखी। मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ७५-९४ पढ़िए। ब्राह्मणों के लिए भीख माँगना यहाँ तक निषिद्ध है कि भीख माँगकर पेट पालने वाला ब्राह्मण शूद्र तुल्य माना गया है। यदि कहो कि गोसाईं जी ने केवल अपने ही कुल को मंगन-कुल लिखा है, सब ब्राह्मणों को नहीं, तो 'मंगन' शब्द से उनके कुल की जीविका-मात्र सूचित होती है, न कि जाति। इस दशा में यह नहीं मालूम होता कि उनका कुल किस जाति का था। जीविका और जाति, दोनों दो भिन्न वस्तु हैं। यदि कहो कि गोसाईं जी ने 'कवित विवेक एक नहीं मोरे' की तरह 'जायो कुल मंगन' में अपनी नम्रता दिखाई है तो यह मानने योग्य नहीं कि वे ब्राह्मण होकर अपने व्यक्तित्व के साथ-साथ अपनी जाति को भी नीच कह डालें। दोनों दो बातें हैं। और यदि आप को अपनी नम्रता दिखानी थी तो अपने को 'सुकुल' क्यों लिखा ?

यदि दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार ब्राह्मण-जाति को भी एक मंगन जाति मान लें तो केवल 'कुल मंगन' की सहायता से हमें ठीक-ठीक पता नहीं लगता कि यहाँ ब्राह्मण, अर्थीथ, जोगी आदि विविध मंगन जातियों में से कौन सी मंगन जाति विवक्षित है। इस गुप्त रहस्य को खोलने वाली कुंजी तुलसीदास जी की 'गोसाईं' उपाधि है जो उन्हें अन्य मंगन जातियों में से विलगाकर अर्थीथ जाति में ला रखती है। कोई-कोई वृन्दावन

के गोसाइयों का उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ब्राह्मणों में भी गोसाईं होते हैं; अतः गोसाईं जी भी ब्राह्मण थे। पर वृन्दावन के गोसाईं भट्ट जाति के तैलंगी (दक्षिणी) ब्राह्मण हैं, जिनके अन्तर्गत गोसाईं जी नहीं माने जाते। आप को तो प्रतिवादीगण उत्तर भारत के कान्यकुब्ज आदि ब्राह्मण मानते हैं, जिन में 'गोसाईं' उपाधि होती नहीं। उत्तर भारत में तो केवल अथीथ ही गोसाईं कहे जाते हैं। वृन्दावन के गोसाइयों के विषय में जिन्हें विशेष जानकारी प्राप्त करना हो वे श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्म्मा कृत 'जाति-अन्वेषण', प्रथम भाग, पृ० २५१-२५२ देखें।

वृन्दावन के गुसाईं भिन्न हैं

कितनों का यह कथन है कि इन्द्रियों को अपने वश में कर लेने के कारण तत्कालीन जनता ने तुलसीदास को 'गोस्वामी' (गो=इन्द्रिय; स्वामी=अधिपति) की उपाधि से विभूषित किया था, जिसका अपभ्रंश 'गोसाईं' है। यदि सचमुच यही बात है, तो शंकराचार्य्य, रामानुज, रामानन्द आदि महात्मागण को स्व-स्व-कालीन जनता से 'गोस्वामी' की उपाधि क्यों नहीं मिली ? अथवा कम से कम महात्मा सूरदास जी, जो गोसाईं जी के ही समकालीन थे, तथा जिनमें और गोसाईं जी में 'सूर' (सूर्य) और 'शशी' (चन्द्र) का अन्तर अब भी माना जाता है, उक्त उपाधि से वंचित क्यों रह गए ? तुलसीदास जी में इन महात्माओं से बढ़कर कौन सी विशेषता थी; गोसाईं जी में कौन सा सुर्खाब का पर लगा हुआ था कि केवल वे ही इस (गोस्वामी) डिग्री के योग्य समझे गए तथा अन्य महात्मागण नालायक समझकर

अन्य महात्मागण 'गोसाईं' क्यों नहीं कहलाए ?

छाँट दिए गए ? उनको यह ऑनरेरी टाइटिल (Honorary Title) क्यों नहीं मिली ? वे भी तुलसीदास जी की तरह 'गोसाईं जी' क्यों नहीं कहे जाते ? इसका केवल यही उत्तर है कि उक्त महात्मागण को तत्रत्कालीन जनता अर्थीथ नहीं समझती थी और न वे अर्थीथ थे ही, परगोसाईं जी अर्थीथ समझे जाते थे; अतः अर्थीथों की जातीय उपाधि 'गोसाईं' से आप पुकारे जाते थे। सारांश यह कि आप को 'गोसाईं' उपाधि अर्थीथ समझे जाने के कारण, न कि इन्द्रियों को अपने वश में रखने के कारण, मिली थी।

गोसाईं जी का समकालीन जनता की दृष्टि में, स्थान

गोसाईं जी स्वकालीन जनता की दृष्टि में कौन सा स्थान रखते थे, यह आप के श्रीमुख से ही सुन लीजिए। विनय-पत्रिका के पन्ने उलटिए और भजन ७६ पर दृष्टिपात कीजिए--

(ढ) लोक कहैं पोचु सोन सोच न संकोच मेरे, व्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे, प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥ ४॥

अर्थ--लोग मुझे नीच कहते हैं; पर इसकी न मुझे चिन्ता है, न मुझे लाज है; क्योंकि मैं अपना विवाह-बरैछा तथा जाति-पाँति नहीं चाहता। तुलसीदास कहते हैं कि मेरा नफ़ा-नुकसान रामजी की ही प्रसन्नता-अप्रसन्नता से है। मुझे अपने प्रेम पर विश्वास है; अतः मन में प्रसन्न रहता हूँ। इससे स्पष्ट है कि गोसाईं जी की तत्कालीन जनता एक ओछी निगाह से देखती थी और आप यही कहकर ऊपर के मन से सब्र कर लेते थे कि मुझे न ब्याह-शादी करनी है और न मुझे जाति-पाँति का ही परवाह है। ऊपर के मन से इसलिए कहा कि आप मन ही

मन लोगों से इस दुर्व्यवहार के कारण चिढ़े रहते थे जैसा कि आगे चलकर दिखलाया जाएगा। विवाहादि से आप की यह उपेक्षा केवल 'खट्टे अंगूर कौन खाए' की तरह थी।

पूर्व में कह आया हूँ कि गोसाईं जी सद्योजातावस्था में ही अपने माता-पिता द्वारा फेंक दिए गए थे; अतः न आप को और न तत्कालीन जनता को ही आप की जाति-पाँति तथा गोत्र का ज्ञान था। वह सदा आप के विरुद्ध अंड-बंड बका करती थी; उसका आप को 'गोस्वामी' (इन्द्रियों को वश में रखने वाला) उपाधि का प्रदान करना तो दूर रहा। कविता-वली, उत्तर काण्ड, पुनः देखिए—

(ण) धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कह कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहव, काहू की जाति बिगारन सोऊ॥१०६॥

अर्थ—कोई मुझे चाहे धूर्त्त (ठग, पाखंडी आदि) कहे; चाहे जोगी (भिखमंगा) कहे; चाहे रजपूत कहे; चाहे जुलाहा कहे; मुझे कुछ भी परवाह नहीं। मुझे कुछ अपने बेटे की शादी किसी की लड़की के साथ नहीं करनी है। न मैं अपने संसर्ग से किसी की जाति ही बिगाड़ना चाहता हूँ।

(त) मेरे न जाति-पाँति न चाहौं काहू की जाति-पाँति, मेरे कोऊ काम कौ न हौं काहू के काम कौ।
× × × × × अति ही अयाने उपरवानो नहिं बूझे लोग,
साहेब के गोत-गोत होत है गुलाम कौ॥१०७॥

अर्थ—मेरी जाति-पाँति नहीं है, न मैं किसी की जाति-पाँति चाहता हूँ। न कोई मेरे काम का है, न मैं ही किसी के काम का हूँ। × × × × × लोग अत्यन्त मूर्ख हैं जो इस कहावत को नहीं जानते कि जो गोत्र स्वामी का होता है वही गोत्र सेवक का भी होता है।

इन दोनों उद्धरणों ने तो एक पूर्णतः मालिन्य-मुक्त आइने की तरह इस बात को साफ़-साफ़ झलका दिया कि गोसाईं जी की समकालीन जनता को आप की जाति तथा गोत्र का कुछ भी पता न था और वह आप की जाति के विषय में नाना प्रकार की अटकलें लगाया करती थी तथा स्वयं आप भी अपनी जाति तथा गोत्र की जानकारी नहीं रखते थे। जाति और गोत्र विषयक प्रश्न उठने पर आप लोगों से बारबार यही कहकर अपना पिंड छुड़ाने तथा इस प्रश्न को टाल देने का प्रयत्न करते थे कि मुझे जाति-पाँति से कुछ मतलब नहीं है; क्योंकि मुझे किसी के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नहीं है और जब मैं रामचन्द्र का दास बन गया तो जो उनका गोत्र है वही मेरा भी गोत्र है। गोत्र पूछने वालों पर तो वे झल्ला उठते और उन्हें 'अयाने' (मूर्ख) कहकर ही उनका मुँह बन्द कर देने का प्रयत्न करते थे। इस विषय में जबाला-पुत्र सत्य-काम तुलसीदास से कहीं बढ़कर शुद्ध हृदय का था, क्योंकि महर्षि गौतम द्वारा गोत्र पूछे जाने पर उसने साफ़ कह दिया कि मुझे अपना गोत्र मालूम नहीं। गोसाईं जी की तरह महर्षि को मूर्ख कहकर उसने गोत्र-विषयक प्रश्न से अपना पिंड नहीं छुड़ाना चाहा। जान पड़ता है कि गोसाईं जी की समकालीन जनता आप के विषय में जाति और गोत्र का प्रश्न छेड़कर आप के पीछे पड़ गई थी और बेचारे आप इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देने का साहस न रखकर भागे फ़िरते थे। दाल में बिना कुछ काला रहे ऐसी नौबत नहीं पहुँच सकती। मान लिया कि जब गोसाईं जी साधु हो गए तो आप अन्य वैष्णवों की तरह 'अच्युत गोत्र' में जा मिले। पर यह तो आप का साम्प्रदायिक गोत्र हुआ। यदि आप ब्राह्मण थे तो आप का आर्ष गोत्र क्या

था जिसमें आप उत्पन्न हुए थे ? यथार्थ बात तो यह है कि जब आप को अपनी जाति ही लामालूम थी तो आप के गोत्र का ठिकाना क्या ? 'अच्युत गोत्र' की कुछ भी विशेषता नहीं; शूद्र वैष्णव साधु भी अपना यही गोत्र बतलाते हैं।

प्रिय पाठकवृन्द ! 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटाग बस' वाले कवितावली के छन्द (उ० का० ७२) को फिर एक बार हाथ में लीजिए और उस पर करामाती शीशे की तरह दृष्टि जमाकर देखिए तो आपको एक अजीब गुल खिलना सा दीख पड़ेगा। इस गुल का केन्द्र 'सुजाति के' शब्द है जिसके सामने गोसाईं जी को ब्राह्मण मानने वाले हठियों का चिराग एकदम गुल हो जाता है। इस छन्द में गोसाईं जी ने निःशेष जातियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है—(१) ली श्रेणी तो उन लोगों की है जो अपनी बिरादरी के हैं, चाहे वे जो हों; (२) री श्रेणी में वे लोग रखे गए हैं जो जाति में गोसाईं जी से ऊँचे है और (३) री श्रेणी उन लोगों की हैं जो जाति में गोसाईं जी से नीचे हैं। कवितावली के सभी टीकाकारों ने उक्त तीनों शब्दों के ये ही अर्थ किये हैं। इससे साफ यही ध्वनि निकलती है कि गोसाईं जी ब्राह्मण न होकर ब्राह्मण से किसी नीची जाति के थे; क्योंकि यदि आप ब्राह्मण होते तो ब्राह्मण से किसी भी जाति की ऊँची नहीं होने के कारण, अपने से 'सुजाति का' ऐसा कथन नहीं बनता। गोसाईं जी को बिना अ-ब्राह्मण माने जाति, सुजाति और कुजाति की पारस्परिक तुलना नहीं हो सकती और न उनका एक सिलसिले में प्रयोग ही सार्थक हो सकता है। गोसाईं जी के श्रीमुख से ही सिद्ध

'सुजाति' शब्द के प्रयोग से गोसाईं जी का ब्राह्मण न होना सूचित होता है

हो गया कि जाति आप की चाहे जो हो, कम से कम ब्राह्मण तो आप अवश्य न थे। यदि कहो कि अन्य जातियों की तरह ब्राह्मण जाति में भी कुछ ऊँची और कुछ नीची श्रेणी के लोग होते हैं। सो तो ठीक है; पर हमारा यह प्रतिदिन का अनुभव है कि किसी भी श्रेणी का ब्राह्मण अपने से भिन्न श्रेणी वालों को कभी भी ऊँचा नहीं मानता; नीचा भले ही मान ले। इसके अतिरिक्त यहाँ पर जातियों की तुलना है; न कि किसी एक जाति के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न श्रेणियों की है।

गोसाईं जी का तथाकथित विवाह—गोस्वामी जी की जाति पर इस प्रकार विचारकर अब आपका विवाह हुआ कि नहीं, इस बात पर विचार किया जाता है। इस प्रसंग में सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि गोसाईं जी बाल्य-काल का नाम 'रामबोला' था। विनय-पत्रिका के पन्ने उलटिए—

राम के गुलाम नाम रामबोला राख्यौ राम काम यहै नाम द्वै हौं
कबहूँ कहत हौं ॥ भजन ७६ ॥

अर्थ—मैं राम का गुलाम हूँ। लोगों ने मेरा नाम रामबोला रखा है और मैं राम जी का यही काम करता हूँ कि कभी-कभी नाम के दो अक्षर कह लेता हूँ।

पुनः कवितावली देखिए—

रामबोला नाम हौं गुलाम राम-साहि को ॥ १०० ॥

अर्थ—मेरा नाम रामबोला है और मैं प्रभु रामचन्द्र का सेवक हूँ।

गोसाईं जी के लेखों से इस बात का पता नहीं चलता कि आप का नाम 'रामबोला' किसने रखा। जान पड़ता है कि जब

आप अन्य अथीथ बालकों की हाथ में एक तारा और करताल लेकर रामचन्द्र विषयक भजन गाते हुए दर-दर भीख माँगते फिरते थे तभी जनता ने आप का नाम 'रामबोला', अर्थात् 'राम-राम बोलने वाला' रख दिया। आज-कल भी लोग अनाथ तथा अज्ञात कुल शील छोकरों को प्रायः रमचेलवा, रामजन्य आदि हेय नामों से पुकारा करते हैं।

अब विवाह-विषयक वार्त्ता पर आइए। गोसाईं जी कृत सभी ग्रन्थों को ध्यानपूर्वक पढ़ जाइए; आप को आप का समूचा जीवन-काल केवल दो ही, न कि दो से कभी भी अधिक, विभागों में बँटा हुआ मिलेगा—(१) बाल्य-काल और (२) वैराग्य-काल। आप को आप के जीवन में 'गार्हस्थ्य-काल' कभी भी दृष्टि-गोचर न होगा। आप का बाल्य-काल जिस भीषण परिस्थिति में व्यतीत हुआ था उसका सच्चा चित्र आप के ही लेखों के आधार पर पूर्व में खींच आया हूँ। उद्धरण (क) से लेकर (ड) तक को पुनः एक बार देख जाइए। अहो! दारुण दरिद्रता का कैसा हृदय-विदारक चित्र है! राम बोला के पास केवल एक मैली फटी गुदड़ी तथा मिट्टी के एक कोरवे के सिवाय और कुछ नहीं! वह माता-पिता से परित्यक्त तथा घरद्वार से भी रहित हो और जाति-पाँति का विचार छोड़कर, घर-घर का जूठन खाता हुआ एक कुत्ते की तरह अपना पेट पालता है! उसकी जाति के विषय में जनता सदा सन्दिग्ध रहती है और जहाँ-तहाँ से वह फटकारा जाता है! भला कौन ऐसा मूर्ख पिता होगा जो अपनी कन्या का पाणिग्रहण रामबोला जैसे वर से करवाकर उसे जीते जी भाड़ में झोंक दे! पर आश्चर्य तो इस बात पर है कि ऐसी भी घोर

बाल्य-काल में विवाह असंभव

दरिद्रता की यंत्रणा से परिपीड़ित, अज्ञात कुलशील, खानाबदोश तथा जाति-पाँति से बहिष्कृत रामबोला के गले में, उसके जीवन-चरित के लिखने वालों में से किसी ने एक, तो किसी ने तीन स्त्रियों के ढोल बाँध दिए। किसी ने उसको तारक नामक एक पुत्र भी उत्पन्न करवा दिया तो किसी ने उसको ६०००) रुपयों का दहेज भी दिलवा दिया। कपोल कल्पना की कैसी लम्बी-छलाँग है! चण्डूखाने का कैसा भयंकर गप्प है, जिसे मानव-बुद्धि कबूल करने को हरगिज़ तैयार नहीं! पर जिन लेखक बहादुरों की करामाती लेखनी गोसाईं जी को एक प्रेत की सहायता से सर्वथा असंभव तथा अविश्वास योग्य साक्षात् हनूमान् और रामचन्द्र से मुलाकात करा सकती है; मृतक को जीवित कर सकती है, लड़की को लड़का बना सकती है; पाषण-निर्म्मित वृषभ-मूर्ति से भोजन जिमवा सकती है; गोसाईं जी की झोपड़ी पर रामचन्द्र का पहरा बैठा सकती है, वे जो न ग़जब ढाह दें सो थोड़ा है! उनके लिए गोसाईं जी का विवाह करा देना कौन सी बड़ी बात है! चोट्टों को खूब पहचानते हैं थाने वाले; पानी में भी आग लगा देते हैं आग लगाने वाले।

गोसाईं जी के बाल्य-काल में आप की घोर दरिद्रता, संदिग्ध जातिता आदि विविध कारणों से आप के विवाह होने की असंभवता इस प्रकार देखकर अब आप के वैराग्य-काल में आता हूँ। इस काल में आप का विवाह हुआ मानना केवल और भी असंभव होने के साथ-साथ हास्य-जनक ही नहीं है; बल्कि आप के निजी लेखों के विरुद्ध होने के कारण निरी मूर्खता है; क्योंकि आप ने तो अपने वैराग्य-काल में अपने श्रीमुख से ही यह कहकर कि 'ब्याह न बरेखी

वैराग्य-काल में विवाह स्वलेख विरुद्ध

जाति-पाँति न चहत हौं' अन्वेषक-गण को इस विषय में अधिक जाँच-पड़ताल करने की परेशानी से मुक्त कर दिया है।

पूर्व में कह आया हूँ कि गोसाईं जी का सारा जीवन-काल आप के लेखों के आधार पर केवल बाल्य-काल और वैराग्य-काल, इन्हीं दो कालों में ही विभक्त मिलता है; किसी अन्य तीसरे काल में नहीं। पर कोई-कोई विनय-पत्रिका के निम्नोद्धृत वचनों में आप के गार्हस्थ्य-काल की भी गन्ध अनुभव करते हैं—

गार्हस्थ्य-काल का अभाव

'यौवन युवति सँग रँग रात्यो। तब तू महा मोह मद मात्यो॥
ताते तजी धर्म्म मर्यादा। विसरे तब सब प्रथम त्रिषादा॥'७॥
भजन॥ १३६॥

अर्थ—हे जीव! जब तू जवानी में युवती स्त्री के साथ विषय-वासना के रंग में रंग गया तब तू बड़े मोह और मद में मतवाला हो गया। और उससे तूने धर्म्म की मर्यादा छोड़ दी और तेरा सारा पहला दुःख भूल गया।

पर यदि इस वचन से गोसाईं जी के विवाह होने का अनुमान किया जाए तो आगे के वचन से आप के लम्पट और परधन लोलुप होने का भी अनुमान किया जाएगा, जो आप के साथ घोर अन्याय होगा—

'यौवन युवति' आदि वचन वैयक्तिक नहीं; बल्कि जीवमात्र के लिए हैं

'परदार परधन द्रोह पर संसार बाढ़ै नित नयो॥७॥ भजन॥१३६॥

अर्थ—पराई स्त्री, पराया धन और दूसरों से बैर, ये ही नित्य इस संसार में बढ़ते हुए। पर गोसाईं जी के ये सभी वचन, जैसा कि समूचे भजन १३६ के अध्ययन से स्पष्ट है, खास तौर से अपने व किसी अन्य व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं;

प्रत्युत संसारी जीव-मात्र के लिए कहे गए हैं, जो रामचन्द्र की भक्ति से विमुख होने के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते और बाल्य, यौवन तथा वार्द्धक्य को प्राप्त होते हुए बार-बार जन्म लेने और मरने के संकट को भोगते चले आ रहे हैं। ठीक यही आशय गोसाईं जी ने भजन ८३ में भी दिखलाया है। यदि इसका अभिप्राय गोसाईं जी-परक माना जाए तो कहना पड़ेगा कि आप जवानी में बड़े स्त्री-लोलुप थे तथा बीच की उम्र को आप ने धनोपार्ज्जन के लिए खेती, वनिज-व्यापार आदि विविध उपायों के करने में बिताया था—

'लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुने चाय।
यौवन ज्वर युवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥२॥
मध्यम वयस धन हेतु गँवाई कृषि वनिज नाना उपाय।
राम विमुख सुख लह्यो न सपनेहु निशिवासर तपो तिहुँ ताय' ॥३॥
भजन ॥८३॥

अर्थ—लड़कपन तो अज्ञान में बीत गया। उस समय चित्त में चौगुनी चंचलता और खुशी थी। जब युवावस्थारूपी ज्वर चढ़ा तो स्त्री-सेवन-रूपी कुपथ्य और कामरूपी वायु से भारी त्रिदोष हो गया ॥२॥ बीच की उम्र धन के लिए खेती, वनिज-व्यापार आदि विविध उपायों में बिताई। पर राम जी से विमुख होने के कारण सपने में भी सुख नहीं पाया और रात-दिन तीनों तापों से तपता रहा ॥३॥ पुनः भजन ८२ देखिए—

'नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥२॥
पर निन्दा सुनि श्रवण मलिन भए वचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरण विसराए' ॥३॥

अर्थ—पराई स्त्री को देखने से नेत्र मलिन हो गए। विषयों में फँसने से मन मलिन हो गया। वासना, मान और मद से हृदय मलिन हो गया और जीव अपने स्वाभाविक सुख (आत्म-स्वरूप) को त्यागने से मलिन हो गया ॥२॥ पराई निन्दा सुनते-सुनते कान मैले हो गए। दूसरों के दोष बार-बार कहने से वचन मैला हो गया। स्वामी के चरणों को भूल जाने से ये सब प्रकार के मल-भार मेरे पीछे लगे फिरते हैं ॥३॥ यदि इस भजन का भी अर्थ गोसाईं जी-परक करोगे तो इससे यह सिद्ध होगा कि आप पराई स्त्री की ओर ताकने वाले (पर स्त्री लोलुप), दूसरों की निन्दा करने तथा सुनने वाले थे। पर सो बात नहीं है। ये सभी भजन, जैसा कि पूर्व में मैं कह आया हूँ, किसी व्यक्ति-विशेष के लिए न होकर, संसारी जीव-मात्र के लिए हैं तथा गोसाईं जी के साथ कुछ भी वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं रखते। इन भजनों के द्वारा केवल वही दिखलाया गया है जो संसारी-माया-लिप्त जन प्रायः किया करते हैं और इन्हीं के द्वारा गोसाईं जी अपने मन को सावधान करते हुए रामभक्ति की ओर प्रेरित करने की चेष्टा करते हैं।

गोसाईं जी और स्त्री जाति—गोसाईं जी के विवाह नहीं होने के पूर्वोक्ति विविध कारणों को दिखलाकर अब एक सबसे ज़बर्दस्त कारण को अपने पाठकों के विचारार्थ पेश करता हूँ। 'रामचरित मानस' के अध्ययन से पता चलता है कि आप को स्त्री जाति के प्रति एक घोर स्वाभाविक घृणा थी जिससे विवश होकर आप, जब कभी मौका मिला, स्त्री जाति की निन्दा करने से बाज नहीं आये। आप की इस कुत्सित मनोवृत्ति पर पूरा प्रकाश आगे चलकर 'मानस के दोष'—शीर्षक पञ्चम परिच्छेद में डाला जायगा; तब तक पाठकों की

सुविधा के लिए उसका यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन करा देना अप्रासंगिक न होगा। सीता-अनसूया सम्वाद में "सहज अपावन नारि' लिखकर आप ने समग्र नारी जाति पर एक स्वाभाविक अपवित्रता (Natural Impurity) की छाप लगा दी है। रामचन्द्र-कृति समुद्र-निग्रह प्रसंग में 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी; ये सब ताड़न के अधिकारी' लिखकर आपने स्त्रियों को गधे आदि पशुओं की तरह खूब पीट-पाटकर सीधी रखने की नेक सलाह दी है। शूर्पणखा की नाक काटने के प्रसंग में 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी', फ़रमाकर आप ने नारी मात्र को महा घृणित पुंश्चली सिद्ध करने की कुचेष्टा की है। आरण्य-काण्ड के अन्त में नारद जी को उपदेश देते समय श्री रामचन्द्र जी के मुख से गोसाईं जी ने 'सुनु मुनि कह पुराण श्रुति सन्ता, मोह विपिन कर नारि बसन्ता' आदि कहलाकर मानो स्त्री-निन्दा का खजाना ही खोल दिया है। यदि भाग्यवश कहीं पर आपने सीता कौशल्या आदि स्त्रियों की प्रसंशा भी की है तो वह केवल अपवाद मात्र और वैयक्तिक है, जिससे आपके स्त्री जाति-विषयक निन्दात्मक सिद्धान्त में कुछ भी त्रुटि नहीं आती। अतः गोसाईं जी की नारी जाति के प्रति इस दृढ़ बद्ध मूल द्वेषात्मक धारणा को देखते हुए यह बात काबिल कयास के नहीं मालूम होती कि आप ने कभी भी किसी स्त्री का पाणि-ग्रहणकर उसे अपनी सहधर्मिणी बनाई होगी। आप को अविवाहित रह कर विरक्त हुआ ही मानना अधिक युक्तियुक्त और तर्क-संगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त गोसाईं जी की प्रचलित जीवनी के लेखक कहते हैं कि आप को अपनी स्त्री के ही उपदेश से ज्ञान

गोसाईं जी कृत स्त्री निन्दा सैद्धान्तिक है

सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस गुप्त रहस्य को 'रामचरितमानस' खोलकर हमारी सहायता करता है। किष्किन्धा काण्ड का पहला सोरठा पढ़िए—

'मुक्ति जन्म-महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानिकर।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न'॥

अर्थ—मोक्ष और (मेरे) जन्म की भूमि, ज्ञान की खान और पापों का संहार करने वाली जो काशी पुरी है, जहाँ शिव और पार्व्वती निवास करते हैं, उसकी सेवा क्यों न की जाए? अर्थात् उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए।

इस सोरठे में 'मुक्ति-जन्म-महि' का अर्थ है मोक्ष और (मेरे) जन्म की भूमि, न कि मोक्ष की जन्म-भूमि। जन्म और मरण से निवृत्त हो जाने का ही नाम मुक्ति है; तो फिर मुक्ति का जन्म-मरण कैसा? यदि मुक्ति जन्म लेती है तो वह मरती भी ज़रूर होगी। काशी तो उसकी जन्म-भूमि हुई; पर उसकी मरण-भूमि कहाँ है? क्या मुक्ति कोई प्राणी है जो जन्म लेती और मरती है? इस तर्क शैली से स्पष्ट हो जाता है कि 'मुक्ति-जन्म' में द्वन्द्व समास (मुक्ति और जन्म) है, नकि षष्ठी तत्पुरुष समास (मुक्ति का जन्म) है जैसा कि भूल से लोग माना करते हैं। उक्त दोनों उद्धरणों (विनयपत्रिका का 'दियो सुकुल जन्म' वाला भजन तथा रामचरितमानस का 'मुक्ति-जन्म-महि' वाला सोरठा) को एक में मिलाकर पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोसाईं जी का जन्म-स्थान गंगा जी के समीप अर्थात् गंगा जी के तट पर काशी पुरी थी। काशी जी तथा इसके आस-पास के स्थानों में भीख माँग-माँगकर आप ने अपना बाल्य काल बिताया। इसके बाद गुरु से भेंट

हो जाने पर आप ने शिक्षा प्राप्त की जिससे उनके हृदय में राम-भक्ति की जड़ खूब जम गई। फिर बाराह क्षेत्र, अयोध्या, चित्रकूट आदि स्थानों में घूमते रहे। पर जब कहीं पर आप को शान्ति नहीं मिली तो फिर काशी में आकर रहने लगे।

काशी वालों की दृष्टि में गोसाईं जी का मूल्य—

गोसाईं जी काशी में तो आकर रहने लगे; पर काशी वालों ने, आप के प्रति कुछ भी श्रद्धा-भक्ति न दिखाकर, इसके विपरीत आप को विविध प्रकार से कष्ट देना शुरू किया, जिससे आप को कुछ काल के लिए काशी छोड़कर चला जाना पड़ा। कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १६५, पढ़िए—

'देव सरिसेवौं वामदेव गाउँ रावरे ही, नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं। दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक, लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं। एते परहू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै, ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं। पाइ के उराहनो, उराहना न दीजै मोहिं कल-कला काशी-नाथ कहे निबरत हौं ॥ १६५ ॥

अर्थ—हे शिव जी, मैं आप के गाँव काशी में ही गंगा का सेवन करता हूँ, और रामचन्द्र के नाम से भीख माँग कर पेट पालता हूँ। तुलसीदास कहते हैं कि अगर मुझे किसी को देने की योग्यता नहीं है तो मैं किसी से कुछ लेता भी तो नहीं हूँ। और अगर मेरे भाग्य में किसी की भलाई करना नहीं लिखा है तो मैं किसी की बुराई भी तो नहीं करता। इतने पर भी अगर आप का कोई भक्त मुझे कष्ट दे तो हे देव! मैं दीन होकर आप के ही पास उसका कष्ट देना निवेदन किए देता हूँ। यह उलाहना मैं आप को इसलिए देता हूँ कि इसे पाकर आप यह नहीं कहने पाएँगे कि तुमने मुझसे क्यों नहीं कहा। अतः हे

काशीनाथ ! मैं कलि-काल की इस करनी को आप की सेवा में निवेदनकर अपनी जवाबदेही से निवृत्त हो जाता हूँ अर्थात् छुटकारा पा जाता हूँ।

पर क्या कारण है कि काशी वालों ने आप को इतना तंग किया कि आप को काशी से भागना ही पड़ा। कारण ढूँढ़ने के लिए कहीं दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'ओल्ती तले का भूत सात पुश्त का नाम जाने'। मैं गोसाईं जी के लेखों के आधार पर पूर्व में कह आया हूं कि आप का जन्म बनारस-भूमि में कहीं पर हुआ था और आप ने अपने बाल्य-काल को 'रामबोला' के नाम से वहाँ के अथीथ-बालकों की तरह दर-दर भीख माँगकर अपना पेट पालते हुए बिताया था। अतः काशी वालों को आप की जन्म कहानी तथा आप का हेय प्रारंभिक जीवन काल बखूबी मालूम थे। पर घर-घर का टुकड़ा खाने वाला वही 'राम बोला' अब अपना नाम 'तुलसीदास' रखकर और एक महात्मा बन जाने का स्वाँग रचकर, उन्हीं 'ओल्ती तले के भूतों' के ऊपर अपनी महात्मा-गरी की धाक जमाने आया, जो उनके लिए असह्य हो गया। काशी की जनता न ऐसी है और न कभी ऐसी थी कि कोई जाना हुआ व्यक्ति उस पर सहसा रोब गाँठ सके। सारांश यह कि गोसाईं जी स्वकालीन जनता की दृष्टि में कभी भी प्रतिष्ठा के पात्र नहीं रहे। वह आप की जाति-पाँति के विषय में सदा संदिग्ध रहती थी तथा आप को पोच, धूर्त्त अजाति आदि कहा करती थी। पर मज़ा तो यह कि आप-विषयक जिन बातों का ज्ञान आप की समकालीन जनता को न था, कुरान की आयतों की तरह उनका इलहाम ३०० वर्षों के बाद आपके जीवन-चरित-लेखक सरीखे पैगम्बरों पर हो गया ! न मालूम खोदा के

इन दूतों को कैसे मालूम हुआ कि तुलसीदास की जन्म-भूमि बाँदा ज़िलान्तर्गत यमुना तटस्थ राजापुर थी। आप जाति के ब्राह्मण थे तथा आप के पिता का नाम आत्माराम दूबे तथा आप की माता का नाम हुलसी था इत्यादि। यदि कहो कि किसी मनुष्य के परिचय प्राप्त करने के लिए तत्कालीन जनता उतना उत्सुक नहीं देख पड़ती, जितना कि बाद को; कारण कि उसकी कीर्त्ति अपने समय में इतना विकसित नहीं होने पाती कि जितना कि वह आगे चलकर होती है। फल यह होता है कि पहले के लोगों की अपेक्षा बाद के लोग अधिक छान-बीन तथा अनुसन्धान आदि करते हैं जिससे वे सम्बन्धित व्यक्ति विषयक अधिक जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। पर ऐसी जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें सुदृढ़ आधार मिलने चाहिए जिन पर उठाई हुई उक्त जानकारी की इमारत टिक सके। किन्तु गोसाईं जी की प्रचलित जीवनी जिन ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई है वे स्वयं बालू की दीवारें हैं जिन पर कोई भी सुदृढ़ इमारत बन नहीं सकती। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

गोसाईं जी की प्रचलित जीवनी के आधार

(१) महात्मा वेणी माधवदास जी कृत—'गोसाईं चरित्र'।
(२) महात्मा नाभादास जी कृत—'भक्तमाल'।
(३) महात्मा प्रियादास जी कृत—'भक्तमाल' पर टीका।
(४) महात्मा रघुवरदास जी कृत—'तुलसी-चरित'।

नोट (१)—वेणीमाधवदास जी गोसाईं जी के समकालीन थे; पर इनका 'गोसाईं चरित्र' अप्राप्य है। शिव सिंह सरोज-कार ने अपने 'सरोज में इस ग्रन्थ का उल्लेख मात्र किया है; परन्तु उससे कुछ काम नहीं चलता। थोड़े दिन हुए एक नई

पुस्तक का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसका नाम 'मूल गोसाईं चरित' है, श्री म० वेणी माधवदास जी कृत 'गोसाईं-चरित्र' का, किसी के मन से, संक्षिप्त रूप है तो, किसी के मन से, उक्त पुस्तक का अन्तिम अध्याय है। पर 'गोसाईं चरित्र' की अप्राप्यता के कारण, इस नई पुस्तक की असलीयत जाँच करना कठिन है। अतः इसे लोग जाली समझते हैं। इस नई पुस्तक के अनुसार गोसाईं जी का जन्म-संवत् १५५४, जन्मभूमि राजापुर, पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। आप का विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ, जिससे आप को तारक नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

नोट (२)—'भक्तमाल' के रचयिता बाबा नाभादास जी हैं। ये भी गोसाईं जी के समकालीन कहे जाते हैं; परन्तु इन्होंने भी गोसाईं जी के जीवन-चरित सम्बन्धी, कुछ भी बातें न लिखकर आप की प्रशंसा में केवल यही लिखा है कि आप महर्षि वाल्मीकि के अवतार थे। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रिया-दास जी ने इस सम्बन्ध में भविष्यपुराण के निम्नलिखित श्लोक का प्रमाण दिया है—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौदेवि भविष्यति ।
रामचन्द्र कथां साध्वीं भाषा रूपां करिष्यति ।
विख्यातस्तुलसी शर्म्मा पुराणनिपुणः कविः ॥

अर्थ—हे देवि! वाल्मीकि कलि में तुलसीदास होंगे और रामचन्द्र की सुन्दर कथा को भाषा में रचेंगे। पुराणों में निपुण तुलसी शर्म्मा एक विख्यात कवि होंगे।

कोई-कोई गोसाईं जी को ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए उक्त श्लोक की भी दुहाई देते हैं और यह दलील पेश करते हैं कि

यदि आप ब्राह्मण न होते तो भविष्यपुराण में आप को 'तुलसी शर्म्मा' क्यों लिखा जाता ? पर उक्त श्लोक में ही आप को 'तुलसीदास' भी लिखा गया है; अतः यदि 'शर्म्मा'-उपाधि के आधार पर गोसाईं जी को ब्राह्मण मा ा जाय तो 'दास'-उपाधि के आधार पर आप को शूद्र भी मानना चाहिए। अतः आत्म-विरोधी (Self-contradictory) होने से गोसाईं जी के वर्ण-निर्णयार्थ यह श्लोक अमान्य है। यदि आप में उक्त दोनों वर्णों का सम्मिश्रण माना जाए, तो यह आप के लिए और भी घातक सिद्ध होगा। यदि कहो कि जो पहले 'तुलसीदास शर्म्मा' (ब्राह्मण) थे, वे ही वैरागी (साधु) होने पर 'तुलसीदास' हो गए; अर्थात् यहाँ 'दास' शब्द शूद्रत्व का बोधक नहीं है, वल्कि वैरागियों की उपाधि है; तो यह भी ठीक नहीं; कारण कि वैरागी होने के पहले आप का शुभ-नाम 'रामबोला' था जैसा कि आप के श्रीमुख से ही स्वीकृत है न कि 'तुलसी शर्म्मा'। उक्त श्लोक अवश्य जाली हैं।

नोट (३)—म० प्रियादास जी ने 'भक्तमाल' पर एक टीका लिखी है, जो संवत् १७६९ की रचना है। गोसाईं जी की प्रचलित जीवनी में जो कुछ असंभव, अनर्गल और अनैसर्गिक बातें तथा घटनाएँ लिखी पाई जाती हैं उन सबों का मूल स्रोत 'भक्तमाल' की उक्त टीका ही है। भूमंडल में प्रायः सर्वत्र तथा सर्वदा अन्ध विश्वास की महिमा देखने में आती है। जो इस रोग के शिकार हैं, वे इसके कीटाणु सर्वत्र फैलाते हैं। उनमें एक यह बुरी लत पड़ जाती है कि जिसे वे महात्मा सिद्ध किया चाहते हैं उसके जीवन के साथ वे कतिपय अनर्गल, असंभव तथा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध घटनाएँ, करामातें और मोजज़े जोड़ दिया करते हैं जिसका फल यह होता है

कि सम्बन्धित महापुरुष की सच्ची जीवनी दुष्प्राप्य हो जाती है। जैसी करामातें हम लोग ईसा, मूसा, मुहम्मद आदि महापुरुषों के सम्बन्ध में प्रायः सुना करते हैं, वैसी ही करामातें गोसाईं जी के विषय में भी सुनी जाती हैं। गोसाईं जी का किसी प्रेत से भेंट होना, उसकी सहायता से आप को हनूमान और रामचन्द्र का दर्शन होना, पाषाण-मूर्त्ति नन्दी का भोजन करना, लड़की से लड़का होना, मुर्दे का जी उठना, गोसाईं जी को क़ैद करने के कारण बादशाह जहाँगीर के किले का वन्दरों द्वारा विध्वस्त किया जाना आदि ऐसी गप्पें हैं जिन पर थोड़ी सी भी आलोचिका बुद्धि रखने वाला मनुष्य विश्वास नहीं कर सकता। अतः गोसाईं जी के जीवन-चरित को प्रियादास जी की टीका पर आधारित करना बिल्कुल व्यर्थ है। आप के जीवन-सम्बन्धी किसी भी विश्वास-योग्य घटना का उल्लेख उसमें नहीं है।

नोट (४)—म० रघुबर दास जी कृति 'तुलसी-चरित' के सम्बन्ध में तो और भी विचित्र बातें सुनी जाती हैं। कहते हैं कि गोसाईं जी के शिष्य रघुबरदास जी ने 'तुलसी-चरित' नाम की आप की एक जीवनी लिखी। इसमें दोहे, चौपाइयाँ आदि छन्द कुल मिलाकर १३३६६२ थे। पर गोसाईं जी ने पहले उसका प्रचार न होने का शाप दिया; किन्तु लोगों के अनुनय-विनय से आप ने शाप-विमुक्ति का समय संवत् १६६७ निर्द्धारित किया और तब तक उसकी रक्षा का भार अपने चिर परिचित मित्र पूर्व्वोक्त प्रेत को सौंपा। बहुत दिनों तक वह पुस्तक भूटान के एक ब्राह्मण के घर पड़ी रही। पुनः उस ब्राह्मण के लड़के के एक कायस्थ शिक्षक ने उस पुस्तक की एक नकल चोरी से करके अलवर ले भागा, जो किसी प्रकार

केसरिया (चम्पारन) निवासी बाबू इन्द्रदेव नारायण को हाथ लगी।

यदि सचमुच गोसाईं जी की कोई ऐसी जीवनी लिखी गई है तो शाप-मोचन की अवधि बीत जाने पर भी सर्वसाधारण के लाभार्थ उसका प्रकाशन अब तक क्यों नहीं हुआ ? गोसाईं जी के द्वारा उक्त पुस्तक के प्रकाशन पर लगाया हुआ प्रतिबन्ध आज (संवत् २००१ में) ३४ वर्ष हुए कि उठ गया; पर अभी तक उस पुस्तक का दर्शन करने का सौभाग्य किसी को नहीं हुआ। वह अब भी मैनस्क्रिप्ट (Manuscript) की अवस्था में क्यों है, आखिर इसका भी कुछ समाधान होना चाहिये। यदि वस्तुतः कोई ऐसी पुस्तक है जो अब तक प्रकाशित नहीं हुई, तो अवश्य ही वह कोई साधारण सी पुस्तक होगी जो वर्तमान काल में लिखी गई है। उसका महत्त्व बढ़ाकर अन्ध-विश्वासी जनता पर उसकी धाक जमाने के लिए महात्मा रघुबरदास जी का नाम बेंचा गया है और उसके साथ प्रेतादि की झूठी कहानी जोड़ दी गई है।

इस पुस्तक के अनुसार गोसाईं जी का संक्षिप्त परिचय यह है कि आप के मूल पुरुष जो राजापुर में जाकर बसे थे परशुराम मिश्र थे। ये गाना के मिश्र थे और इनका आदि निवास-स्थान सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश में मधौली से २३ कोस पर कसेयाँ ग्राम था। इन्हीं की पाँचवीं पीढ़ी में तुलाराम हुए जो बाद में तुलसीदास के नाम से विख्यात हुए। तुलसीदास के, एक के बाद दूसरा, इस प्रकार तीन विवाह हुए। तीसरा विवाह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में आप के पिता ने ६०००) का दहेज लिया था। इसी स्त्री के उपदेश से आप विरक्त हुए थे।

जीवनी-सम्बन्धी दो परस्पर भिन्न मत—अब यहाँ पर हम लोगों के सामने गोसाईं जी के दो भिन्न तरह के परिचय हैं। एक वह जो नोट (१) में और दूसरा वह जो नोट (४) में उल्लिखित हुआ है। गोसाईं जी विषयक से दोनों मत परस्पर एकदम भिन्न होने के कारण आप से आप एक दूसरे का उच्छेद कर देते हैं। दोनों सही नहीं हो सकते और यदि एक ही सही है तो दूसरा ज़रूर ग़लत है। पर कौन सही है, इसकी शिनाख्त करना जरा टेढ़ी खीर है। दोनों सही नहीं हो सकते; पर दोनों के ग़लत होने में कुछ भी असम्भवता नहीं है। असल बात तो यह है कि दोनों ही गलत हैं; कारण कि गोसाईं जी के निजी लेखों द्वारा उनमें से किसी का भी समर्थन नहीं होता। इसके अतिरिक्त जिन दो पुस्तकों ('मूल गोसाईं-चरित' और 'तुलसी-चरित') के आधार पर उक्त दो भिन्न मत दिए गए हैं उन पर जाली और आधुनिक होने का सन्देह किया जाता है। अतः पाठकगण अब स्वयं विचार लें कि प्रतिवादी के इस दलील में कि गोसाईं जी की प्रचलित जीवनी बहुत कुछ छान-बीन तथा अनुसन्धान करके प्राचीन ग्रन्थों के ही आधार पर लिखी गई है; अतः वह विश्वसनीय है, कहाँ तक सार है।

जीवनी-संबंधी तीसरा मत—अब यहाँ पर गोसाईं जी के परिचय विषयक जिस नवीन तथा तीसरे मत का इस पुस्तक में प्रतिपादन किया गया है तथा जिसकी पुष्टि आप के निजी लेखों के द्वारा होती है, पूर्वोक्त दो जाली मतों के साथ-साथ वह भी सर्वत्र से एकत्रित करके दे दिया जाता है। इस मत के अनुसार गोसाईं जी की जन्म-भूमि काशी-प्रान्त में कहीं पर गंगा जी के समीप थी। आप किस जाति में उत्पन्न हुए थे,

यह बात अब तक भी अज्ञात है। आप के जननी-जनक ने किसी पाप कर्म को छिपाने के लिए आप को सद्योजातावस्था में ही कहीं पर फेंक दिया। गोसाईं वर्ग के किसी अथीथ ने, जो बनारस-प्रान्त का निवासी था, आप को अपने घर लाकर पाला-पोसा और अपनी जातीय जीविका का भिक्षाटन के द्वारा गीत गा-गाकर अपना जीवन-निर्वाह करने को सिखलाया। आप का लड़कपन का नाम 'रामबोला' था और आप अपने को अपने पालक का सजाति मानते थे। आप का बाल्य-काल घोर दरिद्रता में बीता, जिससे मजबूर होकर आप को घर-घर से टुकड़े माँग-माँगकर अपना पेट पालना पड़ा। आप इसी प्रकार अपना दुःखमय जीवन बिता रहे थे कि अचानक आप को किसी महात्मा (संभवतः नर हरिदास जी) से भेंट हो गई। वे आप की सुन्दर आकृति तथा स्वाभाविक तीव्र बुद्धि पर मुग्ध हो गए और आप को अपना शिष्य बनाकर उच्चकोटि की शिक्षा दी, जिसका फल यह हुआ कि आप परम विद्वान् तथा एक अद्वितीय कवि हो गए। आप रामचन्द्र के अनन्य भक्त थे, जिनके गुण-गान में आप ने 'रामचरित मानस', 'विनय-पत्रिका' आदि कतिपय ग्रन्थों की रचना की। बाल्य-काल में महादरिद्र तथा अज्ञात कुलशील होने के कारण और यौवन तथा वार्द्धक्य काल में संसार से विरक्त होने एवं स्त्री जाति के प्रति एक स्वाभाविक घृणा रखने के कारण आप जीवन-पर्य्यन्त अविवाहित रहे।

अब पाठकगण स्वयं देख लें कि यह तीसरा मत कितना सीधा-सादा और गोसाईं जी के निजी लेखों के अनुकूल है। इसमें कोई भी अनर्गल, असंभव तथा अस्वाभाविक बात नहीं है। इन तीनों मतों में कौन त्याज्य है

और कौन ग्राह्य है, इसका निर्णय मैं अपने पाठकों पर ही छोड़ देता हूँ।

गोसाईं जी के ब्राह्मणत्व सम्बन्धी अन्य लचर दलीलें—गोसाईं जी की ब्राह्मणत्व-सिद्धि के इतना कंटकाकीर्ण होने पर भी कुछ लोग ऐसे हैं जो आप के ब्राह्मणीकरण की लालच का संवरण नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि आप ब्राह्मण अवश्य थे; पर आप को ब्राह्मणत्व का अभिमान न था और आप ने जो अपने को दीन, हीन, अजाति, मंगन आदि लिखा है, वह केवल अपनी नम्रता दिखाने तथा स्वगर्भपरिहार के ही लिए लिखा है। पर यहाँ पर विचारना यह है कि ब्राह्मण कुल में अनेक कवि हो गए हैं, पर आज तक किसी ने भी अपनी जाति को मंगन-कुल नहीं लिखा। यदि स्वगर्भपरिहारार्थ कुछ लिखा भी तो केवल अपनी विद्या-बुद्धि की ही तुच्छता लिखी। यदि अपनी तुच्छता और भी दिखानी हुई तो अपने को पापी, पाखंडी आदि लिखा, पर यह कदापि नहीं लिखा कि मैं अजाति हूँ, कुत्ते की तरह घर-घर के टुकड़े खाने वाला हूँ इत्यादि। उदाहरण के लिए औरों को छोड़कर केवल महात्मा सूरदास को ही लीजिए। वे गोसाईं जी से ज्ञान, वैराग्य तथा कवित्व शक्ति में किसी प्रकार कम नहीं; बल्कि अधिक माने जाते हैं। इसीलिए सूरदास को 'सूर्य', पर गोसाईं जी को केवल 'चन्द्र' ही कहते हैं। पर सूरदास ने अपनी व्यक्तिता के साथ-साथ अपनी जाति पर कभी धब्बा नहीं लगाया। इस पर भी यदि कहो कि गोसाईं जी उच्च कोटि के कवियों में से न थे। वे तो एक पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी परमहंस थे, जिनकी दृष्टि में सारा ब्रह्मांड 'सिया राम मय' हो रहा था; वहाँ पर न कोई ब्राह्मण था, न

कोई शूद्र; तो तुम्हारी यह कल्पना केवल ख्याली पुलाव है, जो गोसाईं जी की जाति भेद पोषक प्रबल उद्गारों से टकरा जाता है। आप के राग-द्वेष-कलुषित हृदय के ये पक्षपात-पूर्ण, अतः नितान्त विषैले उद्गार कि—

पूजिए विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना।
विप्रवंश की अस प्रभुताई, अभय होए जो तुमहिं डेराई।
शापत, ताड़त, परुष कहन्ता, विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।
शूद्र द्विजहिं उपदेशहिं ज्ञाना, मेलि जनेऊ लेहि कुदाना।
शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना, बैठि बरासन कहहिं पुराना।
ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।
जे वरना धम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोलक लवारा।
नारि मुई घर सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं उभय लोक निज हाथ नसावहिं।

वादहिं शूद्र दिजन्ह सन, हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आँखि दिखावहिं डाटि॥ इत्यादि

आप के बनावटी ब्रह्मज्ञान का भंडाफोड़ कर देते हैं; क्योंकि आप के ये सब वचन इस बात का इज़हार कर रहे हैं कि यदि आप सचमुच ब्राह्मण थे तो आप से बढ़कर जात्यभिमानी, पक्षपाती, जाति-पाँति के कट्टर समर्थक एवं जाति को ही सब कुछ, पर गुण को कुछ भी नहीं मानने वाला ब्राह्मण कोई दूसरा न था। यह कैसी हेय तथा घृणित चालबाज़ी है कि स्वयं तो आप बाहर से दीन, हीन, जाति-पाँति विषयक भेदभाव शून्य होने का स्वांग रचें और अपने लेखों के द्वारा, इसी बनावटी वेश में छिपे रुस्तम बनकर, अपनी (ब्राह्मण) जाति का पूरा सिक्का, चाहे वह किसी भी गिरी से गिरी दशा में क्यों न हो,

हिन्दू जैसी एक बुद्धू तथा अन्धविश्वासग्रस्त जाति पर सदा के लिए जमाए रखने का—नहीं-नहीं, अब्राह्मणों को अपनी जाति का मुफ़्त में पूर्णतः गुलाम बनाए रखने का—कुत्सित प्रयत्न करें। दो मूहें साँप की तरह एक ओर तो जाति-पाँति कोई चीज़ नहीं, ऐसा उदार उपदेश देने का ढोंग रचें और दूसरी ओर ठीक इसके प्रतिकूल केवल जाति-पाँति के ही आधार पर किसी को सर्वथा अयोग्य होने पर भी पूज्य एवं किसी को सर्वथा योग्य होने पर भी ताड़न के अधिकारी बतलाकर परस्पर फूट, कलह, जाति द्वेष आदि नारकीय विचारों का विष उगलें। समकालीन जनता जो आप की जाति के विषय में संदिग्ध रहकर सदा अंड-बंड बका करती थी, उससे मन ही मन आप अवश्य कुढ़ते रहते थे; पर बाहर से 'खट्टी अंगूर कौन खाए' वाले न्याय से जाति-पाँति के प्रति अपनी उदासीनता दिखलाते थे। पर आप के ही कथन 'उघरे अन्त न होंहि निबाहू, काल नेमि जिमि रावण राहू' के अनुसार आप की सारी मुरादाबादी कलई खुल गई और 'रामचरित-मानस' के उत्तरकाण्ड में पहुँचते-पहुँचते आप ने अपना सारा ब्रह्मज्ञान भाड़ में झोंककर सभी जातियों को वर्णसंकर बना अपने जले दिल की आग ठंढी की—

गोसाईं जी की दुरंगी बातें

'भये वरन संकर सकल भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप दुख पावहिं भय रुज सोक वियोग' !!

(यही पाठ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित तथा श्री श्यामसुन्दरदास जी कृत हिन्दी टीका के साथ इन्डियन प्रेस, प्रयाग, से प्रकाशित सचित्र 'रामचरितमानस' का है, जिसका पाठ अत्यन्त शुद्ध और प्रामाणिक माना जाता है)

अब यहाँ विचारना यह है कि यदि 'भये बरन संकर सकल' अर्थात् यदि कलि में सभी वर्ण-संकर हो गए तो गोसाईं जी के विचार उन अनन्य तथा अन्धे भक्तों की क्या गति होगी जो आप को पूर्णतः निभ्रान्त और आप के प्रत्येक शब्द को वेद वाक्य की तरह अवश्य माननीय समझते हैं। उनके लिए केवल दो ही मार्ग रह गए हैं। जिनमें किसी एक का उन्हें अवश्य आश्रय लेना होगा—या तो वे आज से अपने को वर्ण-संकर मान लें, क्योंकि वे उक्त दोहे के 'सकल' शब्द से व्यापक दायरे के बाहर नहीं जा सकते, या आज से गोसाईं जी को निभ्रन्ति मानना और आप की अन्धीभक्ति करना छोड़ दें। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि जिन गोसाईं जी की अपनी ही जाति का ठिकाना न था वे ही दूसरों को शूद्र, वर्णाधम, वर्ण-संकर आदि कहने का दुःसाहस करें। दूसरों की फूली निरिखना, पर अपना ढेंढ़र नहीं देखना, इसी को कहते हैं। 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी' आदि लिखकर जो आपने ब्राह्मणों को खरी खोटी सुनाने की धृष्टता की थी उसका प्रायश्चित्त तो आप ने 'पूजिए विप्र शील गुण हीना' आदि लिखकर कर दिया; पर निर्बल तथा निःसहाय शूद्रों से आप को क्या डर था ? उन्हें

गोसाईं जी का शूद्रों के साथ घोर अन्याय

खूब दुलत्तियाँ लगाईं। उनके जप, तप, व्रत आदि देखकर आप का द्वेष दूषित हृदय जलने लगा। उनका वरासन पर बैठकर कथा-पुराण कहना आप की आँख का शूल हो गया। शायद आप को मालूम नहीं कि वशिष्ठ, पराशर, भरद्वाज आदि ऋषिगण क्रमशः वेश्या, चाण्डाली, शूद्री आदि के पुत्र थे, जो जप, तप, व्रतादि करके केवल ब्राह्मण ही नहीं बने; बल्कि गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि होकर बड़े-बड़े

ब्राह्मण कुलों के संस्थापक हुए, जिनके वंशधर आज भी अपना गोत्र वशिष्ठ, पराशर, भरद्वाज आदि बतलाकर मारे अभिमान के फूले नहीं समाते। इसी प्रकार नैमिषारण्य में ८८००० महर्षियों को 'वरासन' पर बैठकर कथा-पुराण सुनाने वाले रोमहर्षण और उसका पुत्र उग्रश्रवा जाति के सूत (प्रतिलोमज संकर) थे। श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम जी को, आप की ही तरह, भ्रम हो गया और रोमहर्षण को इसी धृष्टता के कारण उन्होंने मार डाला। पर अन्त में वे इस हत्या का प्रायश्चित करने और पुनः उसी 'बरासन' पर उसके पुत्र उग्रश्रवा को बैठाने के लिए ऋषियों द्वारा विवश किए गए। पर पाठकगण! हमारे गोसाईं जी अपने खेल के कच्चे खेलाड़ी नहीं है। वे खूब जानते हैं कि शत्रु का मर्मस्थल कहाँ है, जहाँ पर प्रहार होते ही वह अंटाचित्त हो जाएगा। जब शूद्रों पर स्वयं प्रहार करके संतुष्ट नहीं हुए तो आप ने एक दूसरी तरकीब सोची। काकभूसुण्डी को पूर्व जन्म का एक शूद्र बतलाकर और उसी के मुँह से शूद्रों का पढ़ाना-लिखाना साँप को दूध पिलाने के तुल्य कहलाकर गोसाईं जी ने शूद्रों के ही द्वारा शूद्रों पर प्रहार करा दिया। काकभुसुण्डी गरुड़ से कहता है—

'अधम जाति मैं विद्या पाए, भयउ यथा अहि दूध पिलाए।'

जहाँ देश के गण्य मान्य नेता स्त्रियों, भंगियों तथा चाण्डालों तक को शिक्षित बना देश का उद्धार किया चाहते हैं वहाँ आप का 'नाना पुराण-निगमागम-सम्मत' यह 'रामचरितमानस' उन्हें डण्डों से पीट-पाटकर मूर्ख बनाए रखने का सदुपदेश देता है। अतः हे महात्मन्! यह निश्चय जानिए कि आप का अब वह ज़माना सदा के लिए लद गया जब कि आप का यह 'शवरी-नाद' अबोध मृगी सदृश भोली-भाली हिन्दू-जनता को

अपने विषैले माधुर्य से विमुग्धकर, धूर्तों तथा स्वार्थपरायण पाखंडियों की सहायता से, उसका मनमाना शिकार करता रहा। अब आप के इस 'नाद का वास्तविक मूल्य आँकने वालों का प्रादुर्भाव हो गया है, जिनकी कठोर समालोचिका-लेखनी, एक दृढ़ चित्त डाक्टर की तेज नश्तर-छुरिका की तरह, आप की—

हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी, जे पर दूषण भूषण धारी।
खल परिहास होय हित मोरा, काक कहहिं कलकंठ कठोरा।
हंसहि बक दादुर चातक ही, हँसहिं मलिन खल विमल बतकही।
अति खल जे विषयी बक कागा, इहिसर निकट न जाहि अभागा।
शम्बुक भेक सिवार समाना, इहाँ न विषय कथा रसनाना।
तेहि कारण आवत हियहारे, कामी काक बलाक विचारे।

आदि समालोचना होने के पहले से ही (in anticipation) दे रखी हुई गालियों का परवाह कुछ भी न करते हुए इसके चिर-परिपक्व व्रणों को चीरकर उनके सारे सड़े गले मवाद को निकाल बाहर करके ही छोड़ेगी; कारण कि गोसाईं जी का यह महाकाव्य, सर्वांश में तो नहीं, पर अधिकांश में अवश्य ही, शास्त्रों के त्याज्य अंशों के आधार पर ही, जैसा कि 'रामचरित-मानस के दोष'—शीर्षक पंचम परिच्छेद में दिखलाया जाएगा, रचा गया है।

ब्राह्मण-प्रशंसा से गोसाईं जी के ब्राह्मणत्व का अनुमान—किसी-किसी का यह अनुमान है कि गोसाईं जी अवश्य ब्राह्मण होंगे; अन्यथा वे ब्राह्मणों की इतनी बड़ाई नहीं करते। पर यह अनुमान एकदम ग़लत है। प्रशंसा करने के कारण निम्न-लिखित भी हो सकते हैं—

(१) गोसाईं जी कृत 'रामचरित मानस' तथा 'अध्यात्म' 'वाल्मीकीय' आदि आर्ष रामायणों के कथानकों में, जैसा कि आगे चलकर दिखलाया जाएगा, कतिपय स्थानों में भिन्नता देख पड़ती है, अतः आप को ब्राह्मण विद्वानों के द्वारा अपने उक्त ग्रन्थ के ऊपर समूलोच्छेदकारी आक्रमणों की भारी आशंका हुई होगी, जिस कारण आप को ब्राह्मणों के खुशामद वश इतनी चापलूसी करनी पड़ी।

(२) आप की शिक्षा-दिक्षा नरहरिदास नामक एक ब्राह्मण महात्मा के द्वारा हुआ था। बाल्यकाल से ब्राह्मण के आश्रित बने रहने के कारण आप पर ब्राह्मण जाति का प्रभाव बेहद पड़ा होगा, यहाँ तक कि इस जाति का जैसे हो तैसे गुण गाना ही आप ने अपना कर्त्तव्य समझा होगा। आज-कल भी कितने अनाथ बच्चे मिश्नरियों के द्वारा पाले-पोसे तथा पढ़ाए-लिखाए जाते हैं, जो सयाने होने पर कृतज्ञता वश उन्हीं लोगों का महत्व वर्णन करने लगते हैं। कहावत भी है—'जिसका खाएँ उसका गाएँ'।

सारांश यह कि केवल प्रशंसा करने से ही प्रशंसक को प्रशंसित का सजाति मान बैठना भारी भूल है। प्रशंसा करने के अन्य कारण भी हो सकते हैं।

हुलसी—अब यहाँ पर थोड़ा 'हुलसी' शब्द पर यह जानने के लिए विचार किया जाता है कि यह शब्द कोई व्यक्ति-वाचक संज्ञा (Proper Noun) है अथवा हिन्दी के हुलसना (प्रसन्न होना, हर्षोत्फुल्ल होना, प्रकाशित होना, विकसित होना आदि) धातु का केवल काल (Tense) कृत भेद है। लोगों के दिमाग़ में यह निर्मूल धारणा अब तक घुसी हुई है कि

'हुलसी' शब्द गोसाईं जी की माता का नाम है। पर मैं पूर्व में लिख आया हूँ कि गोसाईं जी के माता-पिता ने आप को सद्योजातावस्था में ही चुपके से फेंक दिया था। इस दशा में आप या किसी-किसी अन्य को आप के माता-पिता का हुलिया मालूम करना असंभव है। जिन स्थलों पर 'हुलसी' शब्द प्रयुक्त हुआ है वे इकट्ठे करके नीचे दे दिए गए हैं जिसमें पाठकों को इसका रहस्य मालूम हो जाए—

(१) गोद लिए 'हुलसी' फिरे, तुलसी से सुत होए।
(२) कृष्णचन्द्र के सूर उपासी। ताते इनकी बुद्धि 'हुलासी'।
(३) शंभु प्रसाद सुमति हिय 'हुलसी'।
राम चरित मानस कवि तुलसी।
(४) रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।
तुलसिदास हित हिय 'हुलसी' सी।

इन उद्धरणों में सर्वत्र 'हुलसी' वा 'हुलासी' शब्द हर्षित तथा प्रकाशित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी-किसी के मत से उद्धरण (१) में 'हुलसी' शब्द पर श्लेष है; अर्थात् इसके दो अर्थ हैं—एक हर्षित तथा दूसरा गोसाईं जी की माता का नाम। पर श्लेष की संभावना तभी हो सकती है जब यह सिद्ध हो जाए कि गोसाईं जी की माता का नाम 'हुलसी' था। पर आज तक यह अज्ञात है, अतः श्लेष मानने का कोई आधार नहीं है। ऐसे संदिग्ध आधार पर माना हुआ श्लेष भी संदिग्ध है। इसके अतिरिक्त जब श्लेष को बिना माने हुए भी अर्थ में त्रुटि नहीं देख पड़ती तो श्लेष मानने की जरूरत ही क्या है? उद्धरण (४) में जो 'हुलसी' शब्द आया है, उसका गोसाईं जी के माता का नाम होना अनिवार्य सा प्रतीत होता है; कारण

कि यदि उसे माता का द्योतक न समझा जाए तो अर्थ की संगति ही नहीं लगती। पर माता का अर्थ लेने में भारी आपत्ति यह है कि जिस क्रूर माता ने गोसाईं जी को सद्योजातावस्था में फेंक दिया था, उसकी उपमा देकर गोसाईं जी यह कभी नहीं लिख सकते कि राम-कथा हुलसी के समान हृदय से हित करने वाली है। यदि कहो कि तब तक आप अपनी माता का दुर्व्यवहार भूल गए होंगे और आप के हृदय में स्वाभाविक मातृ-स्नेह का श्रोत उमड़ आया होगा, तो यह मानने योग्य नहीं, कारण कि आप के अपने जननी-जनक के सम्बन्ध में प्रयुक्त किए हुए 'स्वारथ', 'कुटिल' आदि कटु शब्द इस बात के सच्चे गवाह हैं कि आप अपने जनना-जनक के अपने प्रति किए हुए क्रूरव्यवहार को कभी नहीं भूले। मेरा अपना मत यह है कि जहाँ पर 'हुलसी' सब्द से तन्नाम धारिणी गोसाईं जी की तथाकथित किसी माता का द्योतन होता ही हो तो, वहाँ उनकी जन्मदात्री माता न समझकर उस अर्थीथ की पत्नी को ग्रहण करना चाहिए जिसने आप को पाला-पोसा था, कारण कि पालक की स्त्री भी एक माता ही है। इसीलिए कुन्ती-पुत्र कर्ण को 'राधेय' अर्थात् उनके पालक अधिरथ की स्त्री 'राधा' की सन्तान कहते हैं। उद्धरण (१) नवाब खान-खाना का दोहार्द्ध है, जो गोसाईं जी के 'सुर तिय नर तिय नाग तिय, अस चाहत सब कोय' की पूर्ति में लिखा गया था। हिन्दी के अन्य कवियों ने भी 'हुलसी' शब्द को प्रकाशित और प्रसन्नता अर्थ में ही प्रयुक्त किया है, जैसे—

(२) तुलसी कविता सविता तम हारि,
खसारि सिया छविता हुलसी।

गोसाईं जी के जन्म-मरण के संवत्—अब यहाँ पर गोसाईं जी के जन्म-मरण के समय पर विचार किया जाता है। इस बात पर सभी सहमत हैं कि गोसाईं जी की मृत्यु संवत् १६८० श्रावण शुक्ल सप्तमी के दिन काशी में अस्सी-संगम पर हुई, जैसा कि इस विख्यात दोहे से पता चलता है—

संवत् सोरह सै असी असी-गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर ॥

पर आप के जन्म-संवत् के विषय में मत-भेद है। पं० रामगुलाब द्विवेदी संवत् १५८९ को, शिवसिंह (सरोजकार) संवत् १५८३ को तथा पं० शिवलाल पाठक संवत् १५५४ को गोसाईं जी का जन्म-संवत् बताते हैं। पर देखना यह है कि उक्त तीनों जन्म-संवतों में कौन सबसे अधिक माननीय है। पहले जन्म-संवत् से गोसाईं जी की पूर्णायु ९१ वर्षों की, दूसरे से ९७ वर्षों की तथा तीसरे से १२६ वर्षों की होती है। पर १२६ वर्षों का जीवन-काल असाधारण है। यह विरले ही किसी का होता है। अतः यह उतना माननीय नहीं है। शेष दो संवतों (१५८९ और १५८३) पर विचार होना चाहिए। यह तो निर्विवाद है कि गोसाईं जी ने 'रामचरितमानस' को संवत् १६३१ में लिखा था; क्योंकि इसका प्रमाण आप की ही चौपाई 'संवत् सोरह सै इकतीसा, करउँ कथा हरि पद धरि सीसा' है। पर 'रामचरितमानस' जैसे एक महाकाव्य लिखने के लिए एक प्रौढ़ कवि का होना जरूरी है। बुद्धि की प्रौढ़ता ४० वर्षों की आयु से कम में नहीं होती। यही वैज्ञानिकों का मत है। उनके अनुसार आयु का चालीसवाँ वर्ष ही यौवन-काल तथा वार्द्धक्य-काल का सन्धि-स्थल है जिसे

पार करने पर मनुष्य की बल-बुद्धि में धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। अतः हम लोगों को इस बात को मान लेने में कुछ भी ननु नच नहीं होना चाहिए कि गोसाईं जी ने 'रामचरित-मानस' को ४० वर्षों की आयु प्राप्त होने पर लिखा था। अतः १६३१ में से ४० निकाल लेने पर आप का जन्म संवत् १५९१ आता है; जिसका अन्तर पं० रामगुलाब द्विवेदी के माने हुए जन्म-संवत् से केवल दो वर्षों का ही है। अतः संवत् १५८९ को ही गोसाईं जी का जन्म-संवत् मानना अधिक शुद्ध है।

गोसाईं जी के जन्म-मरण के ईसवी सन्—अब गोसाईं जी के जन्म और मरण के संवत् तुल्य ईसवी सन् निकालता हूँ, जिससे यह मालूम हो जाए कि उस समय भारत पर कौन शासन कर रहा था। संवत् में से प्रायः ५७ घटाने से ईसवी सन निकलता है; अतः १५८९ — ५७ = १५३२; यही गोसाईं जी के जन्म का ईसवी सन् हुआ। भारतवर्ष का इतिहास देखने से पता चलता है कि उस समय दिल्ली का बादशाह हुमायूँ था। वह ईसवी सन् १५३० में तख्त पर बैठा। उसकी स्थिति अभी डाँवा-डोल थी। वह अफगान सरदारों से लड़ रहा था। ईसवी सन् १५३२ में उसने चुनार के किले पर धावा किया; परन्तु शेर खाँ ने, जिसके अधिकार में उक्त किला था, हुमायूँ की मातहती कबूल-कर उससे सुलह कर ली। इसी प्रकार संवत् १६८० में से ५७ निकाल दिया तो गोसाईं जी के मरण का ईसवी सन् १६२३ आया। पुनः भारतवर्ष के इतिहास के पन्ने उलटिए। उस समय दिल्ली का बादशाह जहाँगीर था। उक्त ईसवी सन् १६२३ में तो कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना न हुई; पर इसके ठीक एक वर्ष पहले अर्थात् ईसवी सन् १६२२ में, कन्दहार

मुगल-साम्राज्य से पृथक् हो गया। 'रामचरितमानस' का रचना-कालीन संवत् १६३१ है। इसमें से ५७ घटाया तो ईसवी सन् १५७४ आया। उस समय दिल्ली का बादशाह अकबर था। अकबर ने ईसवी सन् १५७४ में बंगाल के हाकिम दाउद खाँ पर चढ़ाई की। उसने हारकर अकबर की मातहती कबूल कर ली। पुनः इसी ईसवी सन् में अकबर ने प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान् शेख अबुल फज्ल को अपने दर्बार में बुलाया। इस प्रकार गोसाईं जी ने हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर, इन तीन मुगल बादशाहों के शासन-काल देखे।

गोसाईं जी का मृत्यु-वृत्तान्त—गोसाईं जी के जन्मादि विषयक इस परिच्छेद में पूर्व-लिखित विविध विवरणों को जानकर मेरे पाठक-वृन्द को यह जानने के लिए एक स्वाभाविक कौतूहल हुआ होगा कि आप जैसे एक महान् तथा भुवन-विख्यात व्यक्ति की मृत्यु किस प्रकार हुई तथा आप की अमर लेखनी ने कौन-कौन से ग्रन्थ रचने की करामात दिखलाई। अतः मैं अपने पाठकों की कौतूहल-निवृत्ति के लिए पुनः आप के उन्ही सब ग्रन्थों का आश्रय लूँगा जिनके आधार पर मैं आप के सम्बन्ध में अब तक लिखता आया हूँ। तुजुक जहाँगीरी के लेखानुसार संवत् १६७३ में पंजाब में ताऊन (महामारी या प्लेग) फैला था जो धीरे-धीरे अपनी टाँगें पसारकर विश्वनाथ-पुरी काशी में भी आ धमका। कवितावली, उत्तरकाण्ड, कवित्त १७६, पढ़िए—

संकर-सहर नर नारि वारि चर विकल सकल महामारी माँजा भई है। उछरत उतरात हहरात मरिजात भभरि भगात जल थल मीचु भई है। देव न दयाल महिपाल न कृपाल चित बारानसी बाढ़त अनीति नित

नई है। पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत रामहू की बिगरी तू हीं सुधार लई है ॥१७६॥

अर्थ—काशी मानो एक तालाब है; वहाँ के स्त्री-पुरुष मानो उस तालाब के जल-जन्तु हैं; वे जल-जन्तु महामारी रूपी माँज़ा (वर्षा ऋतु का प्रारंभिक जल) से व्याकुल हो गए हैं। वे उछलते तथा पानी के ऊपर उतराते हुए हाय-हाय करके मर जाते हैं, उनमें से कितने घबराकर भाग रहे हैं और जल-थल सब मृत्युमय हो रहा है। देवता भी दया नहीं करते; राजाओं के हृदय में भी कृपा नहीं है और काशी में नित्य ही नई-नई अनीति बढ़ रहा है। हे रामचन्द्र! तुम्हीं रक्षा करो; हे रामचन्द्र के दूत हनुमान्! तुम्हीं रक्षा करो; क्योंकि तुमने तो रामचन्द्र की भी बिगड़ी बात को सुधार लिया था।

जिस समय प्लेग देव अपने प्रलयंकर प्रहारों के द्वारा काशी का संहार कर रहे थे उस समय, जान पड़ता है, गोसाईं जी को किसी भयंकर रोग ने धर दबाया था; क्योंकि तभी तो आप के मुँह से ये निम्नलिखित व्यथा-पूर्ण शब्द निकले। कवितावली, उत्तरकाण्ड, कवित्त १६६, पढ़िए—

चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर, पाइँ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं। वामदेव, राम को सुभाव सील जानि जिय, नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं। अधिभूत-वेदन विषम होत भूतनाथ, तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर हौं। मारिए तो अनायास कासी वास खास फल, ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं ॥१६६॥

अर्थ—हे शिव जी! मैं राजा रामचन्द्र का दास हूँ और तुम्हारा सुयश सुनकर और तुम्हारे चरणों के पास आकर गंगा के किनारे रहता हूँ। हे वामदेव! आप अपने मन में राम का शील-स्वभाव जानते ही हो और उनके साथ मेरा जो स्नेह का

सम्बन्ध है वह भी आप जानते ही हो। मैं केवल रामचन्द्र से ही भय खाता हूँ। हे भूतनाथ! मुझे बड़ी विषम आधिभौतिक पीड़ा हो रही है। मैं (तुलसीदास) अत्यन्त व्याकुल हूँ। मेरी रक्षा करो। यह पीड़ा मुझे बुरी तरह सता रही है। अगर आप मुझे मार डालें तो काशीवास का मुख्य फल मुझे बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाए। अगर आप को मुझे जीवित रखना हो तो ऐसी कृपा कीजिए जिससे मेरा शरीर नीरोग रहे। पुनश्च—

जीवे की न लालसा दयालु महदेव! मोहि, मालूम है तोहि मरिबेई को रहतु हौं। कामरिपु! राम के गुलामनि को काम तरु, अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं। रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को, भूतनाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं। ज्याइए तौ जानकी रमन जन जानि जिए, मारिए तो माँगी मीच सुधियै कहतु हौं।

अर्थ—रोग से पीड़ित होकर गोसाईं जी शिव जी से प्रार्थना करते हैं कि हे दयालु शिव जी! मुझे जीने की इच्छा नहीं है। आप को मालूम ही है कि मैं काशी में मरकर मोक्ष पाने के लिए ही रहता हूँ। हे कामदेव के शत्रु शिव जी! आप राम जी के भक्तों की इच्छाएँ पूरी करने के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं; अतएव मैं माता पार्वती सहित आप का सहारा चाहता हूँ। यह रोग भूत की तरह मुझे पीड़ित करता है, जिससे मेरे (तुलसीदास के) लिए सब प्रकार की असुविधा हो रही है। अतः हे भूतनाथ! मैं आप का चरण-कमल पकड़ता हूँ; आप मेरी रक्षा कीजिए। अगर आप मुझे सीतापति रामचन्द्र का भक्त जानकर जिला दें तो अच्छा ही है; नहीं तो मैं सच कहता हूँ कि अगर आप मुझे मार दें तो मुझे मुँह माँगी मौत मिलेगी। (क्योंकि मैं तो मरने के ही लिए काशी में रहता हूँ)।

कवितावली के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि गोसाईं जी के लिए उक्त रोग के कारण जीवन और मरण का प्रश्न हो रहा था। उस समय काशी जी में फैली हुई महामारी, गोसाईं जी के स्वरोग विषयक पूर्वोक्त व्यथा-पूर्ण उद्गार तथा हनुमान-बाहुक के निम्नलिखित उद्धरणों के आधार पर डाक्टर ग्रिअर्सन साहब ने अपना यह मत प्रकट किया है कि गोसाईं जी की मृत्यु प्लेग के कारण हुई तथा उनकी बाँह में गिल्टी निकली थी—

जानत जहान हनुमान कौ निवाज्योजन, मन अनुमान वलि बोल न बिसारिये। सेवा जोग तुलसी कबहुँ कहाँ चूक परी, साहब सुभाय कपि साहेब सँभारिये। अपराधी जानि कीजै साँसति सहस भाँति, मोदक मरै जो ताहि माहुर न मारिये। साहसी समीर के दुलारे रघुवीर जूके, **बाँह पीर महावीर वेगिही निवारिये ॥२०॥**

आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें, बढ़ी है बाँह वेदन सही न कहि जाति है। औषधि अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए, बादि भए देवता मनाये अधिकाति है। करतार, भरतार, हरतार कर्म काल, **को है जग जाल जो न मानत इताति है। चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत, ढील तेरी वीर मोहि पीर न पिराति है ॥३०॥**

हनुमान-बाहुक के इन कवित्तों से यह स्पष्ट है कि गोसाईं जी की बाहु-पीड़ा असह्य हो रही थी तथा उसकी निवृत्ति के लिए आप ने अनेक यंत्र, मंत्र, टोटके आदि किये एवम् देव-देवियों को मनाया, पर ये सभी उपाय निष्फल सिद्ध हुए और अन्त में वह पीड़ा धीरे-धीरे सारे शरीर में फैल गई जैसा कि हनुमान-बाहुक के निम्नलिखित कवित्तों से सिद्ध होता है—

पाँय पीर पेट पीर बाँह पीर मुख पीर, जर्जर **सकल शरीर पीर मई है। देव भूत पितर करम खल काल ग्रह, मोहि पर दवरि कमान कस**

दई है। हौं तो बिनु मोलहि बिकानो बलि वारे हीते, ओट राम-नाम की ललाट लिख लई है। कुंभज के किंकर विकल बूड़े गोखुरनि, हाय राम राय ऐसी नई कहुँ भई है ॥३८॥

जीवों जग जानकी जीवन को कहाये जन, मरिबो को बारानसी वारि सुरसरि को। तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसे ठाँउ, जाके जिए मुए सोच करि हैं न लरिको। मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत जन, मेरे मन मान है न हरको न हरि को। भारी पीर दुसह सरीर ते विहाल होत, सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूर करि को ॥४२॥

गोसाईं जी ने अपने रोग की शान्ति के लिए शिव, पार्वती, रामचन्द्र, हनुमान आदि सभी देव-देवियों से विनती की तथा जादू, टोना आदि सभी अन्धविश्वास-पूर्ण उपायों का भी आश्रय लिया; पर रोग में कुछ भी कमी नहीं दिखाई पड़ी; तब अंत में आप निम्नलिखित कवित्त रचकर मौन हो गए—

कहौं हनुमान सो सुजान राम राय सो, कृपानिधान संकर सो सावधान सुनिये। हरष विषाद राग रोष गुन दोष मई विरंची विरंचि सब देखियत दुनिये। माया जीव काल के करम के सुभाय के, करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये। तुमते कहा न होए हाहा सो बुझैये मोहि, हौंहूँ रहो मौन ही वयो सो जानि लुनिए ॥४४॥

इस प्रसंग में क्या मैं गोसाईं जी के अंध भक्तों तथा अन्य अन्धविश्वासी हिन्दू भाइयों से विनय-पूर्वक पूछ सकता हूँ कि यदि अपने किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना है तो फिर शिव, पार्वती, गणेश, दुर्गा, काली, राम, जानकी, हनुमान् आदि विविध देव-देवियों का, जिनकी लम्बी-लम्बी स्तुतियों के पुल, आप ने विनय-पत्रिका, रामचरितमानस आदि स्वरचित ग्रन्थों में बाँध दिये हैं, पूजा-पाठ करने से क्या लाभ ? यदि वे रचित

हमारे संकट-काल में हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते तो इनके प्रति हमारी सारी श्रद्धा-भक्ति निष्प्रयोजन क्यों नहीं ? यदि ये अपने अनन्य भक्त गोसाईं तुलसीदास जी के करुण-क्रन्दन को, जिन्होंने अपनी सारी जिन्दगी इन्हीं की सेवा-शुश्रूषा में बर्बाद की, सुनकर भी अपने कान तक नहीं हिलाये तो इनकी दृष्टि में संसारी माया में लिप्त इनके अन्य उपासक किस खेत की मूली हैं ? यदि कहो कि उक्त देवताओं की उपासना परलोक तथा जन्मान्तर में श्रेयस्करी होती है तो उस उपासना की निस्सारता प्रत्यक्ष भूत इह लोक में अपनी आँखों देख तथा कानों सुनकर कौन ऐसा विवेकहीन मनुष्य होगा जो परलोक तथा जन्मान्तर जैसे कपोल कल्पनाओं पर आस्था रखता हुआ उनके फेर में पड़े और अपना अमूल्य मानव जीवन, जिसके द्वारा अनेक लौकिक तथा प्रत्यक्ष फलप्रद पुण्य-कार्य सम्पादित हो सकते हैं, पूजा-पाठ में नष्ट करे ? गोसाईं जी अपने जीवन पर्यन्त इस मिथ्या विश्वास में फँसे रहे कि उक्त देवतागण, काम पड़ने पर, अपने भक्तों की सुध अवश्य लेते हैं, पर आप के इस भयंकर भ्रम की कलई तभी खुली होगी जब आप मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े अपने जीवन-काल की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे होंगे। क्या अन्धविश्वासी हिन्दू जनता गोसाईं जी के पूर्वोक्त निजी कटु अनुभव से यथार्थ लाभ उठाकर कवि-कल्पना-प्रसूत विविध देवताओं की पूजा-अर्च्चा से अब भी विरत होगी ? मैंने कतिपय हिन्दुओं को प्रति-दिन नियम-पूर्वक संकट-मोचन का पाठ करते देखा है, जिसमें 'को नहिं जानत है जग में प्रभु संकट मोचन नाम तिहारो', यह प्रार्थना हनुमान से बार-बार की गई है; अन्यों को छप्पय-रामायण पढ़ते देखा है, जिसमें 'कृपा करिए श्री रामचन्द्र मम हरिए सोक सन्तापना'

की रट बार-बार लगाई गई है; एवं किसी-किसी को हनुमान की प्रस्तरमयी मूर्त्ति के सामने बैठकर 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते हुए 'संकट हरै मिटै सब पीरा, जो सुमिरे अँजनी सुत बीरा' आदि चौपाइयों को बड़बड़ाते हुए सुना है। पर इन नासमझों को इतना भी मालूम नहीं कि ये हनुमान् एवं रामचन्द्र जब खुद गोसाईं जी को ही ऐन मौके पर कन्नी काटकर छोड़ भागे तो वे अन्यों का क्या उपकार कर सकते हैं ? कितने धूर्त्त तो हमारे भोले-भाले भाइयों को यह कहकर बहकाते हैं कि अरे भाई ! देवताओं की भक्ति, यदि सच्चे दिल से की जाए, तो कभी व्यर्थ नहीं जाती। पर जब इन धूर्त्तों से कोई यह पूछ बैठता है कि क्या गोसाईं जी रामचन्द्र, शिव, पार्वती, हनुमान् आदि देव-देवियों के झूठे भक्त थे जो इन देवताओं ने आप के लाख गिड़गिड़ाने पर भी प्लेग से आप की रक्षा न की, तो ये बगलें झाँकने लगते हैं। न मालूम आज कितनी सहस्राब्दियों से यह विवेक-शून्य हिन्दू जाति धूर्तों तथा पाखंडियों के मायाजाल में एक निरीह पक्षी-सी फँसकर नाना प्रकार के विचित्र रूप रंगवाले कपोल-कल्पित देव-देवियों का पूजन-भजन करती चली आई; पर इसकी दशा में कुछ भी सुधार दृष्टिगोचर न हुआ; बल्कि यह जाति दिन पर दिन गिरती गई और आज यह 'धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का', इस कहावत को चरितार्थ करती हुई इस भूवलय में अनाथ सी हो रही है और इसे मालूम नहीं कि शक्ति की अधिष्ठात्री दुर्गा, धन तथा वैभव की अधिष्ठात्री लक्ष्मी एवं विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती इसे सदा के लिए छोड़-छाड़कर द्वीपान्तरों में जा बसीं; कारण कि इस जाति ने इन देवताओं के वास्तविक स्वरूप को पहचाना नहीं; वास्तविक

पूजन-विधि को जाना नहीं; केवल स्वर्ग तथा मोक्ष जैसे कपोल-कल्पित मरु-मरीचिकाओं के पीछे जान देती रही।

रुद्रविंशति—मैं पहले कह आया हूँ कि काशी जी में प्लेग-देव का भयंकर प्रकोप हुआ था जिसके कारण तमाम हाहाकार मँचा हुआ था। गोसाईं जी की समझ में काशी की यह दुर्दशा स्वयं शिव जी करा रहे थे; कारण कि ऊट-पटाँग काम करना उनकी आदत है और इस पर तुर्रा यह कि आप की ही बीसी (विंशति) का दौरा भी था। कवितावली, उत्तरकाण्ड, कवित्त १७०, देखिए—

ठाकुर महेस ठकुराइनि उमा सी जहाँ, लोक वेदहू विदित महिमा ठहर की। भट रुद्रगन, पूत गनपति सेनापति, कलिकाल की कुचाल काहू तौ न हर की। बीसी विश्वनाथ की विषाद बढ़ो बारानसी, बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की। कैसे कहै तुलसी वृषासुर के वरदानि! बानि जानि सुधा तजि पियनि जहर की ॥१७०॥

अर्थ—जहाँ के मालिक शिव जी तथा मालकिन पार्वती जी के सदृश हैं; जिस स्थान की महिमा लोक और वेद दोनों में प्रकट है: जहाँ वीर भद्रादि शिव जी के गण योद्धा हैं; जहाँ स्वयं शिव जी के सुपुत्र गणेश और कार्त्तिकेय विराजमान हैं, वहाँ इस कलियुग की कुचाल को किसी ने नहीं रोका। इस रुद्र बीसी में शिव जी की पुरी में दुःख बढ़ गया है। शंकर (कल्याणकर्त्ता) जी के नगर की ऐसी दशा क्यों हुई, यह समझ में नहीं आता। उसको तुलसीदास कैसे कहें? हे भस्मासुर को वर देने वाले! आप की तो अमृत छोड़कर विष-पान करने की आदत जानी हुई है (अतः आप कलियुग को क्यों बरजें अथवा काशी के विषाद को क्यों दूर करें?)

रुद्र विंशति क्या वस्तु है, इसे पाठकों को समझाने के लिए मुझे कुछ ज्यौतिष शास्त्र संबन्धी चर्चा करनी पड़ेगी। गुरु (बृहस्पति) ग्रह अपनी मध्यम गति कलादि ४।५९ से जितने समय में एक राशि अर्थात् ३० अंशों को भोगता है, उतने समय का नाम एक गौरव (बार्हस्पत्य) वर्ष है जिसे ज्यौतिषिक भाषा में संवत्सर कहते हैं। इसका मान सूर्यसिद्धान्तानुसार सावन दिनादि ३६१।१।३६।१२ है। ऐसे-ऐसे ६० संवत्सरों का एक बार्हस्पत्य चक्र होता है। इन ६० संवत्सरों के नाम क्रमशः प्रभवादि रखे गए हैं, जिनमें से प्रभवादि २० संवत्सरों को ब्रह्म विंशति, सर्वजित् आदि २० संवत्सरों को विष्णु विंशति तथा शेष प्लवंग आदि २० संवत्सरों को रुद्र विंशति कहते हैं। अत. संवत्सर का नाम मालूम हो जाने पर इसका पता शीघ्र ही लग जाता है कि वह किस विंशति का है; पर संवत्सर का नाम सम्बन्धित विक्रमीय संवत् अथवा शकाब्द के द्वारा मालूम किया जाता है जिसके लिए यह नियम है—

विक्रमाब्द में से १३५ घटा देने से शकाब्द आता है। शकाब्द में से १५१४ निकाल देने से शेषाब्द आता है। शेषाब्द को २११ से गुणाकर गुणन-फल में १८००० का भाग देने से लब्धि-तुल्य राश्यादि चालन आता है। पुनः शेषाब्द, चालन तथा क्षेपक राश्यादि ३४।०।११।३८, इन तीनों का योग-फल लेने से इष्ट शकाब्द तक बृहस्पति के भुक्त राश्यादि निकल आते हैं। यदि योगफल में ६० से अधिक राशियाँ हों तो उनमें ६० का भाग देकर शेष को ही ग्रहण करना चाहिए। शेष राशि तुल्य गत संवत्सर होता है तथा अंशादि तुल्य वर्त्तमान संवत्सर का भुक्त भाग होता है, जिसे १२ से गुणा देने पर वर्त्तमान संवत्सर के भुक्त दिनादि तथा इस भुक्त दिनादि को

१२ मासों में से घटाने पर वर्त्तमान संवत्सर के भोग्य काल निकल आते हैं। भुक्त और भोग्य को क्रमशः मेषार्क के पूर्व और पश्चात् समझना चाहिए। पाठकों के सम्मुख इस नियम की शुद्धता दिखाने के लिए वर्त्तमान विक्रमाब्द २००१ का संवत्सर निकालता हूँ—

विक्रमाब्द २००१ – १३५ = शकाब्द १८६६; १८६६ – १५१४ = शेषाब्द ३५२; $\frac{३५२ \times २११}{१८०००}$ = चालन राश्यादि ४।३।४७।१२; क्षेपक = रा. ३४।०।११।३६; उक्त शेषाब्द + उक्त चालन + उक्त क्षेपक = बृहस्पति के भुक्तराश्यादि ३६०।३।५८।४८ = ३०।३।५८। ४८। ये बृहस्पति के भुक्तराश्यादि आए जिनसे मालूम हुआ कि ३०वाँ संवत्सर दुमुख बीत गया और ३१वाँ संवत्सर हेमलम्ब बीत रहा है। यह विष्णु बीसी है। काशी के किसी भी पंचांग के द्वारा इसकी जाँच कर लीजिए। हेमलम्ब के भुक्त और भोग्यकाल अनावश्यक समझ नहीं निकाले गए।

अब गोसाईं जी के पूर्वोक्त इस कथन की सत्यता की जाँच कीजिए कि जिस समय काशी में प्लेग के कारण हाहाकार मँचा हुआ था उस समय रुद्र बीसी थी। कितने विद्वान् प्रायः यही कहा करते हैं सवत् १६६५ से सम्वत् १६८४ तक ज्यौतिष-गणना के अनुसार रुद्र बीसी पड़ती है। अतः जब गोसाईं जी की मृत्यु संवत् १६८० में हुई तो वह रुद्र बीसी में हुई; पर गणित करने से यह बात गलत ठहरती है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार की हुई नीचे की क्रिया देखिए—

संवत् १६८० – १३५ = शकाब्द १५४५; १५४५ – १५१४ = शेषाब्द ३१; $\frac{३१ \times २११}{१८०००}$ = चालन राश्यादि ०।१०।५४।६; क्षेपक = रा. ३४।०।११।३६; तीनों का योगफल = रा. ५।११।५।४२ = वर्त्तमान छठां संवत्सर अंगिरा (ब्रह्म विंशति); अतः गोसाईं जी

की मृत्यु, ब्रह्मविंशति में हुई, न कि रुद्रविंशति में, जैसा कि लोग मान बैठे हैं। वस्तुतः रुद्रविंशति संवत् १६५४-५५ से लेकर संवत् १६७४-७५ तक पड़ी थी। आदि और अन्त दोनों में दो-दो संवत् इस कारण लिए गए कि प्लवंग और क्षय क्रमशः अंशतः दो दो संवतों में पड़े थे। सम्वत्सरों का मान सौर वर्ष के तुल्य न होने के कारण वे बहुधा मेषार्क से पहले वा पीछे आरंभ तथा समाप्त हुए करते हैं। यदि कोई संवत्सर मेषार्क से प्रारंभ हुआ तो वह आगामी मेषार्क से लगभग ४$\frac{1}{6}$ दिन पहले ही समाप्त हो जाएगा और यदि कोई संवत्सर मेषार्क को समाप्त हुआ तो ऐसा समझना चाहिए कि वह गत मेषार्क के लगभग ४$\frac{1}{6}$ दिन बाद प्रारंभ हुआ था। इस प्रकार प्रत्येक संवत् में दो-दो सम्वत्सर लिखने पड़ते हैं। कभी-कभी तो एक ही सम्वत् में तीन सम्वत्सरों का उल्लेख करने की नौबत पहुँचती है; जैसे मान लिया कि कोई सम्वत्सर मेषार्क के दो दिन बाद प्रारंभ हुआ तो वह आगामी मेषार्क से दो दिन पहले ही समाप्त होगा; इस दशा में एक सम्वत्सर सम्वत् के आदि में, दूसरा उसके मध्य में और तीसरा उसके अन्त में लिखना पड़ेगा।

मीन की सनीचरी—ऊपर की गणित क्रिया से मालूम हो गया कि संवत् १६८० में; जिसमें गोसाईं जी की मृत्यु हुई मानी जाती है, रुद्रबीसी न थी। वह तो आप की मृत्यु से लगभग ६ वर्ष पहले ही अर्थात् सम्वत् १६७४-७५ में समाप्त हो चुकी थी। इसी प्रकार कवितावली, उत्तरकाण्ड, १७७ में आप लिखते हैं कि काशी की दुर्दशा का एक और कारण है; वह है 'मीन की सनीचरी' अर्थात् मीन राशिस्थ शनि ग्रह. जिसका फल है राजा और प्रजा दोनों का नाश—

एक तो कराल कलिकाल सूल मूलता में, कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की। वेद धर्म दूरि गए भूमि चोर भूप भए, साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की। दूबरे को दूसरो न द्वार राम दया धाम! रावरी ही गति बलविभव-विहीन की। लागैगी पै लाज वा विराजमान विरुदहिं महाराज आजु जौन देत दादि दीन की ॥१७७॥

अर्थ—एक तो कलिकाल स्वयं ही भयंकर तथा दुःखों का मूल है; उस पर 'कोढ़ में की खाज की तरह' मीन की सनीचरी पड़ी है। वेद और धर्म्म का तो लोप ही हो गया। राजा लोग अपनी प्रजा की भूमि छीन लेते हैं। सज्जन लोग कष्ट पा रहे हैं। इसे भारी पाप का परिणाम जानिए। हे दयालु रामचन्द्र जी! दुर्बलों के लिए आप के सिवा किसी दूसरे का आश्रय नहीं है। बल और ऐश्वर्य से रहित मनुष्यों के लिए आप ही शरण हैं। हे महाराज! अगर आज आप दीनों की फरियाद न सुनेंगे तो निश्चय ही आप के उस सुशोभित यश को, (जिससे आप दीन-बन्धु कहलाते हैं), लज्जा लगेगी।

अब यहाँ पर फिर भी कुछ ज्यौतिष-शास्त्र-सम्बन्धी गणित करके इस बात की जाँच की जाती है कि गोसाईं जी की मृत्यु सम्वत् १६८० (शकाब्द १५४५) में शनिग्रह वस्तुतः मीन राशि पर थी कि नहीं। इस कार्य्य के लिए सर्वप्रथम उक्त शकाब्द १५४५ की चैत्र शुक्ल द्वितीया का ग्रह लाघवीय अहगण लाया तो वह चक्र ९ तथा अहर्गण १४७९ हुआ। इस पर मध्यम सूर्य राश्यादि ११।२१।०४६ तथा मध्यम शनि राश्यादि ३।१३।३०।२९ हुए। प्रथम शीघ्र केन्द्र रा. ८।७।३०।१७ तुलादि। प्रथम शीघ्र फलार्द्ध अंशादि २।४५।० ऋण। शीघ्र फलार्द्ध संस्कृत शनि राश्यादि ३।१०।४५।२९। शनि का मन्दोच्च

रा. ८।०।०।० ॥ शनि का मन्द केन्द्र रा. ४।१६।१४।३१ मेषादि। मन्दफल अंशादि ५।२६।० धन। मन्द स्पष्ट शनि रा. ३।१८।५६। २६। द्वितीय शीघ्र केन्द्र रा. ८।२।४।१७ तुलादि। द्वितीय शीघ्र फल अंशादि ५।२१।१८ ऋण। स्पष्ट शनि ३।१३।३५।११। इससे मालूम हो गया कि सम्वत् १६८० के प्रारंभ में ही शनि मीन राशि पर न होकर कर्क राशि के १४ वें अंश पर था। अब शनि की गति स्पष्ट करते हैं। शनि की मध्यम गति कलादि २।०। शनि के उक्त मन्द केन्द्र पर मन्दगति फल कलादि ०।१६ धन। मन्द स्पष्ट गति कलादि २।१६। उक्त चक्र शुद्ध शनि के द्वितीय शीघ्र केन्द्र पर शीघ्र गतिफल कलादि १।३६ ऋण। स्पष्ट गति कलादि ०।४०।

ऊपर के गणित से मालूम हो गया कि शनि मीन राशि को छोड़कर उसके आगे लगभग $३\frac{१}{२}$ राशि बढ़ गया है। मोटे तौर से शनि एक राशि पर $२\frac{१}{२}$ वर्ष रहता है। इस हिसाब से सम्वत् १६८० के प्रारंभ में ही उसको मीन राशि को छोड़े $३\frac{१}{२} \times २\frac{१}{२} = ८\frac{३}{४}$ वर्ष; अर्थात् लगभग ९ वर्ष बीत चुके थे। 'मीन की सनीचरी' वाला योग सम्वत् १६६९ से लेकर सम्वत् १६७१ तक में कहीं पर पड़ा होगा। जो चाहे, इसे गणित द्वारा जाँच लेवे।

गणित करने पर सम्वत् १६७० (शकाब्द १५३५) चैत्र शुक्ल द्वितीया का मध्यम सूर्योदय कालीन स्पष्ट शनि रा. ११।३।०।३६ (गति ८'।३") आता है, जिससे विदित होता है कि शनि सम्वत् १६७० के प्रारंभ में ही मीन राशि के तीसरे अंश को पार कर गया था; अतः सिद्ध हुआ कि वह सम्वत् १६६९ के कुछ मास बाकी रहते ही मीन में आ गया था। पूर्वोक्त दोनों गणित क्रियाओं में मध्य रेखा के प्रातः काल ६

बजे का शनि स्पष्ट किया गया है। स्वल्पान्तर के कारण काशी का देशान्तर संस्कार नहीं किया। जिन्हें वह अभीष्ट होवे ग्रहगति में ७५ का भाग दे कलादि लब्धि को ग्रह में ऋण कर देवें; जैसे (८'।३") ÷ ७५ = ०'।६" इत्यादि। शकाब्द १५३५ चैत्र शुक्ल द्वितीया का अहर्गण ०।६।२६।१; मध्यम सूर्य ११।११।४४।७ और मध्यम शनि ११।११।२।५२ था।

अब पाठकों को भलीभाँति मालूम हो गया होगा कि रुद्रविंशति तथा मीनस्थ शनि वाले योग गोसाईं जी की मृत्यु से कइ वष पहले पड़े थे जिनका आप ने अपनी कवितावली में उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि उक्त योगों के समाप्त हो जाने के बाद भी काशी में कई वर्षों तक प्लेगादि के उपद्रव बने रहे, जिसके फलस्वरूप गोसाईं जी की मृत्यु हुइ। यदि ऐसी बात है तो उक्त योगों का उक्त उपद्रवों के साथ कुछ भी कार्य्य-कारण का सम्बन्ध न था; अन्यथा उन योगों के अभाव में भी वे उपद्रव क्यों बने रहे? गोसाईं जी का उन्हें अनर्थों का मूल समझना केवल आप का, अन्य साधारण जनता की तरह अन्ध-विश्वास था। और यदि आप की मृत्यु उक्त योगों की विद्यमानता में हुई मानी जाए तो उसे लगभग संवत् १६७० के आस-पास में हुई मानना पड़ेगा। इस दशा में अब तक माना जाता हुआ आप का मृत्यु-संवत् १६८० संदिग्ध ठहरेगा। इस सम्बन्ध में विद्वानों को खोज करना चाहिए।

गोसाईं जी की रचनाएँ—अब गोसाईं जी की रचनाओं का कुछ उल्लेखकर इस परिच्छेद का उपसंहार करता हूँ। आप की समझी जाने वाली समस्त रचनाएँ तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) ली श्रेणी । इस श्रेणी में उन ग्रन्थों को रखना चाहिए जिनके तुलसी-कृत होने में सभी लेखक सहमत हैं; यथा—(१) रामचरितमानस, जिसे तुलसीकृत रामायण भी कहते हैं; (२) कवित्त रामायण वा कवितावली; (३) विनय-पत्रिका; (४) वैराग्य-संदीपनी, (५) पार्वती मङ्गल; (६) जानकी मङ्गल; (७) दोहावली; (८) गीतावली; (९) कृष्ण गीतावली; (१०) बरवै-रामायण; (११) रामलला नहछू और (१२) रामशकुनावली जिसे ध्रुव प्रश्नावली वा केवल रामाज्ञा भी कहते हैं।

महात्मा प्रियदास जी ने अपने निम्न-लिखित कवित्त में उक्त १२ ग्रन्थों को ही तुलसीकृत माना है—

रामलला नहछू[1] विराग संदीपनी[2] हूँ, बरवै[3] बनाई विरमाई मति साईं की। पार्वती,[4] जानकी मङ्गल,[5] ललित गाय, रम्य राम आज्ञा[6] रची कामधेनु नाईं की। दोहा[7] औ कवित्त[8] गीत[9] बन्धु कृष्ण कथा[10] कही, रामायन[11] विनै[12] माँह बात सब ठाईं की। जग में सोहानी जगदीश हूँ के मनमानी, सन्त सुखदानी वानी तुलसी गोसाईं की।

(२) री श्रेणी । इस श्रेणी में उन ग्रन्थों को रखना चाहिए जिन्हें शिवशिंह सरोजकार आदि महानुभाव तुलसीकृत मानते हैं; यथा—(१) तुलसी-सतसई जिसे राम-सतसई भी कहते हैं; (२) छन्दावली रामायण; (३) कुण्डलिया रामायण; (४) कड़खा रामायण; (५) छप्पय रामायण; (६) रोला रामायण; (७) झूलना रामायण; (८) रामशलाका; (९) संकटमोचन; और (१०) हनुमान बाहुक।

(३) री श्रेणी । इस श्रेणी में उन ग्रन्थों को रखना चाहिये जो अति ही अप्रसिद्ध हैं तथा जिनके तुलसीकृत होने में सन्देह है; यथा (१) अंकावली; (२) सूर्यपुराण; (३) गीता भाषा; (४) ज्ञान दीपिका; (५) पदावली रामायण; (६) मङ्गल

श्रावण, कृष्णपक्ष के प्रथम शनिवार की औदयिक तिथि ४ और तदुपरान्त ५ थी; तीज कभी नहीं। गणित देखिए—ग्रहलाघव सारिणी का अहर्गण ०।१०।२८।४८: इस पर क्षेपक युक्त तथा देशान्तर (काशी) संस्कारयुक्त मध्यम सूर्य ३।४।२६।१५ मध्यम चन्द्र १०।६।२०।२१। चन्द्रोच्च १।१६।१२।१४ स्पष्ट सूर्य ३।३।५१।४६ स्पष्टगति ५७।४ स्पष्ट चन्द्र १०।११।१३।३४ स्पष्ट गति ८०६।६। इस पर काशी में ६ बजे प्रातःकाल की औदयिक तिथि ४ तथा भोग्य घटीपल ५१।७ मिले। संवत् १६८० में अधिमास न था और अहर्गण के सर्व दिन संख्या ३७७२८ में ७ का भाग दे शेष ५ दिन भौमवार से गिनने पर शनिवार आता है; कारण कि ग्रह लाघवीय अहर्गण भौमवार से चलता है। बिना सूर्य चन्द्र को स्पष्ट किए स्थूल क्रम से भी शनिवार को तिथि ४ भोग्य घटीपल ५३।८ आते हैं जो प्रायः तुल्य ही हैं।

अथ द्वितीय परिच्छेद

क्या रामायण की कथा काल्पनिक है ?

इस परिच्छेद में 'रामायण' शब्द से किसी कवि विशेष की बनाई रामायण से मेरा अभिप्राय न होकर बल्कि रामायण मात्र से है, चाहे वह किसी की भी बनाई क्यों न हो; क्योंकि इस परिच्छेद में मुझे उस कथा की सत्यता की जाँच करनी है जो प्रायः सभी रामायणों में एक सी देख पड़ती है और जिसके आदिकर्त्ता महर्षि वाल्मीकि माने जाते हैं; अथवा थोड़े शब्दों में यों कहिए कि मुझे यहाँ पर यह विचार करना है कि राम और सीता कोई वास्तविक व्यक्ति थे वा उक्त ऋषिवर के उर्वर मस्तिष्क के उपजमात्र थे, जिनका आश्रय लेकर के उन्होंने रामायण जैसा एक अद्भुत महाकाव्य रच डाला और जिनकी देखा-देखी बाद के कवियों ने भी अपनी अपनी रामायण रच-कर अपना जीवन सार्थक किया।

'राम'-नाम की महिमा—राम और सीता, वस्तुतः काल्पनिक व्यक्ति हैं वा ऐतिहासिक, इस पर कुछ कहने के पूर्व्व मैं 'राम', बस केवल दो अक्षरों के इस छोटे से नाम के कल्पनातीत महत्त्व पर कुछ निवेदन कर देना चाहता हूँ। आस्तिक तथा धर्म्म-प्राण हिन्दुओं की भक्ति-पूर्ण दृष्टि में राम-नाम की महिमा वर्णनातीत है। यह पवित्र शब्द उनके लिए केवल एक अमूल्य निधि ही नहीं, वरन् उनका जीवन-सर्वस्व है। उठते-

बैठते, सोने-जागने, तथा चलने-फिरने वे सर्वदा इस नाम की मधुर रट में मग्न देख पड़ते हैं।

वह कौन-सा नाम था, जिसने दस्यु रत्नाकर द्वारा उलटा जपा जाकर भी उसे ब्रह्मविद्-वरिष्ठ तथा रामायण के आदिकर्त्ता महर्षि वाल्मीकि के रूप में परिणत कर दिया? वह कौन-सा नाम था, जिसकी परिक्रमाकर श्री गजानन अमर-मंडली में प्रथम-पूज्य बन गए? वह कौन-सा नाम था, जिसके बल पर साधु-शिरोमणि तथा भक्त-प्रवर प्रह्लाद ने अपने पिता द्वारा दी हुई दारुण यंत्रणाओं को भी तृणवत् तुच्छ समझा? वह कौन-सा नाम था, जिसने विमाता द्वारा तिरस्कृत बालक ध्रुव को नैराश्य के निविड़ान्धकार में भी आशा की ज्योति दिखाई? वह कौन-सा नाम था, जो राक्षसेन्द्र रावण के हृदय में एक भीषण विभीषिका रूप धारणकर काँटे की तरह सदा चुभता था? वह कौन-सा नाम है जिसका उच्चारण पद-पद पर कर श्मशान को जाते हुए आज भी आस्तिक हिन्दू अपने दिवंगत बन्धु-बान्धवों की वियोग-व्यथा को भूल जाते तथा संसार की असारता को घोषित करते हैं? इन सभी प्रश्नों का केवल एक ही उत्तर है—'राम'-नाम।

जब मैं राम-भक्ति-परायण हिन्दुओं की दृष्टि से इस जगत्-प्रसिद्ध नाम पर विचार करता हूँ, तो मुझे विदित होता है कि यह नाम भवानल के दारुण सन्ताप से दग्ध-हृदय जीवों के कल्याणार्थ पीयूष-वर्षी विधु-बिम्ब है; नैराश्य-महोदधि में डूबते-उतराते हुए असहाय प्राणियों के परित्राणार्थ एक सुदृढ़ जल-यान है; अविद्या-रूपिणी अन्धकारमयी रजनी में मार्ग-च्युत हो-कर इतस्ततः भटकते हुए प्राणियों की पथ-प्रदर्शिका एक सतत-प्रकाशा विद्युद्वर्त्तिका है; संसार के जटिल तथा दुश्छेद्य मोह-

उपदेश को धर्म्म रक्षणार्थ अपने पैरों से कुचल देने में तनिक भी आगा पीछा न किया। यह नाम उस महापुरुष का है जिसने राक्षस-राज्य (लंका) को राक्षस विभीषण के, वानर-राज्य (किष्किन्धा) को वानर सुग्रीव के तथा निषाद-राज्य (शृंगवेर) को निषाद गुह के हाथों में सौंपकर मनुष्य-मात्र की स्वातन्त्र्य-रक्षा एवं विश्ववन्धुता का एक अनुकरणीय उदाहरण दिखला दिया।

रामायण पर एक आलोचिका दृष्टि की आवश्यकता--पर श्रीरामचन्द्र तथा रामप्राण हिन्दुओं के लिए उनके सुधावर्षी नाम में उक्त सब गुणों का समावेश होते हुए भी उन लोगों में से कितने हैं जो रामायण को आलोचिका दृष्टि से पढ़ते हैं ? कितने हैं जो इस विश्व-विख्यात महाकाव्य के नायक राम तथा नायिका सीता की समकालीनता पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं ? कितने हैं जो इस अद्भुत ग्रन्थ के कथानक को 'आदि कवि' के उर्वर मस्तिष्क की उपज मात्र समझते हैं ? कोई नहीं। उनके लिए तो यह महापवित्र ग्रन्थ उक्त कवि-कुंजर के महामस्तिष्क से प्राप्त एक महारत्न है जिस पर तर्क करना पाप है। पर पाठकवृन्द ! सत्य के अनुसन्धान में सदा निर्भीक तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। अतः आइए, आज हम लोग तर्क की कसौटी पर हिन्दू जगत् के परमाराध्य देव सीता-राम की समकालीनता की जाँच करें और देखें कि रामायण की अमूल्य-शिक्षा-प्रदायिनी कथा का आधार वास्तविक घटनाएँ हैं अथवा कवियों की केवल ललित कल्पनाएँ।

रामचन्द्र तथा सीता की समकालीनता पर ही सर्व-प्रथम विचार करने का प्रस्ताव मैं ऊपर कर चुका हूँ। उनकी समकालीनता ही सारी कथा की आधार-शिला (Foundation

Stone) होगी; क्योंकि उन दोनों के समकालीन सिद्ध होने पर ही उन दोनों का पुण्य-विवाह-बन्धन में बँधा जाना; रावण द्वारा सीता के हरी जाने पर राम का उनकी विरह-व्यथा से विकल होकर बन-बन विलाप करते हुए उन्हें खोजते फिरना; सुग्रीव-जाम्बवान् आदि बानर-भालुओं की सहायता से राक्षस-राज का वध-पूर्वक सीता का पुनः प्राप्त होना, एवं फिर रामचंद्र का गर्भवती सीता को प्रजा के सन्तोषार्थ घर से विवासित करना, आदि सभी घटनाएँ सम्भव हो सकती हैं; अन्यथा नहीं। अब यहाँ यह देखना है कि किस उपाय से सीता-राम की समकालीनता की जाँच ठीक-ठीक हो सकती है। विचार करने से मालूम पड़ता है कि इस जाँच के लिए हमें पुराण-वर्णित

सूर्य-वंश की वंशावली

सूर्य-वंशीय नरपतियों की वंशावली की शरण लेनी पड़ेगी और तब इस बात का अनुमान करना होगा कि उक्त वंशावली को दुरुस्त मान लेने पर सीता और रामचन्द्र का जन्म एक काल में हुआ मानना कहाँ तक युक्ति युक्त तथा बुद्धि-संगत है। सूर्य-वंशीय राज घरानों का वर्णन विष्णु पुराण, श्रीमद्-भागवत आदि महापुराणों तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों में है। पर प्रामाणिकता की दृष्टि से अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा महापुराण ही, जैसा कि आगे चलकर दिखाऊँगा, सर्वोपरि है। यद्यपि राजवंशावलियों के कथन में उक्त ग्रन्थों का जहाँ-तहाँ मत-भेद देख पड़ता है; पर यह मत-भेद इतना प्रबल नहीं है कि वह अनुसन्धान-कर्त्ता को अपने लक्ष्य पर पहुँचने में किसी प्रकार की बाधा डाल सके। यह मत-भेद केवल दो-एक राजाओं के नाम तथा क्रम के विषय में है; जैसे किसी राजा के कई नाम होने से भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में यह भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित

किया गया है: उदाहरणतः इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि को कहीं पर विकुक्षि तो कहीं पर शशाद लिखा गया है; इसी प्रकार विकुक्षि के पुत्र पुरंजय के पुरंजय, इन्द्रवाह तथा ककुत्स्थ ये तीन नाम हैं। कहीं-कहीं संबन्ध भेद भी देख पड़ता है: जैसे युवनाश्व को किसी ग्रन्थ में विश्वगंधि का पुत्र तो किसी ग्रन्थ में विश्वगंधि के पुत्र चन्द्र (आर्द्र) का पुत्र, अर्थात विश्वगंधि का पौत्र, कहा गया है। पर इस प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी मूल पुरुष से चलकर किसी इष्ट राजा तक पीढ़ियों की संख्या प्रामाण्य ग्रन्थों में प्रायः एक ही है। इस प्रकार वंशावली को एक बार ठीक कर लेने पर हमें इस बात का बहुत कुछ ठीक-ठीक पता लग सकता है कि उसमें वर्णित किसी भी दो निदिष्ट व्यक्तियों के जन्म-काल में कितनी पीढ़ियों वा कितने वर्षों का अंतर हो सकता है।

ऊपर लिख आए हैं कि रामचन्द्र और सीता की समकालीनता पर विचार करने के लिए हमें सूर्य-वंशीय नरेन्द्रों की वंशावली का सहारा लेना होगा। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि उक्त दोनों व्यक्ति एक ही (सूर्य्य) वंश की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं के आभूषण माने गए हैं। इन दो शाखाओं में से एक की रंग-भूमि कोशल की राजधानी अयोध्या (अवध) तथा दूसरे की रंग-भूमि मिथिला की राजधानी जनकपुर थी; अतः अयोध्या के राजाओं को कोशलेश्वर तथा जनकपुर के राजाओं को मैथिलेश्वर कहते हैं। इन दोनों शाखा-राजवंशों के समान मूलपुरुष (Common Progenitor) इक्ष्वाकु मनु थे। इक्ष्वाकु के पुत्र थे—विकुक्षि और निमि। विकुक्षि की शाखा अयोध्या में तथा निमि की शाखा जनकपुर में राज्य करती थी।

को पूर्वोक्त विविध ग्रन्थों से मिलाकर जो इसका शुद्ध रूप ढूँढ़ निकाला है उसके अनुसार रामचन्द्र का जन्म विकुक्षि की शाखा में इक्ष्वाकु की ६०वीं पीढ़ी में हुआ दीख पड़ता है। पर आश्चर्य है कि भगवती सीता का पुण्य प्रादुर्भाव निमि की शाखा में इक्ष्वाकु की २४वीं पीढ़ी में ही हो जाता है। निम्नलिखित शाखा-वंशावलियों पर कृपा-दृष्टि डालिए--

विकुक्षि-शाखा—(१) इक्ष्वाकु—विकुक्षि (शशाद)—पुरंजय (इन्द्रवाह, ककुत्स्थ)—अनेना—पृथु—विश्वगन्धि—चन्द्र (आर्द्र)—युवनाश्व (प्रथम)—श्रावस्त—वृहदश्व—कुवलयाश्व–दृढ़ाश्व–हर्यश्व (प्रथम)–निकुम्भ—वर्णाश्व (संहताश्व, बहुलाश्व)—कृशाश्व—सेनजित् (प्रसेनजित्)—युवनाश्व (द्वितीय)—मान्धाता—पुरुकुत्स—त्रसदस्यु–अनरण्य–पृषदश्व–हर्यश्व (द्वितीय)—अरुण—त्रिबन्धन—सत्यव्रत (त्रिशंकु)—हरिश्चन्द्र—रोहित—हरित—चम्प (चञ्चु)—सुदेव—विजय—भरुक (रुरुक)—वृक—बाहुक—सगर—असमंजस—अंशुमान्–दिलीप (प्रथम)—भगीरथ—श्रुत—नाभ–सिन्धुद्वीप—अयुतायु–ऋतुपर्ण—सर्वकाम–सुदास—सौदास (कल्माष पाद, मित्रसह)–अश्मक—मूलक (नारी कवच)—दशरथ (प्रथम)—ऐडविड (इलिवल्)—विश्वसह—खट्वाङ्ग—दिलीप (द्वितीय वा दीर्घवाहु)—रघु—अज—दशरथ (द्वितीय)—राम=६० पीढ़ियाँ।

निमि-शाखा—(२) इक्ष्वाकु—निमि—मिथिल (जनक, विदेह)—उदावसु—नन्दिवर्द्धन—सुकेतु—देवरात—वृहद्रथ—महावीर्य—सुधृति—धृष्टकेतु—हर्यश्व—मरु (मरुत)—प्रतीप (प्रदीपक)—कृतरथ—देवमीढ़—विश्रुत (विस्तृत)—महाधृति—

किया गया है: उदाहरणतः इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि को कहीं पर विकुक्षि तो कहीं पर शशाद लिखा गया है; इसी प्रकार विकुक्षि के पुत्र पुरंजय के पुरंजय, इन्द्रवाह तथा ककुत्स्थ ये तीन नाम हैं। कहीं-कहीं संबन्ध भेद भी देख पड़ता है; जैसे युवनाश्व को किसी ग्रन्थ में विश्वगंधि का पुत्र तो किसी ग्रन्थ में विश्वगंधि के पुत्र चन्द्र (आर्द्र) का पुत्र, अर्थात विश्वगंधि का पौत्र, कहा गया है। पर इस प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी मूल पुरुष से चलकर किसी इष्ट राजा तक पीढ़ियों की संख्या प्रामाण्य ग्रन्थों में प्रायः एक ही है। इस प्रकार वंशावली को एक बार ठीक कर लेने पर हमें इस बात का बहुत कुछ ठीक-ठीक पता लग सकता है कि उसमें वर्णित किसी भी दो निर्दिष्ट व्यक्तियों के जन्म-काल में कितनी पीढ़ियों वा कितने वर्षों का अंतर हो सकता है।

ऊपर लिख आए हैं कि रामचन्द्र और सीता की समकालीनता पर विचार करने के लिए हमें सूर्य-वंशीय नरेन्द्रों की वंशावली का सहारा लेना होगा। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि उक्त दोनों व्यक्ति एक ही (सूर्य्य) वंश की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं के आभूषण माने गए हैं। इन दो शाखाओं में से एक की रंग-भूमि कोशल की' राजधानी अयोध्या (अवध) तथा दूसरे की रंग-भूमि मिथिला की राजधानी जनकपुर थी; अतः अयोध्या के राजाओं को कोशलेश्वर तथा जनकपुर के राजाओं को मैथिलेश्वर कहते हैं। इन दोनों शाखा-राजवंशों के समान मूलपुरुष (Common Progenitor) इक्ष्वाकु मनु थे। इक्ष्वाकु के पुत्र थे—विकुक्षि और निमि। विकुक्षि की शाखा अयोध्या में तथा निमि की शाखा जनकपुर में राज्य करती थी। मैंने सूय-वंशीय राजाओं की वंशावली

को पूर्वोक्त विविध ग्रन्थों से मिलाकर जो इसका शुद्ध रूप ढूँढ़ निकाला है उसके अनुसार रामचन्द्र का जन्म विकुक्षि की शाखा में इक्ष्वाकु की ६०वीं पीढ़ी में हुआ दीख पड़ता है। पर आश्चर्य है कि भगवती सीता का पुण्य प्रादुर्भाव निमि की शाखा में इक्ष्वाकु की २४वीं पीढ़ी में ही हो जाता है। निम्नलिखित शाखा-वंशावलियों पर कृपा-दृष्टि डालिए--

विकुक्षि-शाखा—(१) इक्ष्वाकु—विकुक्षि (शशाद)—पुरंजय (इन्द्रवाह, ककुत्स्थ)—अनेना—पृथु—विश्वगन्धि—चन्द्र (आर्द्र)—युवनाश्व (प्रथम)—श्रावस्त—बृहदश्व—कुवलयाश्व-दृढ़ाश्व-हर्यश्व (प्रथम)-निकुम्भ—बर्हणाश्व (संहृताश्व, बहुलाश्व)—कृशाश्व—सेनजित् (प्रसेनजित्)—युवनाश्व (द्वितीय)—मान्धाता—पुरुकुत्स—त्रसदस्यु-अनरण्य-पृषदश्व-हर्यश्व (द्वितीय)—अरुण—त्रिबन्धन—सत्यव्रत (त्रिशंकु)—हरिश्चन्द्र—रोहित—हरित—चम्प (चञ्चु)—सुदेव—विजय—भरुक (रुरुक)—वृक—बाहुक—सगर—असमंजस—अंशुमान्-दिलीप (प्रथम)—भगीरथ—श्रुत—नाभ-सिन्धुद्वीप—अयुतायु-ऋतुपर्ण—सर्वकाम-सुदास—सौदास (कल्माष पाद, मित्रसह)-अश्मक—मूलक (नारी कवच)—दशरथ (प्रथम)—ऐडविड् (इल्विल्)—विश्वसह—खट्वाङ्ग—दिलीप (द्वितीय वा दीर्घबाहु)—रघु—अज—दशरथ (द्वितीय)—राम=६० पीढ़ियाँ।

निमि-शाखा—(२) इक्ष्वाकु—निमि—मिथिल (जनक, विदेह)—उदावसु—नन्दिवर्द्धन—सुकेतु—देवरात—बृहद्रथ—महावीर्य—सुधृति—धृष्टकेतु—हर्यश्व—मरु (मरुत)—प्रतीप (प्रदीपक)—कृतरथ—देवमीढ़—विश्रुत (विस्तृत)—महाधृति—

कृतिरात—महारोमा—स्वर्णरोमा—ह्रस्वरोमा—सीरध्वज—सीता=२४ पीढ़ियाँ।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि 'जनक' और 'विदेह' पहले निमि-पुत्र राजा मिथिल के ही, जिन्होंने मिथिला बसाई थी, नामान्तर वा वैकल्पिक नाम थे; पर मालूम होता है कि बाद में उक्त दोनों नाम मिथिला के अन्य सभी राजाओं की कुलोपाधियाँ वा पदोपाधियाँ उसी प्रकार हो गए जिस प्रकार कैसर (Kaisar) जर्मनी के, ज़ार (Czar) रूस के, खदेव (Khedive) मिश्र के तथा ख़लीफ़ा (Caliph) बग़दाद के प्राचीन तथा भूतपूर्व शासकों की पदोपाधियाँ थे। ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने के कारण मिथिला के राजाओं की देहात्मबुद्धि बिल्कुल न थी; अतः वे 'विदेह' कहलाए तथा प्रजा को पिता (जनक) की तरह पालने के कारण वे 'जनक' उपाधि के भागी बने। जिन जनक (विदेह) को हल चलाते समय खेत में सीता जी प्राप्त हुई थीं; उनका वैयक्तिक नाम सीरध्वज था जैसा कि पूर्वोक्त निमि-शाखा की वंशावली से विदित होता है।

सीता-राम के जन्म-काल में ९०० वर्षों का अन्तर—अब पूर्वोक्त दोनों शाखा-वंशावलियों पर पाठक विचार करें और देखें कि इससे कौन-सा परिणाम निकलता है। रामचन्द्र का जन्म इक्ष्वाकु की ६०वीं तथा सीता का जन्म उन्हीं की २४वीं पीढ़ी में होता है; अर्थात् सीता का जन्म रामचन्द्र के जन्म से ६०−२४=३६ पीढ़ियाँ पूर्व पड़ता है! यदि प्रत्येक पीढ़ी का मान कम से कम औसत रूप से २५ ही वर्ष मान लिया जाए, तो रामायण के तथाकथित

नायक और नायिका के जन्म में, जिनके ऊपर इस भुवन-विख्यात महाकाव्य (Epic) का दारोमदार है, ३६ × २५ = ९०० वर्षों का अन्तर आता है; अर्थात् सीता का जन्म रामचन्द्र के जन्म से प्रायः एक हजार वर्ष पहले ही हुआ सिद्ध होता है; अथवा यों कहिए कि जिस समय पुत्र-प्राण वात्सल्य-मूर्त्ति माता कौशल्या अपने जीवन-धन शिशु रामचन्द्र को अपनी सौभाग्य-शालिनी गोद में लेकर उनके नवनीत-कोमलाङ्गों के सुख-स्पर्श से एक अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करती हुई उनके दुग्ध-पूर्ण मुख-कमल की मन्द-मन्द मुस्कान को देख-देखकर अपना जीवन धन्य मान रही थीं, उसके कई शताब्दियाँ पूर्व ही उनकी तथाकथित जीवन-सहचरी भगवती जनक-नन्दनी सीता की इह-लीला का संवरण हो चुका होगा; क्योंकि कोई भी मानव-प्राणी किसी भी युग में स्वकालीन ३६ पीढ़ियों तक जीवित नहीं रह सकता। इस तर्क-सरणी का अनुसरण करने से रामचन्द्र का शुभ विवाह जानकी के साथ और इसी प्रकार उनके छोटे भाई लक्ष्मणादि का विवाह उर्म्मिलादि अन्य मैथिल राजकुमारियों के साथ हुआ मानना आकाशपुष्प वा शशक-शृंग वा वन्ध्या-पुत्र की सत्ता में विश्वास करने की तरह केवल पागलपन जान पड़ता है।

पीढ़ी परिवर्त्तन की औसत आयु—रामायण की वार्त्ता त्रेतायुग से संबन्ध रखती है। यह मैं मानता हूँ कि आज-कल की अपेक्षा प्राचीन काल के मनुष्य दीर्घायु होते थे। पर किसी भी युग को लीजिए। एक जलवायु में पले उस युग के सभी मनुष्यों के लिए औसत पूर्णायु एवं बालिग होने की भी औसत आयु एक ही माननी पड़ेगी। यहाँ

बालिग़ा शब्द से मेरा अभिप्राय शरीर की उस अवस्था से है जिसमें सन्तानोत्पादन की क्षमता पूर्ण मात्रा में विकसित हो जाती है। इस स्थल पर यह भी मानना पड़ेगा कि वर्त्तमान काल में दो सहोदर भाइयों के बीच बड़ाई-छोटाई, बालिग़ा-वस्था, प्रजनन-प्रारंभकाल एवं पीढ़ी-परिवर्त्तनकाल का जितना अधिक से अधिक आपेक्षिक औसत अन्तर हुआ करता है उससे अधिक अन्तर प्राचीन काल में भी न होता होगा। यहाँ 'आपेक्षिक' शब्द ध्यान देने योग्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आजकल इधर ज्येष्ठ भाई की शाखा में प्रपौत्र वा अधिक से अधिक उसका भी पुत्र उत्पन्न होने से ५ पीढ़ियाँ उत्पन्न हो गई तो उधर उसके कनिष्ठ भाई की शाखा में अभी केवल पुत्र होने से दूसरी पीढ़ी का ही आरंभ हुआ है। इसी प्रकार पूर्वकाल में भी जानना चाहिए। एक ही वंश की दो शाखाओं के बीच पीढ़ियों का अन्तर इससे अधिक कहीं नहीं देखा गया और न यही कहीं देखा गया कि किसी भी वंश की दो शाखाओं के बीच पुश्त-दर-पुश्त यही नियम बराबर जारी रहकर उक्त अन्तर को बढ़ाता चला जाए। उक्त अन्तर सरीखी घटना किसी भी वंश में कदाचित् ही हुई करती है; बारबार नहीं। इसके अतिरिक्त हमें यह मान लेने का कोई भी प्राकृतिक, अतः मानव-बुद्धि के विश्वासयोग्य कारण नहीं देख पड़ता कि पीढ़ी परिवर्त्तन की शीघ्रता किसी एक ही शाखा की बपौती हो जाए और दूसरी शाखा खटाई में फुलती रहे। अतः हम अपनी कल्पना शक्ति की लगाम ढीलीकर उसे कितनी ही लम्बी से लम्बी छलाँग मारने की स्वच्छन्दता दे दें, पर इक्ष्वाकु की विकुक्षि-शाखा की ६०वीं पीढ़ी उनकी निमि-शाखा* की २४वीं पीढ़ी की समकालीन कदापि नहीं हो

सकती। और सीता-राम की समकालीनता के इस प्रकार खण्डित हो जाने से रामायण की जगमगाती हुई विशाल अट्टालिका की जड़ खुद जाती है, जिससे वह निरवलम्ब होकर धराशायिनी हो जाती है और उसके सभी अंग-प्रत्यंग चकनाचूर होकर 'धूर' में मिल जाते हैं।

सीता-राम की असमकालीनता का परिणाम

मालूम होता है कि महर्षि बाल्मीकि ने, जो रामायण की कहानी के आदि-प्रचारक हैं, सीता-राम नामक दो आदर्श स्त्री-पुरुष की कल्पनाकर उक्त कहानी पर ऐतिहासिक-रूप का मुलम्मा फेर देने के लिए उन्हें दो प्राचीन विख्यात राजवंशों के सन्तान-रत्न बताते हुए, विवाह के पवित्र बन्धन में बाँध दिया और रामायण-रूपी एक धुएँ का धौरहर खड़ा कर डाला, जो समालोचना की बयार के छूते ही छिन्न-भिन्न होकर अनन्त आकाश के गंभीर गर्भ में विलीन हो जाता है। कल्पित घटनाओं के उल्लेख से परिपूर्ण उपन्यासों पर इतिहास की कलई चढ़ा देना कोई अचंभे की बात नहीं है। प्रसिद्ध अंग्रेज़-कवि Sir Walter Scott का Marmion पढ़िए और देखिए कि उक्त महाकवि ने अपनी उक्त पद्यात्मक कहानी को किस कौशल के साथ एक ऐतिहासिक ढाँचे में ढाल दिया है। स्वर्गीय बङ्किम बाबू ने भी अपने कतिपय उपन्यासों को इसी प्रकार ऐतिहासिक रंग में रँग दिया है। अतः सच्ची समालोचना की दृष्टि से देखने पर रामायण का महत्त्व एक कल्पित घटनाओं से गुम्फित, पर शिक्षा-प्रद उपन्यास की अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं देख पड़ता।

एक प्रतिवादी का आक्षेप—पर श्रद्धालु तथा निष्ठावान् हिन्दू-जगत के जीवन-सर्वस्व इस महापवित्र ग्रन्थ का

दिखाला पुराण-वर्णित राजवंशावलियों के आधार पर इस प्रकार निकलते देख एक प्रतिवादी अधीर होकर मेरे इस अश्रुत-पूर्व आविष्कार पर यों आक्षेप करता है।

विद्वानों को सबसे पहले इस बात पर विचार करना चाहिए कि पुराण-कर्त्ताओं ने किसी भी राजवंश के सभी राजाओं का धारावाहिक रूप से और पूरे विवरण के साथ नामोल्लेख किया है कि नहीं; क्योंकि विष्णु-पुराण के चतुर्थ अध्याय के अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है—"एतइक्ष्वाकु भूपालाः प्राधान्येन मर्यादिताः" जिससे जान पड़ता है कि उसने सूर्य-वंश के केवल ख़ास-ख़ास राजाओं का ही नामोल्लेख किया है; सभी का नहीं। यही बात अन्य पुराणों में भी है। पुराणों में प्राचीन राजाओं के धारावाहिक वंशलता का वर्णन मिलना कठिन ही नहीं; प्रत्युत असंभव भी है। पुराणों में 'अमुक का पुत्र अमुक' लिखा अवश्य है; किन्तु उससे वहाँ 'अमुक-वंश-संभूत अमुक' को ही जानना चाहिए। अतः वर्त्तमान समय में प्राप्त वंश लताएँ केवल प्रधान-प्रधान व्यक्तियों के नामों के अनुसार प्रचलित हैं; पिता-पुत्र के अनुसार क्रम-बद्ध नहीं। यही कारण है कि आधुनिक ग्रन्थों में प्रचलित वंश लताओं को देखने से प्रायः सभी वंशों के राजाओं के काल-निर्णय में गोलमाल देख पड़ता है। सबसे ज़्यादा गोलमाल सूर्य-वंश में है। उदाहरण के लिए ब्रह्मा से लेकर रामचन्द्र तक की पीढ़ियों की संख्या यदि मिलाई जाए तो वह भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न देख पड़ेगी; यथा रामायण में ३६, ब्रह्म-पुराण में ५६, विष्णुपुराण में ६८, हरिवंश में ५६, शिवपुराण में ५३, श्रीमद्भागवत में ६७ और वृहद्धर्म्मपुराण में ४०। सूर्य-वंश के केवल एक ही व्यक्ति के विषय में इस अपार असामञ्जस्य

को देखकर उसके आधार पर सीता-राम की असमकालीनता का फ़तवा देना भूल है इत्यादि।

उक्त आक्षेप का उत्तर—इस पर मेरा नम्र निवेदन यह है कि प्रतिवादी का उक्त सभी ग्रन्थों को केवल पीढ़ी-संख्या में परस्पर मत-भेद रखने के कारण एकसाँ अमान्य बतलाना 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाली कहावत को केवल चरितार्थ करना है; क्योंकि ऐसा करने से मान्य ग्रन्थों के साथ घोर अन्याय होता है। जो जिसका प्रतिपद्य विषय है उसमें तो उसकी प्रामाण्यता अवश्य माननी पड़ेगी; जैसे औषध विषय में डाक्टर की तथा कानून-विषय में वकील की। इसी प्रकार वंश-वर्णन के विषय में केवल अष्टादश महापुराण तथा उनके बाद अष्टादश उपपुराण ही प्रमाण है; अन्य ग्रन्थ नहीं। स्वयं पुराणकारोक्त पुराणों के लक्षण मेरी इस दलील का समर्थन करते हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानु चरितं चेति, पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

अर्थ—जिस ग्रन्थ में सृष्टि, प्रलय के बाद पुनः सृष्टि. मन्वन्तर, देवताओं, दैत्यों तथा मानव राजाओं के वंश एवं उन वंशों के चरित का वर्णन हो, वही इन पाँच लक्षणों से युक्त ग्रन्थ पुराण है।

वंश-वर्णन में सभी ग्रन्थ एक-सा मान्य नहीं हैं—अब इस कसौटी पर प्रतिवादी द्वारा उल्लिखित रामायणादि पूर्वोक्त विविध ग्रन्थों को कसकर उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना चाहिए। रामायण, पुराणों से भिन्न ग्रन्थ है,

अतः उसकी वंश-चर्चा केवल उसकी अनधिकार-चर्चा है। यदि उसने किसी प्रसंग-विशेष-वश वंश-चर्चा कर भी दी तो वह प्रमाण-कोटि में स्वीकृत नहीं हो सकती। औषध निर्णय में वकील की सम्मति, वा कानून-निर्णय में डाक्टर की सम्मति अप्रमाण है। हरिवंश कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है; वह तो महाभारत का एक अंश मात्र है। सौति ने महाभारत का एक १९वाँ पर्व्व रचकर उसका नाम 'खिल'-पर्व्व रखा जो बाद में हरिवंश कहलाया। वृहद्धर्म्म-पुराण की गणना न महापुराणों में है, न उपपुराणों में ही। शिवपुराण संदिग्धावस्था में है। इसे कोई महापुराण मानता है तो कोई उपपुराण। श्रीमद्भागवत के अनुसार इसकी गणना महापुराणों में, पर देवी भागवत के अनुसार इसकी गणना उपपुराणों में है। इन सब कारणों से उक्त चार ग्रन्थ, अर्थात् रामायण, हरिवंश, वृहद्धर्म्मपुराण और शिवपुराण प्राचीन राजाओं के वंश-वर्णन में महापुराणों के मुकाबले कुछ भी मूल्य नहीं रखते। रामायण की वंशावली पर आगे चलकर पुनः विचार किया जाएगा।

शेष बच गए तीन ग्रन्थ—ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत। ये तीनों प्रसिद्ध महापुराणों में से हैं। अतः वंश-वर्णन के विषय में इनका महत्त्व पूर्व्वोक्त रामायणादि चार ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इन शेष तीनों ग्रन्थों में भी विष्णुपुराण (९८) और भागवत (९७) का प्रायः मतैक्य है, अतः इन दोनों की पीढ़ी-संख्या, अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा, मताधिक्य के न्याय से, अधिक माननीय है। इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रन्थों में पुराण के पूर्व्वोक्त पाँचों लक्षण पूर्णतः घटते हैं।

वंश वर्णन में महापुराणों की सर्वाधिक मान्यता—

शंका-वंश-वर्णन उपपुराणों का भी विषय है, अतः उन्हें भी प्रमाण क्यों नहीं माना जाए ? समाधान-वंश-वर्णन विषय में उन्हें भी प्रमाण मान सकते हैं, पर महापुराणों के मुकाबले में नहीं. कारण कि जैसे वारिस्टर और वकील दोनों का प्रतिपाद्य विषय कानून के होते हुए भी वारिस्टर वकील से अधिक महत्त्व रखता है, वैसे ही महापुराण उपपुराणों से अधिक माननीय हैं। 'महापुराण' इस शब्द से ही उनकी महत्ता सूचित होती है। पुराण-भिन्न ग्रन्थ, जैसे रामायण, महाभारत आदि तो इस विषय में उपपुराणों से भी कम महत्त्व रखते हैं।

अब आगे चलिए। ब्रह्मा से लेकर वैवस्वत मनु तक पीढ़ियों की संख्या ५ है; यथा—ब्रह्मा १, मरीचि २, कश्यप ३, विवस्वान् ४ और वैवस्वत ५। वैवस्वत के ही पुत्र इक्ष्वाकु हैं। अतः ५ पीढ़ियाँ घटा देने पर इक्ष्वाकु से लेकर रामचन्द्र तक पीढ़ियों की संख्या, विष्णुपुराण के अनुसार ६८–५=६३ तथा भागवत के अनुसार ६७–५=६२ आती है। प्रतिवादी महाशय सीता जी की पीढ़ी-संख्या २४ पर जिसे मैं पूर्वलिखित वंशावली में दिखा आया हूँ, कुछ भी आपत्ति अपने पूर्वोक्त आक्षेप में नहीं करते; अतः 'मौनं स्वीकार लक्षणम्' के न्याय से मेरा यह मान लेना अनुचित नहीं है कि आप भी इस पर सहमत हैं। अतः ६८ वा ६७, इन दोनों संख्याओं में से किसी को भी अंगीकार कर लेने से रामचन्द्र और जानकी के समय में मेरी गणना से भी अधिक अन्तर आता है; यथा—६८–२४=४४ वा ६७–२४=४३।

विष्णुपुराण—यहाँ पर विष्णुपुराण के विषय में उसका महत्त्व-सूचक कुछ और भी मैं निवेदन कर देना चाहता हूँ।

पाँचवीं शताब्दी की लिखी 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' नामक जैन-पुस्तक में लिखा है कि वायु, मत्स्य और विष्णुपुराणों की वंशावलियाँ सबसे अधिक माननीय हैं। अतः हमें कोई कारण नहीं दीखता कि उनकी वंशावलियों को अमान्य कहकर उनकी उपेक्षा कर दें। पर प्रतिवादी महाशय ने विष्णुपुराण के 'एत इक्ष्वाकु भूपालाः' वाले श्लोक की दुहाई देते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि उसमें केवल मुख्य-मुख्य राजाओं के ही नाम परिगणित किए गए हैं; सबों के नहीं। यदि सचमुच यही बात है तो यह संक्षिप्तीकरण व्यापार इक्ष्वाकु की विकुक्षी तथा निमि दोनों की ही शाखाओं पर एकसा लागू है। हमें यह गुमान कर लेने का कोई भी हक नहीं कि काट-छाँट केवल निमि-शाखा में ही हुई; विकुक्षि-शाखा ज्यों की त्यों अक्षुण्ण छोड़ दी गई जिससे रामचन्द्र का जन्म इक्ष्वाकु की ६०वीं तथा सीता जी का जन्म उनकी २४वीं पीढ़ी में हुआ-सा प्रतीत होने लगा। अतः दोनों शाखाओं में काट-छाँट का हुआ मानना अनिवार्य्य है, जिसका भी यही फल निकलता है कि रामायण के नायक-नायिका के जन्मकाल में पूर्वोक्त आपेक्षिक अन्तर (Relative Difference) ज्यों का त्यों बना रहा।

वंशावलियों का तथाकथित संक्षिप्तीकरण

इस प्रश्न का एक और भी पहलू है जिस पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। संभव है कि निमि-शाखा में विकुक्षि शाखा से कहीं अधिक नाम छोड़ दिए गए हों, जिससे राम-सीता के जन्म में ३६ पीढ़ियों का अन्तर देख पड़ने लगा। पर ब्रह्मविद्या की रंगभूमि जनकपुर के विख्यात राजवंश के विषय में ऐसी धारणा कर बैठना कि उसमें अधिकांश अयोग्य

एवं अगण्य राजा ही होते गए जो अयोग्यता के कारण नामावली से खारिज कर दिए गए. उस राजवंश के प्रति एक घोर अन्याय है। यदि केवल विकुक्षि शाखा में ही काट-छाँट का किया जाना मान लिया जाए; निमि शाखा में नहीं; तो विकुक्षि शाखा को पूर्ण करने के लिए जितने और राजाओं के नाम उसमें जोड़े जाएँगे उतना ही अधिक अन्तर राम-सीता के जन्मकाल में प्राप्त होगा। अतः 'प्राधान्येन मयोदिताः' का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सूर्यवंश के केवल मुख्य-मुख्य राजाओं के ही नाम वंशावलियों में पढ़े गए; अमुख्यों के नहीं; बल्कि उसका यह अर्थ है कि उन राजाओं के केवल मुख्य-मुख्य चरित ही अंकित किए गए; विस्तारभय से सब नहीं। इस तरह प्रतिवादी के पक्ष पर चाहे हम जिस पहलू से विचार करें, वह अवश्य गिर जाता है। उसके इस कथन से मैं कदापि नहीं सहमत हो सकता कि पुराणों में जहाँ-जहाँ 'अमुक का पुत्र अमुक' लिखा हो, वहाँ-वहाँ उससे 'अमुक का वंशभूत अमुक' का ही भाव लेना चाहिए; क्योंकि यदि उसके इस फार्मूला (Formula) का प्रयोग किया जाए तो रामचन्द्र राजा दशरथ के बेटा, पोता, परपोता आदि सब कुछ हो सकते हैं। प्रतिवादी जी ने पुराणों के रहस्योद्‌घाटन के लिए हम लोगों को एक अच्छी युक्ति बतलाई, जिसके लिए आप को धन्यवाद है !

राज्यकाल और पीढ़ी में भेद—कितने अन्य महाशय रामचन्द्र और सीता की समकालीनता सिद्ध करने के लिए एक दूसरी ही युक्ति लड़ते हैं। वे भ्रमवश पीढ़ी और राज्यकाल को एक ही वस्तु समझकर सीता-राम की प्रतीयमान काल-भिन्नता की वास्तविक एकता इस तर्क तथा युक्ति से सिद्ध

किया चाहते हैं कि जितने समय में विकुक्षि शाखा में ६० राजाओं ने राज्य किया उतने ही समय में निमि शाखा में केवल २४ राजाओं ने ही राज्य किया; अतः रामचन्द्र और सीता को समकालीन मानने में कोई अड़चन नहीं है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि निमि शाखा के प्रत्येक राजा का राज्यकाल औसत मान से विकुक्षि शाखा के प्रत्येक राजा के औसत शासन-काल से २½ गुणा अधिक था, जिससे निमि शाखा के केवल २४ राजाओं का ही राज्यकाल विकुक्षि शाखा के ६० राजाओं के राज्यकाल के बराबर हो गया। उदाहरणार्थ यदि विकुक्षि शाखा का औसत राज्यकाल १० वर्ष माना जाए तो निमि-शाखा का औसत राज्यकाल २५ वर्ष मानना होगा; यथा ६०×१०=६०० वर्ष और २४×२५=६०० वर्ष इत्यादि। इस पर मेरा यह निवेदन है कि राज्यकाल (Period of Reign) और पीढ़ी (Generation), दोनों पूर्णतः दो भिन्न पदार्थ हैं। राजा के प्रजा शासनकाल को राज्यकाल कहते हैं, और किसी भी व्यक्ति की सन्तान-परम्परा में प्रत्येक सन्तान, वा जहाँ एक से अधिक समकक्ष संतान हों, वहाँ वैसी सन्तानों का प्रत्येक समुदाय, एक-एक पीढ़ी है। मेरा इससे कुछ भी अभि-प्राय नहीं कि किस राजा ने कितने समय तक राज्य किया, वा सगर-पुत्र असमंजस की तरह वह राजगद्दी पर बैठा कि नहीं। मेरा तो अभिप्राय केवल यही दिखाने का है कि यदि सूर्यवंश की परम्परा में पीढ़ी-परिवर्त्तन-काल की, अथवा स्पष्ट भाषा में यों कहिए कि सन्तानोत्पादन काल की औसत (Average) न कि वास्तविक (Actual) आयु २५ वर्ष ही मान ली जाए तो सीता-राम के समय में ९०० वर्षों का अन्तर आता है। एक उदाहरण लीजिए—विजयी विलियम

(William the Conqueror) और सम्राट् पंचम जार्ज (Emperor George V) की जन्मतिथियों के वर्षात्मक अन्तर में व्यतीत पीढ़ी-संख्या का भाग देने से प्रत्येक पीढ़ी की औसत आयु निकलेगी। यदि किसी प्रतिवादी के सन्तोषार्थ त्रेतायुग के कारण औसत आयु को २५ से अधिक मान लें तो गुणक के आधिक्य से गुणनफल भी अधिक होगा; यथा—यदि औसत आयु ५० वर्ष मानी जाए तो सीता-राम के समय में ३६×५०=१८०० वर्षों का अन्तर होगा जिससे मेरे ही पक्ष की और भी अधिक पुष्टि होगी।

वाल्मीकीय रामायण की वंशावली प्रक्षिप्त है— कुछ लोग ऐसे भी हैं जो—वाल्कीय-रामायण-वर्णित विकुक्षी और निमि की वंशावलियों के आधार पर ही रामचन्द्र और सीता की समकालीनता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। ये वंशावलियाँ बालकाण्ड में उनके विवाह के समय क्रमशः वशिष्ठ और जनक (सीरध्वज) के मुँह से कहवाई गई हैं। पर ये वंशावलियाँ दृष्टि पड़ते ही प्रक्षिप्त और जाली जान पड़ती हैं। महर्षि वाल्मीकि, जो रामायण के रचयिता हैं, राजा दशरथ के परम मित्र थे। वे अवश्य दशरथ की वंशावली भली भाँति जानते थे। अतः वे कभी भी उनकी एक अशुद्ध वंशावली वशिष्ठ के मुँह से कहलवा सकते। इस वंशावली में परस्पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध रखते हुए नहुष और ययाति भी रामचन्द्र के ही (और सो भी समीपी) पूर्वज दिखलाए गए हैं। ये दोनों पिता-पुत्र सूर्य-वंश में नहीं, बल्कि चन्द्र-वंश में, विख्यात राजा हो गए हैं। नहुष वे थे जिन्होंने इन्द्र पद प्राप्तकर स्वयं इन्द्राणी से विवाह करने की ठानी थी; और उनके पुत्र ययाति थे जिन्होंने बुढ़ापे में भी विषय-तृष्णा से व्याकुल होकर अपने पुत्रों से यौवन उधार माँगा था।

वस्तुतः ये दोनों पिता-पुत्र कृष्णचन्द्र के पूर्वज थे, न कि रामचन्द्र के। यदि कहा कि एक नाम के दो भिन्न व्यक्तियों का दो भिन्न वंशों में उत्पन्न होना असम्भव नहीं है तो सो बात यहाँ पर नहीं है; यहाँ तो एक नहीं, बल्कि दो-दो व्यक्तियों के नामों के साथ-साथ उनके पारस्परिक पिता-पुत्र के सम्बन्ध की भी एकता दीख पड़ती है, जिसे ग्रहण करने के लिए किसी भी सत्य-जिज्ञासु की आत्मा तैयार नहीं हो सकती। प्रतिलोम (नीचे से ऊपर की ओर जानेवाली) गणना में रामचन्द्र के समीपी पूर्वज, प्रामाण्य ग्रन्थों के अनुसार क्रमशः ये हैं—दशरथ १, अज २, रघु ३, दिलीप (दीर्घबाहु) ४, खट्वाङ्ग ५ आदि; न कि दशरथ १, अज २, नाभाग ३, ययाति ४, नहुष ५ आदि। रामायण में रघु, दिलीप और खट्वाङ्ग की जगह क्रमशः नाभाग, ययाति और नहुष के नाम लिखे हैं जो एकदम ग़लत हैं। मालूम होता है कि किसी मूर्ख ने सच्ची वंशावली का ज्ञान नहीं रखने के कारण रामायण में एक जाली तथा अपूर्ण वंशावली घुसेड़ दी। ऐसी जाली वंशावली के आधार पर रामायण के नायक रामचन्द्र और नायिका सीता की समकालीनता सिद्ध करने की चेष्टा बिलकुल बेकार है।

पुराणोक्त वंशावलियों की प्रामान्यता और उपयोगिता—महापुराणोक्त राजवंशावलियों की प्रामाण्यता पर कुछ और भी विचार करना शेष रह गया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन, एवं प्राच्य तथा पाश्चात्य, सभी विद्वानों ने हिन्दू सभ्यता की आयु तथा प्राचीन राजवंशों का काल-निर्णय करने के लिए, प्रागैतिहास कालीन भारत में किसी सन्-सम्वत् के अभाव के कारण, उक्त वंशावलियों का ही सहारा लिया है; यहाँ तक कि पुराणों को समूलोत्पाटनार्थ कटि-बद्ध स्वामी दयानन्द भी अपने

आर्य राजाओं के वंश-वर्णन में हार-दाँवकर पुराणों के ही पैरों पर जा गिरे हैं। सचमुच यदि पुराणों की वंशावलियाँ मानने योग्य नहीं, तो उनकी कौन सी बातें मानने योग्य हैं ? उनकी प्रायः सभी बातें, जैसे दही, दूध, घी आदि के समुद्रों का होना, पहाड़ों का पक्षियों की तरह उड़ना, जामुन के वृक्ष में हाथी जैसे फलों का लगना, पुरुष का बच्चा पैदा करना, पुरुष से स्त्री एवं स्त्री से पुरुष हो जाना, हनुमान का सूर्य निगल जाना आदि, असम्भव तथा सृष्टि-नियम के प्रतिकूल होने से, विश्वास के अयोग्य ही मालूम पड़ती हैं। हाँ, यदि उनमें विश्वास-योग्य कुछ बातें हैं तो केवल वंशावलियाँ ही हैं। और पुराणों में भी उपपुराणों की अपेक्षा महापुराण ही इस विषय में अधिक माननीय हैं।

रामायण की कथा के कल्पित सिद्ध होने पर उसका अन्तिम परिणाम—रामायण की कथा हम हिन्दुओं के ही माननीय ग्रन्थों के आधार पर इस तरह काल्पनिक सिद्ध होते देखकर हमारा क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक है। इस दशा में हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपनी रामायण जैसे अद्वितीय पवित्र ग्रन्थ को समालोचकों की निष्ठुर लेखनी के प्रचण्ड आघातों से बचावें। जो सीता-राम आज ३० करोड़ हिन्दू-हृदयों के आराध्य देव बने हैं; जिन सीता-राम की पवित्र विरुदावली को कवियों ने कविता द्वारा, चित्रकारों ने चित्र द्वारा, तथा शिल्पियों ने मूर्त्ति द्वारा सर्वसंहारी प्रबल काल के कराल कवलों से सुरक्षित कर अपना जीवन सफल किया है; जिन सीता-राम के मङ्गल-मय नाम पर आज असंख्य हिन्दू नर-नारी अहर्निश योग, जप, तीर्थ, व्रत, दान,

सुखार्थ रामचन्द्र की सुन्दर कथा का विस्तार बोल-चाल की भाषा में करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि गोसाईं जी ने जो कुछ 'रामचरित-मानस' में लिखा है वह वेदादि सच्छास्त्रों के अनुकूल है तथा उसके आधार बाल्मीकीय रामायण तथा अन्यान्य ग्रन्थ हैं जिनमें रामकथा वर्णित है। इस अद्भुत महाकाव्य-ग्रन्थ का अनुशीलन करने से पता चलता है कि गोसाईं जी ने इसकी रचना में अपने से पूर्वकाल के प्रायः सभी कवियों की कृतियों का आश्रय लिया है जिन्होंने रामकथा पर अपनी लेखनी उठाई है; यथा—(१) बाल्मीकीय रामायण, (२) अध्यात्म रामायण, (३) महारामायण, (४) हनुमन्नाटक, (५) प्रसन्न-राघव, (६) श्रीमद्भागवत, (७) शिवपुराण, (८) वाराह-पुराण, (९) उत्तर रामचरित, (१०) योगवाशिष्ठ, (११) कुमार संभव, (१२) भुसुंडी रामायण, (१३) चाणक्य-नीति, (१४) हितोपदेश, (१५) मेघदूत, (१६) कठोपनिषद्, (१७) भगवद्गीता इत्यादि। इस सूची में उन ग्रन्थों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनके पद्यों को गोसाईं जी ने अपने प्रकरण में लाकर कहीं तो उनका अविकल अनुवाद और कहीं उनका भावानुवाद किया है, जो 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत को चरितार्थ कर देता है; यद्यपि उन पद्यों का रामायणीय कथा से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। आप अपने से पूर्व के कवियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट करते हैं—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।

अति अपार जे सरितवर, जे नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलका परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गोसाईं जी ने कतिपय स्वकल्पित आख्यायिकाओं से भी काम लिया है, जिनसे 'मानस' की मनोहरता और भी बढ़ गई है। वस्तुतः गोसाईं जी की उपमा विविध-कुसुम-रस-रसिक उस चञ्चरीक से देनी चाहिए जो नानाविध पुष्पों के मधुर तथा सौरभमय रसों का संग्रहकर एक विचित्र तथा अमृतोपम मधु-धारा बहा देता है। अब यहाँ पर पूर्वोक्त आधार ग्रन्थों पर विचार किया जाता है—

(१) वाल्मीकीय रामायण। जिन लोगों की यह धारणा है कि गोसाईं जी ने उक्त आर्षरामायण को ही हिन्दी के दोहे, चौपाई आदि पद्यों में उल्था कर दिया है, वा कम से कम, आपने अधिकांशतः उसी का अनुगमन किया है, वे पूरे भ्रम में हैं। तथा ऐसे लोगों से घोरतर भ्रम में तो वे लोग हैं जो यह कहा करते हैं कि वाल्मीकि ने रामचन्द्र को केवल एक आदर्श महापुरुष माना है; न कि ईश्वर का कोई अवतार-विशेष। 'रामचरितमानस' का उक्त आर्षरामायण से कहाँ-कहाँ भिन्नता है, यह तो आगे चलकर दिखलाया जाएगा। पहले आर्षरामायण से रामचन्द्र का विष्णु का अवतार होना ही सिद्ध किया जाता है। वाल्मीकीय रामायण, बालकान्ड, सर्ग १५ पढ़िए। राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में अपना-अपना भाग लेने के लिए ब्रह्मा-विष्णु-प्रभृति सभी देवगण पधारे हैं। देवताओं ने रावण के अत्याचारों से अत्यन्त दुःखित होकर अपने दुखड़े का फ़रियाद ब्रह्मा द्वारा विष्णु से किया है और उनसे अपनी रक्षा चाही है—

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो, लोकानां हितकाम्यया। राज्ञो दशरथस्यत्व मयोध्याधिपतेर्विभो ॥१६॥ धर्मज्ञस्य वदान्यस, महर्षि समतेजसः। अस्य भार्य्यासु तिसृषु, ह्री श्री कीत्युपमासु च ॥२०॥ विष्णो पुत्रत्व मागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्। तत्रत्वं मानुषो भूत्वा, प्रवृद्धं लोककंटकम् ॥२१ अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्। इत्यादि।

अर्थ—हे विष्णो! लोक-कल्याण के लिए हम (देवता) लोग यह भार आप पर देते हैं। हे प्रभो! अयोध्या के राजा महाराज दशरथ को॥ १६॥ जो धर्म्मज्ञ हैं, दाता हैं, तथा महर्षियों के समान तेजस्वी हैं, तीनों रानियों में, जो श्री, ह्री और कीर्त्ति के समान हैं॥ २०॥ हे विष्णो! आप अपना चार भाग करके पुत्र-भाव को प्राप्त करें वहाँ मनुष्य बनकर आप उस समस्त संसार के बढ़े हुए शत्रु ॥२१॥ रावण को, जो देवताओं से अवध्य है, युद्ध में अवश्य मारें इत्यादि।

पुनश्च वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १८ में लिखा है—

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्। लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दभिस्वनम् ॥११॥ कौसल्या शुशुभेतेन, पुत्रेणा मिततेजसा। यथा वरेण देवानामदितिं वज्रपाणिना ॥१२॥ भरतो नाम कैकेय्यां, जज्ञे सत्यपराक्रमः। साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥१३॥ अथ लक्ष्मण शत्रुघ्नौ सुमित्रा जनयत्सुतौ। इत्यादि।

अर्थ—इक्ष्वाकुवंश में विष्णु के आधे भाग से पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी आँखें और ओठ लाल, स्वर दुन्दुभितुल्य थे ॥११॥ कौसल्या उस महातेजस्वी पुत्र से, देवराज वज्रपाणि इन्द्र से अदिति की तरह शोभित हुई ॥१२॥ कैकेयी में साक्षात् विष्णु के चौथे भाग से भरत उत्पन्न हुए, जो सत्य पराक्रम तथा सभी

गुणों से सम्पन्न थे ॥१३॥ इसके बाद सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न को उत्पन्न किया। इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वाल्मीकि रामादिकों को विष्णु के ही अंशावतार मानते थे। पर गोसाईं जी के राम विष्णु के नहीं; बल्कि असंख्य ब्रह्मा-विष्णु-महेशों को उत्पन्न कर नष्ट करने वाले स्वयं परब्रह्म के ही अवतार हैं। इसके अतिरिक्त दोनों रामायणों में और भी कितनी भिन्नताएँ हैं। महर्षि ने युद्धकांड (लंका काण्ड) में ही भरत-मिलाप, अयोध्या प्रवेश, रामाभिषेक, रामराज्य वर्णन तथा रामायण-माहात्म्य लिख दिया है। वाल्मीकीय-रामायण की रचना बतला रही है कि वह युद्ध काण्ड के साथ ही समाप्त हो जाती है, उत्तर काण्ड, जिसमें सीता-परित्याग, रामाश्वमेध, शम्बूकादि की कथाएँ वर्णित हैं, प्रक्षिप्त जैसा प्रतीत होता है।

और भी देखिए। वाल्मीकि ने रामचन्द्र के द्वारा परशुराम का पराभव विवाह के पश्चात् राजा दशरथ के घर लौटते समय मार्ग में कराया है। पर गोसाईं जी ने परशुराम की छीछालेदर जनकपुर की रङ्गभूमि में ही सब राजाओं के सामने अपने चरितनायक की अतुलित महिमा की छाप उन पर डालने के लिए करा दी है। वाल्मीकि ने जयन्त की कथा जानकी के मुँह से सुन्दरकाण्ड में हनुमान से कहलाई है जिसमें हनुमान उसका उल्लेखकर रामचन्द्र को सीताजी से अपनी भेंट होने का प्रमाण दे सकें। वाल्मीकि ने सेतु बाँधने पर शिव की स्थापना नहीं लिखी है, केवल लंका से लौटते समय रामचन्द्र ने पुष्पक विमान पर से सीताजी को समुद्र तट दिखाते हुए यही कहा है—

'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसाद मकरोद्विभुः सेतुवन्धमितिख्यातम्'।

अर्थ—यहाँ पर पूर्व में महादेव जी मुझ पर प्रसन्न हुए थे और यह स्थान सेतुबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

वाल्मीकि युद्धकाण्ड में ही भरतमिलाप, रामाभिषेकादि सब कुछ लिख देते हैं, पर गोसाईं जी इन सबका वर्णन उत्तर-काण्ड में करते हैं। वाल्मीकि के अनुसार जयन्त ने सीताजी के स्तन-मध्य में चोंच मारी थी, पर गोसाईं जी के मत से उसने उनके चरण को आहत किया था। वाल्मीकि ने रावण की शक्ति लगने पर लक्ष्मण का मूर्छित होना, रामचन्द्र का उनके लिए विलाप करना तथा सुषेण के आदेश से हनुमान का सजीवन पर्व्वत पर से औषधि लाकर लक्ष्मण को स्वस्थ करना लिखा है, पर गोसाईं जी ने ये सभी बातें लक्ष्मण को मेघनाद की शक्ति लगने पर लिखी हैं।

(२) अध्यात्मरामायण। किसी किसी का मत है कि गोसाईं जी ने 'मानस' की रचना अध्यात्म रामायण के आधार पर की है। इस रामायण की कथा ब्रह्माण्ड पुराण, उत्तर खंड में मिलती है जिसे सूत जी ने ऋषियों से कही है। प्रारम्भ में नारद ब्रह्मा का सम्वाद रचकर नारद द्वारा पापी कलियुगी जीवों के उद्धारार्थ ब्रह्मा जी से उपाय पुछवाया गया है और ब्रह्मा जी ने शिव-पार्वती के रामायण-विषयक सम्वाद का उल्लेख करते हुए अध्यात्म रामायण तथा तंत्र वर्णित रामहृदय और रामगीता का माहात्म्य वर्णन किया है। यह सारी रामायण उमा-महेश्वर के सम्वाद रूप में है जिसे शिव ने पार्व्वती के रामचन्द्र विषयक शंका समाधानार्थ कही है। संभवतः इसी सम्वाद के विषय में गोसाईं जी ने लिखा है—

'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाखा'

और उसी सम्वाद को लेकर व्यास जी ने ज्यों का त्यों उसे उक्त पुराण में मिला लिया है। प्रायः अध्यात्म रामायण की ही तरह गोसाईं जी ने कलियुग का वर्णन किया है और रावण द्वारा असली सीता की प्रतिनिधि-भूत माया सीता का हरण तथा राम द्वारा रामेश्वर स्थापन कराया है। अन्य रामायणों की अपेक्षा इन दोनों रामायणों में केवल इतना ही साम्य है; अन्यथा परशुराम-पराभव, जयन्त-निग्रह, लक्ष्मण-मूर्च्छा, भरत-मिलाप, सीता-परित्याग, रामाश्वमेधादि कथाओं के विषय में अध्यात्म-रामायण 'मानस' से भेद पर वाल्मीकीय रामायण से ऐक्य रखता है।

(३) महारामायण। इस रामायण के निम्नलिखित पद्यों को देखिए—

(क) मुग्धे शृणुष्व मनुजेऽपि सहस्र मध्ये,
धर्म्मव्रती भवति सर्व समान शीलः।
तेष्वेव कोटिषु भवे द्विषये विरक्तः,
सद्वासको भवति कोटि विरक्त मध्ये ॥१॥
ज्ञानीषु कोटिषु नृजीवनकोऽपि मुक्तः,
कश्चित् सहस्र नर जीवनमुक्त मध्ये।
विज्ञानरूप विमलोऽप्यथ ब्रह्मलीन,
स्तेष्वेव कोटिषु सकृत खलु रामभक्तः ॥२॥

(ख) निर्वर्ण रामनामिदं केवलं च स्वरादिकम्।
सर्वेषां मुकुटं छत्रं मकारो रेफ व्यंजनम् ॥

इन पद्यों के साथ 'मानस' के निम्न-लिखित पद्यों को मिलाइए—

(क) नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म्म-व्रत धारी ॥
धर्म्म शील कोटिन्ह महँ कोई। विषय-विमुख विराग-रत होई ॥

कोटि विरक्त मध्यश्रुति कहई। सम्यक् ज्ञान सकृत कोउ लहई॥
ज्ञानवन्त कोटिन्ह महँ कोई। जीवन मुक्त सकृत कोउ सोई॥
तिन सहसन महँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म-निरत विज्ञानी॥
धर्म्मशील विरक्त अरु ज्ञानी। जीवन-मुक्त ब्रह्म-पर प्रानी॥
सबते सो दुर्लभ मुनिराया। राम भक्ति रत गत मद माया॥

(ख) एक छत्र एक मुकुट मनि, सब वरनन पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, वरन विराजत दंउ॥

(४) हनुमन्नाटक।

(क) श्रृणुत जनक कल्पाः क्षत्रियाः शुल्क मेते, दश वदन भुजानां कुंठिता यत्र शक्तिः। नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन, त्रिभुवन जय लक्ष्मीजिनकी तस्य दारा॥

(ख) आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपनयः सर्वेसमभ्यागताः, कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्त्तेश्च लाभः परः। नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः केनापीदमहोमहद्ध नुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥

(ग) कमठपृष्ठ कठोर मिदं धनुर्मृदुलमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः। कथमधिज्यमनेन विधीयता महह! तातपणः सुदारुणः॥

(घ) पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगमधारयैनां, त्वं कूर्मराजतदिदं द्वितयं दधोथाः। दिक्कुंजराः कुरुत तत्त्रितयं दिधीर्षां, रामः करोतिहरकार्मुक मातज्यम्॥

(ङ) रे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुनावीज्य मानाः, रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धः। विम्बोष्ठी चारु नेत्रा सुविपुल जघना बद्धनागेन्द्र कांची, हा! सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान् केन दृष्टा।

(च) रामः स्त्रीविरहेण हारित वपुस्तच्चिन्तया लक्ष्मणः।

सुग्रीवोऽमादशल्यभेदक तया निर्मूल कूलद्रुमः। गण्यः कस्य विभीषणः सचरिपोः कारुण्यदैन्यातिथिलंकातंक विटंक पावक बपुर्वध्यो ममैकः कपिः।

रामचरितमानस--

(क) रावण बान महाभट भारे। देखि सरासन गँवहिं सिधारे॥
सोइ पुरारि को दंड कठोरा। राज समाज आज जो तोरा॥
त्रिभुवन जय समेत वैदेही। बिनहिं बिचार बरे हठि तेही॥

(ख) दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो प्रन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज शरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥
दोहा—कुँअरि मनोहर विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय॥

चौपाई--कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न शंकर चाप चढ़ावा॥
रहे उठाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर विहीन मही मैं जानी।

(ग) अहह तात दारुण हठ ठानी। समुझत न ह कछु लाभ न हानी॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात कठोरा॥

(घ) दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहँहि संकर धनु तोरा। सजग होहु सुनि आयसु मोरा॥

(ङ) हा गुन खानि जानकी सीता। रूप-सील-ब्रत-नेमु-पुनीता॥
लछिमनु समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम देखे सीता मृगनैनी॥
(आशय मात्र)।

(च) तव प्रभु नारि बिरह बल हीना। अनुज तासु दुख दुखित मलीना॥
तुम सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ।
शिल्प कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा बल शीला॥
आवा प्रथम नगर जेहि जारा। सुनि हँसि बोला बालिकुमारा॥

(५) प्रसन्न-राघव नाटक (जयदेव कृत)—

(क) झगिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामह विषयान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत । अपि कथमसौ मुञ्चे देनं न चेद वगाहते, रघुपतिगुणग्राम श्लाघा सुधामय दीर्घिकाम् ॥

(ख) बाणस्य बाहु शिखरं परिपीड्यमानं नेदं धनुश्चलति किंचिद-पीन्दुमौलेः । कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-रभ्यर्थितं प्रकृति चारु मनः सतीनाम् ॥

(ग) भो ब्रह्मन्! भवता समं न घटते संग्राम वार्त्तापिनः। सर्वे हीन बला वयं वलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि। यस्मादेक गुणं शरासनमिदं सुव्यक्त मुर्वीभुजामस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ॥

(घ) हिमांशुश्चण्डांशुर्नव जलधरो दावदहनः । सरद्वीचीवातः कुपित फणिनिः श्वास पवनः । नवा मल्ली भल्ली कुवल यवनं कुन्तदहनं ममत्वद्विश्लेषात् सुमुखि विपरीतं जगदिदम् ॥

(ङ) कुरु सकरुणां चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते। दहन कणिका मेकां तावन्मम प्रकटी कुरु। ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्, नव किसलय श्रेणी व्याजान् कृशानुशिखावलिम् ।

(च) विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन। स्पृशति नहि मदीयं कंठ सीमानमन्यः । रघुपति भुजदंडादुत्पलश्याम कान्ते-र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वाकृपाणात् ।

(छ) चन्द्रहास हर मे परितापं । रामचन्द्र विरहानल जातम् ॥ त्वंहि कान्ति जितमौक्तिकचूर्णं । धारयावहसि शीतलमम्भः ।

(ज) मयूर नखर त्रुटत्तिमिर कुंभिकुंभस्थलोच्छलत्तरल तारका कपटकीर्णमुक्ताकणः । पुरन्दर हरिद्दरी कुहरगर्भ सुप्तोत्थित-स्तुषारकर केसरी गगनकाननं गाहते ॥

रामचरितमानस—

(क) भक्ति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत शारद आवति धाई॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए॥

(ख) भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥
डिगे न शंभु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥

(ग) हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु तो कहाँ चरन कहँ माथा॥
देव एक गुण धनुष हमारे। नौगुन परम पुनीत तुम्हारे॥

(घ) राम वियोग कहेउ तव सीता। मो कहँ सकल भयेउ विपरीता॥
नव तरु-किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय विपिन कुंत वन सरिसा। वारिद तप्त तेल जनु वरिसा॥
जेहि तरु रहिए करत तेइ पीरा। उरग साँस सम त्रिविध समीरा॥

(ङ) सुनिए विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देइ अगिनि तन करहु निदाना॥

(च) स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करि कर सम दसकन्धर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान प्रन मोरा॥

(छ) चन्द्रहास हरु मम परितापा। रघुपति विरह अनल सन्तापा॥
सीतल निसि तव असि वर धारा। कह सीता मम हरु दुख भारा॥

(ज) पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम-कुंभ विदारी। ससि केसरी गगन वन चारी॥
बिथुरे नभ मुक्ता हलतारा। निसि सुन्दरी करे सिंगारा॥

(६) श्रीमद्भागवत—इस ग्रन्थ के कतिपय श्लोकों के भावार्थ को किञ्चित परिवर्त्तन के साथ गोसाईं जी ने रामचरितमानस में प्रसंगवश जहाँ तहाँ ले लिया है। दशम स्कन्ध के २०वें अध्याय में वर्षा और शरद् ऋतुओं का वर्णन पढ़िए—

(क) श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः। तुष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥

(ख) आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशष्यतीः । पुंसो यथाऽस्वतंत्रस्य देह द्रविण सम्पदः ॥

(ग) मार्गा वभूवुः संदिग्धा स्तृणैश्छन्नाह्यसंस्कृताः । नाभस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः काल हता इव ॥

(घ) मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखंडितः । गृहेषु तप्ता निर्विं-यथाऽच्युत जनागमे ॥

रामचरितमानस—

(क) दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई । वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ॥
(ख) छुद्र नदी भरि चलि उतराई । जस थोरे धन खल बौराई ॥

(ग) हरित भूमि तृण-संकुल, समुझि परै नहिं पंथ ।
जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त भए सद्ग्रन्थ ॥

(घ) लछमन देखहु मोरगन, नाचत वारिद पेखि ।
गृही विरति रत हरख जस, विष्णु भक्त कहँ देखि ॥

(७) शिवपुराण—

(क) मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः । अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं पूजयेत् सदा ॥

(ख) चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि प्रतिव्रताः ।
स्वप्नेऽपियन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम् ॥
नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमासा प्रकीर्तिता ।
या पितृ भ्रातृ-सुतवत् परं पश्यति सद्धिया ॥
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ।
बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न ।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति ॥

रामचरितमानस—

(क) मातु पिता भ्राता हितकारी, मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ।
अमित दानि भर्त्ता वैदेही, अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

(ख) जग प्रतिव्रता चारि विधि अहहीं। वेद पुराण सन्त अस कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचार समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भए ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥

(८) वाराह-पुराण—

जन्मेदं व्यर्थतां नीतं, भव भोगोपलिप्सया।
काच मूल्येन विक्रीतो हन्त! चिन्तामणिर्मया॥

रामचरितमानस—

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होंहि विषय रत मन्द मन्दतर॥
काच किरिच बदले जिमि लेहीं। करते डारि परसमणि देहीं॥

(९) उत्तर रामचरित—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि कोनु विज्ञातु मर्हसि॥

रामचरितमानस—

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।
चित खगेस रघुनाथ अस, समुझि परै कछु काहि॥

(१०) योगवाशिष्ट—गोस्वामी तुलसीदास अपने दार्शनिक विचारों के लिए योगवाशिष्ट एवं अध्यात्म रामायण के ऋणी हैं।

(११) कुमार-संभव—महाकवि कालिदास कृत इस महाकाव्य से पार्वती के जन्म, तपस्या शिवजी से उनके विवाहादि की कथा ली गई है।

(१२) भुसुंडी-रामायण—इस रामायण से गरुड़-काक-सम्वाद लिया गया है।

(१३) चाणक्यनीति—

(क) असत्यं साहसं माया, मात्सर्यं चातिलुब्धता । निर्गुणत्वमशौचत्वं, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।

(ख) पतितोऽपिद्विजः श्रेष्ठो, न च शूद्रो जितेन्द्रियः । निर्दुग्धा चापि गौःपूज्या, न च दुग्धवती खरी ।

रामचरितमानस—

(क) नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक अशौच अदाया ॥

(ख) पूजिए विप्र शील गुण हीना । शूद्र नाहिं गुण-ज्ञान प्रवीना ॥
दुष्टी धेनु दुही सुनु भाई । साधु रास भी दुही न जाई ॥

(१४) हितोपदेश—

वैद्यो गुरुश्च मंत्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदः ।
शरीरधर्म्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परि हीयते ॥

रामचरितमानस—

सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस ।
राज धर्म तनु तीन कर, होइ वेगि ही नास ॥

(१५) मेघदूत—

धूमः ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः ।

रामचरितमानस—

सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥

(१६) कठोपनिषद्—

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्य चक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।

रामचरितमानस—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना ।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा इत्यादि ।

(१७) भगवद्गीता—

(क) यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युग युगे ॥

(ख) संभावितस्य चा कीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।

(ग) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

रामचरितमानस—

(क) जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

(ख) संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥

(ग) जो तनु धरेउ तजेउ पुनि, अनायास हरियान।
जिमि नूतन पट पहिरि के, नर परि हरै पुरान ॥

(१८) स्फुट श्लोक—

(क) मूकं करोति वाचालं, पंगुलंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ॥

(ख) नमस्तस्मै कृतायेन पुण्या रामायणी कथा।
सदूषणमपि निर्दोषा, सखरापि सुकोमला ॥

(ग) अंजलिस्थानि पुष्पाणि, वासयन्ति करद्वयम्।
अहो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा ॥

(घ) नहि वन्ध्या विजानाति, गुर्वीं प्रसक्वेदनाम् ॥

(ङ) या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति ॥

(च) शत्रुर्दहति संयोगे, वियोगे मित्र सप्यहो।
उभयोर्दुःख दायित्वं को भेदः शत्रुमित्रयोः ॥

(छ) पांडित्यं चापलं वचः।

(ज) शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः ।
धर्म्मं वक्ष्यन्त्य धर्म्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥
(झ) कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां, कलौतद्धरिकीर्त्तनात् ॥
(ञ) बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ॥
(ट) सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पंडितः ॥
(ठ) पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्व्वं भावेन परलोक ममायया ॥

रामचरितमानस—

(क) मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमल हरण ॥
(ख) वन्दौ मुनि पद कंज, रामायण जिन निरमयउ ।
सरवर सुकोमल मंजु, दोष-रहित दूषण-सहित ॥
(ग) वन्दौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोय ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोय ॥
(घ) बाँझ कि जान प्रसव की पीरा ॥
(ङ) गिरा अनैन नैन बिनु वानी ॥
(च) वन्दौ संत असज्जन चरणा । दुख प्रद उभय बीच कछु वरना ॥
मिलत एक दारुण दुख देही । विछुरत एक प्रान हर लेही ॥
(छ) पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
(ज) शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना । बैठि वरासन कहहिं पुराना ॥
शूद्र द्विजहिं उपदेसहिं ज्ञाना । मेलि जनेउ लेहिं कुदाना ॥
(झ) कृतयुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु योग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नामते पावहिं लोग ॥
(ञ) आरत काह न करहिं कुकरमू ॥
(ट) अरध तजहिं बुध सरवस जाता ॥

(ठ) भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहिं सर्व भाव छल त्यागी॥

(१६) पुनश्च स्फुट श्लोक—

(क) उदर्कं भूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थी चन्द्र लेखेव परस्त्री भालपट्टिका ॥

(ख) मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥

(ग) सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

(घ) शास्त्र सुचिन्तितमपि प्रतिचिन्तनीयं,
स्वाराधितोऽपिनृपतिः परिशङ्कनीयः ।
अङ्केस्थितापि युवती परिरक्षणीया,
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥

(ङ) भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः ॥

(च) पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यानि गूहति गुणान् प्रकटी करोति ।
आपद्गतं न च जहाति ददातिकाले,
सन्मित्रलक्षण मिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

(छ) परोक्षे कार्य्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुंभं पयोमुखम् ॥

रामचरितमानस—

(क) जो आपन चाहसि कल्याना। सुगति सुमति समुचित विधि नाना॥
तौ परनारि लिलार गोसाईं। तजहु चौथ चन्दा की नाईं॥

(ख) जननी जोवन विटप कुठारी॥

(ग) कोउ न काहु दुख सुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

(घ) शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिए। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिए।
राखिए नारि यदपि उर माहीं। युवती शास्त्र नृपति वश नाहीं॥

(ङ) फल भरि नम्र विटप सब, रहे भूमि नियराई॥

(च) कुपथ निवार सुपन्थ चलावा। गुन प्रकटे अवगुनहिं दुरावा॥

विपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह सन्त मित्र गुण एहा॥
(छ) आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥
अस कुमित्र परि हरे भलाई।

(२०) पुनश्च श्रीमद्भागवत—

(क) श्रीकृष्ण के लिये—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः। स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो सतां क्षिति भुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराड् विदुषां तत्वं परं योगिनां, वृष्णीनां पर देवतेति विदितः रङ्गं गतः साग्रजः॥

(ख) दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्य धनोऽपिवा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लेकेप्सुभिरपातकी॥

(ग) कलेर्दोषनिधेराजन्नरित्त ह्येको महान्गुणः। कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परंव्रजेत्॥

रामचरितमानस—

(ख) रामचन्द्र के लिये—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं भूप महारण धीरा। मनहु वीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल जो नृप भेखा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥
पुरवासिन देखे दोउ भाई। नर भूषण लोचन सुखदाई॥

दोहा—नारि विलोकहिं हरखि हिए, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥

चौपाई-विदुषन प्रभु विराट मय दीसा। बहुमुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित विदेह विलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥
योगिन परम तत्त्व मय भासा। शान्त शुद्ध मन सहज प्रकासा।

हरि भक्तन देखे दोउ भ्राता । इष्ट देव इव सब सुख दाता ॥
रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥
(ख) वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
(ग) सुनु व्यालारि कराल कलि, मल अवगुन आगार ।
गुनौ बहुत कलिकाल कर, बिनु प्रयास निस्तार ॥

'मानस' का नाम-करण—'रामचरितमानस' के आधार-ग्रन्थों पर विचारकर अब उसके इस नामकरण पर विचार किया जाता है। गोसाईंजी ने स्वकृत रामायण को यह नाम देने का कारण स्वयं ही बता दिया है—

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ उमासन भाखा ॥
ताते 'रामचरितमानस' वर । धरेउ नाम हिए हेरि हरखि हर ॥

अभिप्राय यह कि शंकर ने राम-कथा रचकर उसे अपने मानस (मन) में रख ली और प्रसन्न होकर उसका नाम 'रामचरितमानस' रख दिया और उसी के अनुकरण में गोसाईं जी ने भी अपनी रामायण के नाम वही रख लिया। पुनश्च—

'रामचरित मानस यहि नामा । सुनत स्रवन पाइए विस्रामा ॥
रामचरितमानस मुनि भावन । विरचेउ संभु सुहावन पावन ॥'

वस्तुतः शिवरचित रामायण का ही नाम 'रामचरितमानस' था; गोसाईं जी ने तो उस नाम की नकल कर ली है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शिव-रचित 'रामचरित-मानस' की पोथी कहाँ है। गोसाईं जी के आधार पर यह तो मालूम हुआ कि शिव ने रामायण की कथा रचकर अपने मन में रख लिया; अर्थात् लेख-बद्ध नहीं किया। पर जैसे सभी वेदशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ, जिनका पठन-पाठन लेखन-कला के आविष्कार के पूर्व, मौखिक हुआ करता था, उस कला के

आविष्कृत होने पर लेख-बद्ध कर दिए गए, वैसे ही शिव-रचित 'रामचरितमानस' आज तक लेख-बद्ध हुआ कि नहीं ? यदि नहीं हुआ तो कम से कम यह तो मालूम होना चाहिए उसका मौखिक पठन-पाठन वर्त्तमान काल में कहीं होता है कि नहीं; यदि नहीं होता तो यही क्यों नहीं मान लिया जाए कि शिव-रचित 'रामचरितमानस' एक कपोल-कल्पित ग्रन्थ है जिसका अस्तित्व कभी भी नहीं था। यदि कहो कि ग्रन्थ था; पर नष्ट हो गया तो इसका प्रमाण ही क्या है ?

इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार हो सकता है। शिव ने सचमुच यदि कोई रामायण रची होगी तो संस्कृत में ही रची होगी; क्योंकि वही देव-वाणी है। और पूर्व में मैं कह आया हूँ कि अध्यात्म-रामायण 'उमा-महेश्वर-सम्वाद' के रूप में है तथा और कोई भी प्राचीन रामायण इस रूप में नहीं है; अतः यही क्यों नहीं मान लिया जाए कि अध्यात्म रामायण का ही वैकल्पिक नाम 'रामचरितमानस' है ? यही शिवरचित 'रामचरितमानस' है, जिसे व्यास ने ब्रह्माण्ड-पुराण में मिला लिया। पुनश्च—

'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥
सोइ शिव काग-भुसुण्डिहिं दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा ॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भारद्वाज प्रति गावा ॥

इससे यह आशय निकलता है कि शिव ने रामकथा को रचकर उसे पार्वती को सुनाई। पुनः उन्होंने ही उस कथा को काकभुसुंडी से, काकभुसुंडी ने याज्ञवल्क्य से और याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कहा; अर्थात् काकभुसुंडी को यह कथा शिवजी से प्राप्त हुई। पर काकभुसुंडी अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त गरुड़ से कहते हुए, लोमश ऋषि से जो उसका सम्वाद

हुआ था, उसको लेकर यों कहता है—'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा'; जिससे यह मालूम होता है कि काकभुसुंडी ने इस कथा को लोमश ऋषि से, न कि शिव से, सुना था। गोसाईं जी को दो परस्पर-विरोधी बातें लिखने में ज़रा सा भी आहस नहीं मालूम होता था और सबसे अचम्भे की बात तो आपने तब लिख मारी है जब आपने पार्वती के पूछने पर शिवजी से इस कथा को काकभुसुंडी से सुनना कबूल कराया है। उत्तरकाण्ड में पार्वती के पूछने पर कि 'तुम केहि भाँति सुना मद नारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी ॥' शिवजी ने कहा है—'मैं जिमि कथा सुनी भव मोचन। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचन ॥' इत्यादि, जिससे जान पड़ता है कि शिवजी ने यह कथा पहले-पहल काकभुसुंडी के आश्रम पर उसी के मुख से हंस का शरीर धारण कर सुनी। पार्वती के प्रश्न में 'केहि भाँति' और शिव के उत्तर में 'जिमि' शब्द ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि उनसे स्पष्ट हो जाता कि इस घटना के पहले शिवजी राम-कथा से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। अतः मालूम नहीं होता कि शिव और काकभुसुंडी में कौन गुरु है और कौन चेला है।

मानस की कथा-वस्तु—अब 'रामचरितमानस' की कथा-वस्तु (Plot) पर विचार किया जाता है; यद्यपि इस सम्बन्ध में मानस के आधार-ग्रन्थों पर प्रकाश डालते समय पूर्व में कुछ लिखा भी जा चुका है। किसी भी कथा, कहानी वा नाटक आदि की क्रमबद्ध घटनावली का नाम कथा-वस्तु है। इस घटनावली को दृष्टि में रखते हुए 'रामचरितमानस' का वाल्मीकीय आदि अन्य रामायणों के साथ कितना साम्य और कितना वैषम्य है यह पूर्व में ही देखाया जा चुका है। इन

घटनाओं के अतिरिक्त गोसाईंजी ने अपने 'मानस' में कितने मन-गढ़न्त, अतः निर्मूल पर रोचक आख्यायिकाओं को भी समाविष्ट कर लिया है जिनका उद्देश्य केवल अवतारवादादि जैसे अन्धविश्वासों की जड़ अन्धविश्वासी जनता के मस्तिष्क में खूब मजबूत कर देना है। आप खुद इस घोर अन्धविश्वास के शिकार थे कि प्रत्येक कल्प में रामावतार हुआ करता है तथा भिन्न कल्पों में रामावतार होने के कारण भी भिन्न-भिन्न होते हैं; एवं भिन्न-भिन्न व्यक्ति रावण, कुम्भकर्ण, दशरथ, कौशल्या आदि के रूप में अवतीर्ण होते हैं; पर राम सदा वही रहते हैं। इस अन्धविश्वास की पुष्टि में आपने सती-मोह, नारद-मोह आदि कल्पित आख्यायिकाओं की रचना कर उन्हें मानस में घुसेड़ दी हैं जिन्हें सीधी-सपाटी जनता प्रमाण-कोटि में मान बैठी है। पर पूछना तो यह है कि यदि प्रत्येक कल्प में रामावतार, दशरथ, कौशल्या आदि होते हैं तो प्रत्येक कल्प में रामचन्द्र के अनन्य भक्त तुलसीदास जी भी, 'रामचरितमानस' रचकर उनके विमल यश का गान करने के लिए अवश्य प्रकट होते होंगे; क्योंकि ये आपके ही वचन हैं—

'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरही। चारु चरित नानाविध करहीं॥
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबन्ध बनाई॥

अतः आप की बड़ी कृपा होती यदि आप यह बतलाते कि आप पूर्व कल्प में कौन से महात्मा थे जिन्होंने इस घोर कलि-काल में हम लोग जैसे पापियों के उद्धारार्थ तुलसी-रूप में प्रकट हुए! अवश्य ही जिस कल्प में आप तशरीफ न लाते होंगे उस कल्प का सारा मजा ही 'रामचरितमानस' के अभाव के कारण बिल्कुल किरकिरा हो जाता होगा! 'मानस' के निम्न-लिखित उद्धरणों पर दृष्टिपात कीजिए—

(क) द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु विजय जान सब कोऊ॥
एक बार तिनके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥
कस्यप अदिति तहाँ पितु-माता। दशरथ कौसल्या बिख्याता॥
(ख) एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलन्धर सन सब हारे॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥
दोहा—छल करि टारेउ तासु व्रत, प्रभु सुर-कारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब, साप कोप करि दीन्ह॥
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ॥
एक जन्म कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥
(ग) नारद साप दीन्ह एक बारा। कल्प एक तेहि लगि अवतारा॥
(घ) अपर हेतु सुनु शैल कुमारी। कहउँ विचित्र कथा विस्तारी॥
स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नर सृष्टि अनूपा॥
देखि प्रीति सुनि वचन अमोले। एव मस्तु करुणा-निधि बोले॥
इच्छा मय नर वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुख दाता॥
(ङ) विस्व विदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू॥
कालपाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥
दससिर ताहि बीस भुज दंडा। रावन नाम वीर वरिवंडा॥
भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भयउ सो कुंभकरन बल धामा॥
(च) कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विध करहीं॥
तब तब कथा मुनिसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबन्ध बनाई॥
विविध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने॥
इत्यादि।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक कल्प में रामावतार होता है, जिसके लिए दशरथ, कौशल्या, रावण, कुम्भकर्ण एवं

राम कथा के बखान करने वाले रामायण-कारों का भी प्रादुर्भाव हुआ करता है। इसीलिए कहा कि जैसे गोसाईं जी ने प्रत्येक कल्प के रावणादिकों का पता तो बतलाया, वैसे ही आपको प्रत्येक कल्प के आप सरीखे तुलसीदास का भी पता बता देना चाहता था, जो नहीं किया। इस सम्बन्ध में मेरा एक और भी नम्र निवेदन है। शायद आपने 'कल्प' शब्द का ठीक अर्थ समझने की कोशिश नहीं की। उक्त उद्धरणों में 'कल्प' शब्द का अर्थ श्वेत बाराह आदि कल्प वा ब्रह्मा का दिन नहीं है जो ४३२०००००० सौर वर्षों का होता है; प्रत्युत उसका अर्थ केवल 'कल्पना' है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि रामायण की कथा काल्पनिक है; वह किन्हीं वास्तविक घटनाओं पर अवलम्बित नहीं है। जिसके जी में जो आया, लिख मारा। अतः कल्पना-भेद से कथा-भेद भी हो गया। 'कल्प-भेद हरिचरित सोहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए' का केवल यही तात्पर्य है, अन्य कुछ नहीं।

'मानस' के पात्र रामचन्द्र—अब यह दिखलाया जाएगा कि गोसाईं जी ने अपने 'मानस' में उसके विविध पात्रों का चरित्र कैसा अङ्कित किया है और इस प्रसङ्ग में सर्व-प्रथम उसके चरितनायक रामचन्द्र के ही चरित्र पर प्रकाश डाला जाएगा। रामचन्द्र 'मानस' के सर्वे-सर्वा हैं। उनके चरित्र को हमें उनकी दोनों अवस्थाओं (capacities) पर दृष्टि रखकर देखना होगा—एक ईश्वरावतार की और दूसरी मनुष्य की। कहाँ तो विद्वन्मंडली में चिरकाल से इस विषय पर विवाद छिड़ा हुआ है कि वास्तव में ईश्वर-नामधारी कोई सत्ता है कि नहीं और इस विवाद का आजतक कोई सन्तोषप्रद निपटारा नहीं हुआ और कहाँ गोसाईं जी के यहाँ उस ईश्वर का

समग्र कला से परिपूर्ण अवतार तक हो गया। पर यहाँ पर इस विवाद को एक ओर छोड़कर ईश्वर की सत्ता मानकर ही विचार हो रहा है। गोसाईं जी के राम किसी ऐसे-वैसे देवता के अवतार नहीं; अथवा सभी देवताओं के सिरताज क्षीर निधिशायी वा जय-विजय पालित वैकुंठ के निवासी स्वयं विष्णु के भी अवतार नहीं; प्रत्युत ब्रह्मा, विष्णु और महेश सरीखे असंख्य देवताओं को उत्पन्न कर उन्हें अपने इशारा मात्र से नचानेवाले स्वयं पूर्ण ब्रह्म के ही अवतार हैं। मानस के निम्नलिखित पद्यों पर दृष्टिपात कीजिए—

चौ०—जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि शंभु नचावन हारे॥
तेउ नहिं जानहिं मर्म्म तुम्हारा। और कहहु को जाननि हारा॥

पुनश्च—

नेति नेति जेहि वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥
शंभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंश ते नाना॥

पुनश्च—

बैठे सुर सब करहिं विचारा। कहँ पाइए प्रभु करहिं पुकारा॥
पुर वैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि महँ बस सोई॥
जाके हृदय भगति जस प्रीति। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीति॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ वचन एक कहेऊँ॥
हरि व्यापक सरवत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि विदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

इत्यादि वचनों तथा रावण-पीड़ित देवताओं की स्तुति एवं तत्कालीन आकाशवाणी से स्पष्ट है कि तुलसी के राम विष्णु नहीं, बल्कि उनसे भी परे घट-घट-व्यापी साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

जब गोसाईं जी के विश्वासानुसार यह बात तै पा गई कि

रामचन्द्र पूर्ण ब्रह्म के अवतार थे; कोई अन्य व्यक्ति नहीं, तो उनके चरित्र में धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध, धर्म्म के इन दशविध लक्षणों का; एवं अलौकिक प्रतिभा, दया, दाक्षिण्य, सत्यनिष्ठा, उदारता, सुशीलता, प्रजावात्सल्य, निर्भीकता, गुरु भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृस्नेह, सौव्रत, कार्य्यपटुता, नम्रता आदि उन समुज्ज्वल सद्‌गुणों का, जिनकी कल्पना मानव-बुद्धि कर सकती है; तथा उन सभी मानव कल्पनातीत अतः अवर्णनीय दिव्य गुणों का भी युगपत् समावेश होना कोई चमत्कार नहीं है; क्योंकि आखिर वे जो परमात्मा ठहरे; उन्हीं से तो सभी उत्तम गुणों का प्रादुर्भाव हुआ है। पर हम लोगों के आश्चर्य का ठिकाना तब नहीं रहता जब हम लोग उनके अन्यथा दिव्य चरित्र में चन्द्रबिंब के कलंक की तरह जहाँ-तहाँ मानव प्रकृति सुलभ काले-काले धब्बे तथा अन्य प्रकार की दुर्बलताएँ देख पड़ती हैं। गोसाईं जी जैसे राम-प्राण कवियों ने रामचन्द्र की दुर्बलताओं की ओर से भक्ति-वश अपनी आँखें फेरकर उनकी प्रशंसा करते-करते आकाश और पाताल के कुलाबे एक कर दिए हैं, जिसकी पुनरावृत्ति करना यहाँ अभीष्ट नहीं है; क्योंकि वैसा करना केवल पिष्ट-पेषण है; उसमें मौलिकता कुछ भी नहीं। अतः उनकी दुर्बलताओं के ही प्रति पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाएगा जिससे रामचन्द्र के आचरणों की अन्ध भक्ति-वश अब तक अधूरी रख छोड़ी हुई आलोचना निष्पक्ष तथा पूरी हो जाए। और अन्य पात्रों के भी चरित्रालोचन में इसी नीति का अनुसरण होगा।

रामचन्द्र एक क्षत्रिय राजकुमार हैं और आखेट करना क्षत्रियों का शास्त्र विहित कर्म्म है। आखेट में केवल व्याघ्रादि

जैसे हिंस्र जन्तुओं का ही वध होना चाहिए जिससे निबल तथा दूसरों को हानि नहीं पहुँचाने वाले प्राणियों की रक्षा हो। पर जो रामचन्द्र गोसाईं जी की धारणानुसार परमात्मा के अवतार हैं; अतः जिनका अत्याचारियों तथा उत्पीड़कों से दुर्बलों की रक्षा करना ही एक मात्र कर्त्तव्य है और जिन्हें स्वयं आपने ही 'दीन-बन्धु अति मृदुल सुभाऊ' होने की सर्टिफिकेट भी दे रखी है, वे ही रामचन्द्र अपने इष्ट मित्रों के साथ नित्य जंगल में शिकार खेलने को जाते हैं; पर मारते हैं किनको? शेर बब्बर, बाघ, चीते आदि को नहीं; बल्कि निरीह, निरपराध तथा प्रकृति-भीरु 'पावन मृगों' को। इतना ही नहीं; उनकी लाशें लाकर अपने पिता को दिखलाते हैं मानों किसी बड़े भारी विजय के वे प्रतीक हों, और केवल इतने से ही नहीं होते; बल्कि अपने माता-पिता की आज्ञानुसार उन्हें अपने भाइयों तथा बन्धु-बान्धवों के साथ मिलकर भक्षण भी कर जाते हैं—

बन्धु सखा संग लेहिं बुलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥
जे मृग राम बानते मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥
अनुज सखा मिलि भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं॥
जेहि विधि सुखी होंहि पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा॥
वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥

आश्चर्य है कि अहिंसा-व्रत-धारी एक परम वैष्णव होते हुए भी गोसाईं जी ने स्वलेखनी का अपने आराध्यदेव के विरुद्ध इस प्रकार दुरुपयोग कर दिया! तिस पर तुर्रा यह कि तब भी आपकी शुभ लेखनो उस श्वास में रामचन्द्र को 'कृपानिधि' की उपाधि से विभूषित करती तथा वैदिक

धर्म्म का श्रवण, मनन और व्याख्या करने वाला बतलाती हैं। और चरम सीमा तो तब पहुँचती है जब वह उसी सिलसिले में यह दोहा भी लिख मारती है—

व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप।

गोसाईं जी ने भी खूब कहा! क्योंकि निरीह पशुओं का घात कर उनके मांस को उदरसात् करने के अतिरिक्त परब्रह्म का अपने भक्तों के लिये दूसरा 'अनूप चरित्र' हो ही क्या सकता है? शोक है कि भक्तराज तुलसीदास जी ने अपने इष्टदेव के इस 'अनूप चरित्र' से कुछ भी लाभ न उठाया और जीवन पर्य्यन्त व्यर्थ का निरामिष भोजी वैष्णव ही बने रहे! आपको खबर नहीं कि आप की मनोहर लेखनी कहाँ तक आप के काबू के बाहर चली गई और आप के राम को कहाँ पर ला पटका! कितने तो यह कहा करते हैं कि अरे भैय्या! रामचन्द्र ने मृगों को मारा तो सही; पर उन्हें स्वर्ग जो भेज दिया, जिससे उनका उपकार ही हुआ, अपकार नहीं। पर यदि उनके बाणों में यह विशेषता थी कि जो उनसे मारे जाएँ वे अवश्य ही स्वर्ग के अधिकारी बन जाएँ तो पूछना यह है कि तब उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं के साथ यह उपकार क्यों नहीं किया, जिसमें वे भी संसारी झंझटों से छुटकारा पाकर बिना किसी अड़चन के सीधे स्वर्ग लोक में जा विराजते? इस नुसखे का उपयोग उनके लिए क्यों नहीं किया गया? पर 'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले।' सच्ची बात तो यह है कि रामचन्द्र किसी ईश्वर व परमात्मा के अवतार न होकर एक प्राकृत क्षत्रिय राजकुमार थे और वे मानव प्राणी सुलभ दुर्बलताओं से बचे न थे।

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि पूर्वोद्धृत चौपाइयों में रामचन्द्र के द्वारा मृगों के मारे जाने का तो अर्थ निकलता है: पर उनके मांस का भक्षण करने का अर्थ नहीं। 'भोजन करहीं' का 'मृग मारहिं' से कुछ भी संबन्ध नहीं है; बल्कि उसके द्वारा गोसाईं जी ने रामचन्द्र की मिलनसारी दिखलाते हुए केवल यही बताना चाहा है कि वे कभी अकेले भोजन न कर अपने छोटे भाइयों तथा इष्टमित्रों के साथ ही भोजन किया करते थे, जिससे उनका अपने बन्धु-बान्धवों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम सूचित होता है। 'भोजन करहीं' में केवल भोजन ही अभिप्रेत है; न कि मृग मांस भक्षण भी। पर यदि अन्तिम चौपाई की व्याख्या इस प्रकार की जाए तो दूसरी चौपाई के 'पावन मृग' का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। 'पावन' शब्द इस बात को सूचित करता है कि जो मृग पवित्र थे: अर्थात् जिनका मांस भक्षण करने योग्य था उन्हीं का शिकार रामचन्द्र करते थे, अन्यों का नहीं। रामचन्द्र और उनकी अर्द्धाङ्गिनी श्री सीताजी दोनों ही मद्य-मांस का सेवन करते थे, इसका स्पष्ट प्रमाण हमें वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ४२, श्लोक १७-२१ से मिलता है—

अशोक वनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः।
आसने च शुभाकारे पुष्प प्रकरभूषिते ॥१७॥
कुशास्तरण संस्तीर्णे रामः संनिषषादह।
सीतामादाय हस्तेन मधु मैरयेकं शुचि ॥१८॥
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥१९॥
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरा स्तूर्ण माहरन्।
उपानृत्यंश्च राजानं नृत्य-गीत-विशारदाः ॥२०॥

अप्सरोरगसंघाश्च किन्नरी परिवारिताः ।
दक्षिणरूपत्यश्च स्त्रियः पान वशंगताः ॥२१॥

अर्थ—रामचन्द्र ने अपने अन्तःपुर से सटे हुए समृद्ध राजकीय उपवन में विहारार्थ प्रवेश किया और वे एक फूलों से शोभित तथा ऊपर से कुश का बिछावन बिछाए हुए सुन्दर आसन पर बैठ गए। राजा ककुत्स के वंशज रामचन्द्र ने सीता जी को हाथ से पकड़कर पवित्र मैरये नामक मद्य को, जैसे इन्द्र शची को पिलाते हैं वैसे ही, पिलाया। चाकर-गण बढ़ियाँ तरह से पकाए हुए मांसों तथा नाना प्रकार के फलों को रामचन्द्र के भोजनार्थ शीघ्र लाए। रामचन्द्र के समीप जाकर नाच-गान में प्रवीण अप्सराएँ, नाग कन्याएँ, किन्नरियाँ तथा अन्य गुणी और रूपवती स्त्रियाँ मदिरा के नशे में मतवाली होकर नाचने लगीं।

भला इससे बढ़कर रामचन्द्र का मद्य-मांस-सेवी होने का सुदृढ़ प्रमाण और क्या हो सकता है? रामचन्द्र के पशु-मांस-भक्षण के प्रमाण में उद्धृत की हुई 'मानस' की पूर्व्वोक्त चौपाइयाँ वाल्मीकीय रामायण से भी समर्थित हो गईं। अब इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रह गया कि रामचन्द्र मद्यमांस का व्यवहार करते थे।

अब आगे चलिए। महर्षि वाल्मीकि की सलाह से रामचन्द्र ने अपनी कुटिया चित्रकूट में बना ली है। जब से वे चित्रकूट में आए हैं तब से उसकी हालत ही बदल गई है—

चौ० जबते आइ रहे रघुनायक। तब तें भएउ बन मंगलदायक॥
फूलहिं फलहिं विटप विधि नाना। मंजु ललित वर वेलि बिताना॥
सुर तरु सरिस सुभाए सोहाए। मनहुँ विबुध वन परिहरि आए।
गुंज मंजु तर मधुकर स्रेनी। त्रिविध बयारि वहइ सुखदेनी॥ इत्यादि।

चित्रकूट में तमाम आनन्द की वर्षा हो रही है; यहाँ तक कि बन के सभी जीव-जन्तु आपस का स्वाभाविक वैर छोड़कर एक साथ विचर रहे हैं; वहाँ भी 'तापस वेष विशेष उदासी' का रूप धारण किए हुए भी रामचन्द्र अपनी शिकार खेलने की कुटेव नहीं छोड़ते—

चौ० फिरत अहेर राम छवि देखी। होहिं मुदित मृग बृंद बिसेखी॥

यहाँ 'अहेर' शब्द ध्यान देने योग्य है, जिसके अर्थ शिकार, आखेट, मृगया आदि हैं। रामचन्द्र शिकार के लिए जंगल में घूम रहे हैं और मृग-वृन्द उनकी छवि देखकर विशेष रूप से हर्षित हो रहे हैं। जान पड़ता है कि वे चित्रकूट में मृगों का शिकार न कर किन्हीं अन्य जन्तुओं का शिकार करते होंगे; क्योंकि तभी तो मृग-गण अति प्रसन्न थे। पर जिनका वे शिकार करते होंगे उनकी दृष्टि में वे अवश्य कृतान्त के रूप में देख पड़ते होंगे; क्योंकि गोसाईं जी ने कहा है, 'निज हित अनहित पशु पहिचाने' और वे अपने मन में यही कह-कहकर अपने भाग्य को कोसते होंगे—'बाग़ में बाग़वान आया कि सैयाद आया, जो आया मेरी जान का जल्लाद आया'।

सदा से सर्वसाधारण के मस्तिष्क में इस धारणा ने जड़ जमा ली है कि राजा दशरथ ने रामचन्द्र को कैकेयी के बहकाने से बन जाने की आज्ञा दी और वे इसी आज्ञा के पालन में चौदह वर्ष के लिए वनवासी हुए और उन्होंने भी ऐसी ही बात जहाँ-तहाँ, जैसे हनुमान् से पहले-पहल अपनी परिचय देते समय, अपने श्रीमुख से कही है, यथा—'कोसलेस दसरथ के जाए, हम पितु बचन मानि बन आए' इत्यादि। पर वास्तविकता ठीक इसके उल्टी है। रामचन्द्र ने दशरथ की नहीं; बल्कि

अपनी विमाता कैकेयी की आज्ञावश, वन्य जीवन स्वीकार किया। दशरथ तो कैकेयी के रामचन्द्र के वनवास वाले प्रस्ताव से बिल्कुल मन-वच-कर्म से विरुद्ध थे। उनके लिए राम जैसे अपने प्रिय पुत्र का वियोग इतना असह्य हो रहा था कि वे, जिसमें राम वन न जाएँ, इसके लिए, अपनी सभी दुर्गति सहने को तैयार थे। पाठकगण कोपस्फुरिताधरा तथा कुलिश-कठोर हृदया कैकेयी के पैर पकड़कर बूढ़े राजा के इस हृदय-विदारक करुण-क्रन्दन पर ज़रा ध्यान दें—

जिअइ मीन बरु वारि विहीना। मनि बिनु फनिक जिअइ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रवीना। जीवन राम-दरस-आधीना॥
पुनश्च-गहि पद विनय कीन्हि बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम-विरह जनि मारसि मोही॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरहिं जनम भरि छाती॥

इतना कहकर राजा दशरथ सिर धुनकर जमीन पर लोट जाते हैं। वे अपनी प्रियतमा के दुराग्रह पर इतना अधीर हो उठते हैं कि वे अपनी रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर और चारों ओर से हताश होकर मन ही मन विधि और शिव से मनाते हैं कि रामचन्द्र सभी शील और संकोच को ताक पर रखकर भी वन न जाएँ। इसके लिए वे सभी प्रकार के बलिदान करने को तैयार हैं—

अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परऊँ बरु सुर पुर जाऊ॥
सब दुख दुसह सहाहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥

रामचन्द्र ने पिता से वन जाने की आज्ञा माँगी तो ठीक; पर उन्होंने शोक-वश कुछ उत्तर नहीं दिया। आप वनवास की

वार्त्ता को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए; आपको रामचन्द्र के प्रति दशरथ की वनवास विषयक आज्ञा कहीं नहीं मिलेगी। हाँ, अलबत्ता; कैकेयी को रामचन्द्र का वन जाने में क्षणमात्र का भी विलम्ब असह्य होगया और वह तमतमाकर उठी और उनके सामने मुनियों के वस्त्र, भूषण और पात्र लाकर रखती हुई बोली कि राजा का सुकृत, सुयश तथा परलोक भले ही नष्ट हो जाएँ; पर वे तुम्हें वन जाने को कभी न कहेंगे; अतः जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो। कैकेयी के इस वचन से क्या यह ध्वनित नहीं होता कि दशरथ ने रामचन्द्र को बन जाने की आज्ञा कभी नहीं दी? वह आज्ञा तो एक असह्य व्यंग के साथ कैकेयी ने ही दी जब उसने रामचन्द्र के सामने मुनियों के वस्त्रादि तमककर ला रखे और उनसे कहा कि जो भावे वही करो। रामचन्द्र को वन जाते देख राजा ने सुमन्त सारथि से केवल इतना ही कहा कि तुम राम, लक्ष्मण और जानकी को रथ पर बैठा कर उन्हें जंगल दिखला दो और चार दिन के बाद वापस लाओ; यह नहीं कि उन्हें १४ वर्ष तक जंगलों में भटकने के लिए छोड़ आओ—

दोहा—सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक सुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ वन, फिरेहु गए दिन चारि।

पुनः रामादिकों को गंगा पार कराकर सुमन्त के अकेले घर वापस आने पर जब राजा को मालूम होता है कि रामादिक आखिर बन को चले ही गए तो उनकी कैसी दयनीय दशा हो जाती है, यह 'मानस' के पाठकों को भली भाँति विदित है। वे दग्ध-पक्ष संपाति, अथवा अपहृत मणि सर्पराज की तरह भूतल पर लोटने लगते हैं और पुत्र-वियोग के इस निष्ठुर प्रहार को, कौशल्यादिकों के लाख आश्वासन देने पर भी, सहने में

असमर्थ होकर 'हा राम ! हा राम' की रट लगाते हुए अपनी रामदर्शनोत्सुक आँखों को मूँद लेते हैं और मृत्यु-देवी की शाश्वत-शान्ति-दायिनी गोद में सदा के लिए सो जाते हैं तथा 'वृद्धस्य तरुणी विषम्' इस महासत्य का एक जीता-जागता उदाहरण युवती-विवाहेच्छु बूढ़ों के शिक्षार्थ छोड़ भी जाते हैं।

आखिर प्रश्न उठता है कि करुणा-पात्र उस बूढ़े राजा की मृत्यु का उत्तरदायी कौन है ? क्या इस निर्मम हत्या के लिए केवल हठ धर्म्मिणी कैकेयी ही ज़िम्मेवार है और आदर्श-पितृ-भक्त कहलाने वाले स्वयं राम भी नहीं, जो उसकी इच्छा की पूर्त्ति कर और अपने पूज्य पिता की इच्छा को अपने पैरों से ठुकरा कर उसके इस अनुचित हठ का, यह पूर्णतः जानकर भी कि राजा उनके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते, समर्थक बने ? उस बिचारे बुड्ढे से सत्य की रक्षा ज़बर्दस्ती कराकर उसकी जान व्यर्थ ली गई और इस गुरुतर अपराध में, जैसा कि आगे चलकर दिखाया जाएगा, केवल राम और कैकेयी ही नहीं, बल्कि स्वयं भगवती जानकी भी, अपनी नासमझी के कारण, शामिल हो गईं। बिचारे की हालत पर किसी को भी तरस नहीं आया।

अब ज़रा जयन्त की कथा पढ़िए। वह अपनी मूर्खता-वश रामचन्द्र के पराक्रम का थाह लगाने के लिए सीता जी के चरणों में चोंच मारकर भाग गया। यद्यपि जयन्त का यह आचरण अति ही गर्हित था; तथापि केवल इतना ही के लिए आपने उसको प्राणदंड देना ही उचित समझा और तदर्थ उस पर ब्रह्मास्त्र छोड़ ही दिया। 'मच्छर पर तोप' दागना इसी को कहते हैं। जयन्त का यह अपराध आप के शूर्पणखा के नाक-कान कटवा लेने के सामने, जिस पर आगे चलकर विचार

किया जाएगा, अति ही तुच्छ है; पर आज तक आपके विरुद्ध किसी ने चूँ तक भी नहीं कसा। आप ईश्वर के अवतार तथा मर्यादा पुरुषोत्तम जो ठहरे! जयन्त अपनी जान लेकर ब्रह्मादिकों की भी शरण में गया; पर किसी ने उसको शरण नहीं दी। निदान लाचार होकर वह नारद के कहने से आप की ही शरण में पुनः वापस आया और 'त्राहि भगवन्! त्राहि भगवन्!' कहता और क्षमा-भिक्षा माँगता हुआ आप के पैर पकड़ लिए। आपने उस पर केवल इतनी ही दया दिखलाई कि उसकी जान तो बख़्श दी; पर उसकी एक आँख फोड़ डाली। क्या ही अच्छा न्याय है! स्मृतियों की आज्ञा है कि जिस अंग से अपराध किया जाए, राजा उसी अंग को कटवा दे; जैसे चोरी करने वाले के दोनों हाथ, लात मारने वाले की सम्बन्धित टाँग, गाली देने वाले के ओठ वा जीभ इत्यादि। वस्तुतः आप जैसे महान् पुरुष के लिए तो यही उचित था कि शरणापन्न जयन्त का अपराध पूर्णतः क्षमा करते हुए उसे अभय प्रदान कर अपने विशाल हृदय का परिचय देते; अथवा यदि इतनी उदारता देखाना आप से पार नहीं लगता था और उसे दंड देना ही यदि आप का अभीष्ट था तो उसकी आँख न फोड़ उसकी चोंच को ही तोड़कर उक्त धर्म्मशास्त्रीय न्याय का पालन करते। पर आप ने वैसा न क॰ भीम का खाया हुआ शकुनि से वसूल किया। क्या ही अच्छा दंडविधान है! और गोसाईं जी भी अपनी 'जी हुज़ूरी' आदत के अनुसार रामचन्द्र के इस न्याय का भी समर्थन कर उन्हें अद्वितीय कृपालु होने का प्रमाण-पत्र भी देते हैं—

सो॰ कीन्ह मोहवस द्रोह, जद्यपि तेहिकर वध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करिछोह, को कृपाल रघुवीर सम॥

जनस्थान-निवासिनी शूर्पणखा रावण की बहन थी। वह एक बार स्वच्छन्द विचरण करती हुई पंचवटी पहुँची और भ्रातृ-युगल के अलौकिक रूपलावण्य पर मुग्ध होकर उसने रामचन्द्र से विवाह का प्रस्ताव किया। स्त्रियों का सुन्दर पुरुषों पर आसक्त होना स्वाभाविक है। अतः शूर्पणखा का इसमें कोई भी अपराध न था। गोसाईं जी भी उसी प्रसंग में 'पुरुष मनोहर निरखत नारी' लिखकर इस बात की ताईद करते हैं। अपने मन को रोकना शूर्पणखा के काबू की बात न थी; अतः वह बिचारी बिल्कुल निरपराध थी। इसके अतिरिक्त जब अपने-अपने पतियों तथा अन्यान्य बन्धु-बान्धवों के साथ विश्वासघात करने वाली पतिपुत्रवती व्रजबालाओं का श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी पर अपना तन-मन और पातिव्रत्य धर्म्म तक का भी बलिदान कर देना अनुचित न था तो शूर्पणखा जैसे एक कुमारी राज-भगिनी का, उस स्वयंवर के युग में, रामचन्द्र को पतिवरण करने में कौन सा अपराध था। कोई-कोई शूर्पणखा को विधवा मानते हैं। पर इससे क्या? विधवाओं का भी पत्यन्तरवरण करना शास्त्र-सम्मत है; तभी तो विधवा तारा ने सुग्रीव के साथ और विधवा मन्दोदरी ने विभीषण के साथ अपना दूसरा विवाह कर लिया। इस पर मज़ा यह कि ये दोनों ही सज्जन रामचन्द्र के अनन्य भक्त थे। इसके अतिरिक्त, शूर्पणखा उस युग की स्त्री थी जब सभी स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी तथा पति-वरण में पूर्णतः स्वतंत्र थीं। महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १२ में पाण्डु कुन्ती से कहते हैं—"अनावृत्ताः किलपुरा स्त्रिय आसन् वरानने। काम चार विहारिण्यः स्वतंत्राश्चारुहासिनी"॥ इत्यादि। इस दशा में शूर्पणखा का कोई भी अपराध न था। उस युग का यही धर्म था।

अब रामचन्द्र ने शूर्पणखा के साथ कौन सा खेल खेला, सो सुनिए। उन्होंने सीता की ओर देखकर उसे लक्ष्मण के पास यह कहते हुए भेज दिया कि मेरा छोटा भाई क्वाँरा है। रामचन्द्र के सीता की ओर देखने और लक्ष्मण को क्वाँरा कहने का यह अभिप्राय था कि, 'मैं तो विवाहित हूँ; मुझे स्त्री की कोई ज़रूरत नहीं है; तू मेरे छोटे भाई के पास, जो अविवाहित है; चली जा'। इसी को कहते हैं सफेद झूठ। क्या सचमुच लक्ष्मण क्वाँरे थे ? यदि नहीं तो रामचन्द्र झूठ क्यों बोले ? यदि कहो कि उन्होंने शूर्पणखा से केवल ठट्ठा किया तो क्या मर्य्यादा पुरुषोत्तम कहे जाने वाले 'तापस वेष विसेख उदासी' रामचन्द्र का एक परस्त्री के साथ ठट्ठा करना उचित था ? कभी नहीं। क्या उस समय होली का ज़माना था जब प्रायः सभी हिन्दू, आबाल-वृद्ध, पागल हो उठते हैं !

कोई-कोई रामचन्द्र की गौरव-रक्षा के लिए 'कुमार' शब्द की व्याख्या यों करते हैं—यहाँ 'कुमार' शब्द का अर्थ क्वाँरा (अविवाहित) नहीं है; बल्कि कु (पृथ्वी) और मार (कामदेव); अर्थात् पृथ्वी पर के साक्षात् कामदेव; अभिप्राय यह कि जैसे देवलोक में कामदेव अद्वितीय सुन्दर है, वैसे ही भूलोक में लक्ष्मण अद्वितीय सुन्दर हैं। यह एक अर्थ हुआ। अब दूसरा अर्थ लीजिए—कु = बुरा और मार = मारनेवाला; अर्थात् जो बुरों (दुष्टों) को मारे वह 'कुमार' है। पर ये सब अर्थ केवल वाक् छल के प्रयोग हैं। ऐसे अर्थ लेने पर 'सीतहिं चितइ' का कोई मानी-मतलब नहीं रह जाता। रामचन्द्र का सीता की ओर देखना यही अभिप्राय रखता है कि वे शूर्पणखा को यह जानना चाहते थे कि वे विवाहित हैं, और लक्ष्मण क्वाँरे (अविवाहित) हैं, जो सरासर झूठ था।

जब शूर्पणखा लक्ष्मण के यहाँ गई तो वे फ़ौरन उसे पहचान गए कि यह शत्रु (रावण) की बहन है। उन्होंने कुछ बातें बनाकर और उसे राम के पास पुनः वापस भेजकर अपनी बला टाल दी। पर लखनलाल ने रावण को शत्रु क्यों मान लिया, यह समझ में नहीं आता। अभी तो वह बिचारा लंका में अपने घर पर है और पंचवटी में कैसे-कैसे गुल खिल रहे हैं, यह कुछ भी नहीं जानता। अथवा जिन लखनलाल ने भरत और शत्रुघ्न जैसे पूत्तिमान् भ्रातृ-स्नेह के स्वरूप अपने भाइयों को अपनी अबोधता के कारण शत्रु समझकर अपने मुँह से—

'कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम वनवास एकाकी' ॥ इत्यादि

जैसे अपने हृदय के कलुषित उद्गार निकाले, उनका रावण को भी बिना अपराध शत्रु मान लेना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है। अस्तु; लक्ष्मण ने, जैसा अभी कह आया हूँ, उसे फिर राम के पास और राम ने पुनः उसे लक्ष्मण के पास भेजा। शूर्पणखा दोनों भाइयों को अपने साथ इस प्रकार बार-बार दोलापाती खेलते देखकर और उन लोगों से कुछ स्पष्ट उत्तर न पाकर आग बबूला हो गई और अपना भयंकर रूप प्रकट किया, जिस पर सीता जी को भयभीत देखकर रामचन्द्र ने लक्ष्मण द्वारा उसकी नाक और कान कटवा लिए। क्या ही अच्छा न्याय है! अपनी स्त्री को थोड़ा चोंच मार देने के कारण तो रामचन्द्र ने, जैसा कि अभी देखा आया हूँ, जयन्त के लिए बध-दण्ड ही निश्चित किया था; पर स्वयं उनके और उनके छोटे भाई लक्ष्मण के लिए, जिन लोगों ने महज़ एक खेल-तमाशे में एक परस्त्री के अङ्गोच्छेद कर डाले, कौन सा दण्ड निर्धारित किया जाए, इसे पाठकगण निष्पक्ष होकर बतावें। माना कि शूर्पणखा ने भयंकर रूप प्रकट किया जिससे सीता जी डर गईं; पर उसे ऐसा

करने के लिए उत्तेजित किसने किया ? यह संगीन तथा अचानक उत्तेजना (Grave and Sudden Provocation) उसे किसने दिया ? अवश्य ही भ्रातृ-युगल ने। कहावत है—

"भला सखी से सूम है, देत जो साफ़ जवाब।"

यदि दोनों भाई शूर्पणखा से, बिना उसके साथ बार-बार दोलापाती खेलकर और उसे इधर से उधर अकारण दौड़ाकर हैरान किए हुए स्पष्ट शब्दों में यह कह दिये होते कि हम लोगों का विवाह हो चुका है; तू किसी दूसरे के पास जा, तो संभवत ऐसा बर्बर तथा निष्ठुर काण्ड नहीं होने पाता। स्वयं किसी दूसरे को उकसाकर उसे कोई अनुचित कार्य्य कर डालने के लिए विवश करना और पुनः उस कार्य्य के लिए उस विचारे को दण्ड देना, यह कैसा विचित्र न्याय है!

पर रामचन्द्र के चरित्र में सबसे काला धब्बा उनका वाली को छिपकर मारना है। वाली और उसका छोटा भाई सुग्रीव दोनों द्वन्द्व-युद्ध में गुथे हुए हैं। वाली रामचन्द्र के तरफ़ से बिल्कुल बेखबर है कि इतने में उनका छिपकर चलाया हुआ एक अमोघ बाण उसके हृदय में एकाएक आ लगता है और वह धड़ाम से धराशायी हो जाता है। रामचन्द्र भली भाँति जानते थे कि वाली कोई ऐसा-वैसा वीर नहीं है; बल्कि वह एक नामी वीर है जो विश्व में अपना सानी नहीं रखता। यह वही भुवन-विख्यात वाली है जिसने त्रिभुवन-विजयी रावण के भी एक बार छक्के छुड़ा दिये थे। अतः यदि मैं उस पर प्रकट रूप से वार करता हूँ तो मुझे लेने के बदले देने पड़ेंगे। पर उसे एक बाण में ही समाप्त कर देने का वचन मित्र सुग्रीव को दे चुका हूँ जिसका पालन करना भी अत्यन्त ज़रूरी है। अतः उन्होंने एक वृक्ष के आड़ में छिपकर उस पर वार किया जो अति ही

गर्हित कार्य्य था। कितने महाशय तो रामचन्द्र के इस कायरता-पूर्ण व्यापार पर यह कहकर पर्दा डालना चाहते हैं कि वाली को वरदान था कि संमुख होकर वार करने वाले शत्रु का आधा बल वह अपने में खींच लेगा; अतः रामचन्द्र ने लुक-छिपकर ही उस पर प्रहार करना अच्छा समझा। पर रामचन्द्र पूर्ण ब्रह्म हैं और पूर्ण ब्रह्म के खंड नहीं होते। अतः यह वरदान रामचन्द्र पर लागू न था। यदि कहो कि वर-दाता की मर्यादा रक्षा करने के लिए उन्होंने वैसा किया तो धर्म्म की निर्मम हत्याकर उक्त मर्यादा की रक्षा करना भी सर्वथा अनुचित था। किसी व्यक्ति-विशेष की मर्यादा की रक्षा करना और निःशेष विश्व के अवलम्ब-भूत धर्म्म की रक्षा करना, इन दोनों मे कौन अधिक महत्त्व रखता है, इसे पाठकगण स्वयं समझ लें। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए, रामचन्द्र का पक्ष गिर जाता है और उनके मत्थे कलंक की एक अमिट टीका बिना लगे नहीं रहती।

पर स्वयं रामचन्द्र ने अपने इस अनुचित कार्य्य की सफ़ाई एक दूसरे ही ढङ्ग से दी, जब आसन्न मृत्यु वाली ने उन्हें धर्म्म रक्षार्थ अवतार लेकर भी उसे व्याध की तरह मारने पर फटकार सुनाई। उन्होंने कहा कि 'अनुज-बधु' को बुरी निगाह से देखने वाले को मारने में कोई दोष नहीं है। बात तो सोलहो आने सही है; पर यह किस धर्म्मशास्त्र का विधान है कि ऐसे जीव को प्राण-दण्ड देते समय स्वयं धर्म्म को भी फाँसी लटका दिया जाए!

गोसाईं जी ने इस प्रसंग में एक ऐसी बात कही है जो समझ में नहीं आती। आप लिखते हैं—

"जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि वाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहुँ सो न राम हिए हेरी॥

ते भरतहिं भेंटत सन माने। राजसभा रघुवीर बखाने।"

वाली सुग्रीव की, सुग्रीव वाली की और विभीषण रावण की स्त्री के साथ रमण करने के कारण, ये तीनों ही गोसाईं जी की दृष्टि में तुल्य पापी थे। पर रामचन्द्र ने वाली को तो उसके पाप का फल चखाया; पर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण के पापों का कुछ भी ख्याल नहीं किया। इतना ही नहीं; बल्कि उन्होंने इन दोनों को राज्य-सिंहासन पर बैठाकर इनकी मान-मर्य्यादा बढ़ाई और अयोध्या लौटकर भरी राजसभा में भरत के सामने इन लोगों की बड़ाई के पुल भी बाँध दिए। क्या उक्त चौपाइयों को लिखकर गोसाईं जी ने रामचन्द्र को महापक्षपाती और अन्यायी नहीं बना डाला? यदि रामचन्द्र पूर्ण-ब्रह्म के अवतार थे और धर्म्म-रक्षार्थ ही भूलोक में विचरण कर रहे थे तो सर्वत्र और सर्वदा, बिना किसी के साथ पक्षपात किए, न्याय और धर्म्म का पालन करना उनका एकमात्र कर्त्तव्य था। पर जिन रामचन्द्र ने लोकापवाद से डरकर सीता जैसी अपनी सती स्त्री को और नीति-रक्षार्थ लक्ष्मण जैसे अपने अनन्य भक्त छोटे भाई को कूड़े-कर्कट की तरह घर से निकाल बाहर किया; उन रामचन्द्र ने वानर सुग्रीव और राक्षस विभीषण के साथ इतनी मेहरबानी क्यों की, इसे समझने के लिए अधिक दूर तक जाने की ज़रूरत नहीं है। रामचन्द्र एक राजनीति-कुशल क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्हें अपने काम से काम था। वे भली-भाँति जानते थे कि जिस पैने से मैंने वाली को हाँका है उसी पैने से यदि सुग्रीव और विभीषण को भी हाँकता हूँ तो सीता का उद्धार और रावण की पराजय जैसे दुष्कर कार्य्य, बिना इन दोनों की सहायता के, खटाई में ही फुलते रहेंगे। जिस अपराध के लिए वाली को प्राण-दण्ड मिला, ठीक उसी अपराध के करने

वाले सुग्रीव और विभीषण राज-पद से सम्मानित हुए। क्या नन्दकुमार और क्लाइव का इतिहास इस प्राचीन रामायणीय कथा का केवल दूसरा संस्करण न था ?

गोसाईं जी ने रामचन्द्र के द्वारा सीता जी के विवासन की कथा नहीं लिखी। पर अन्य कवियों ने इस घटना का विवरण दिया है। अतः कम से कम रामचन्द्र के प्रसंग-प्राप्त इस निष्ठुर कार्य पर, उनके चरित्र-चित्रण को पूरा कर देने के उद्देश्य से ही, कुछ प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। यद्यपि तुलसी के 'राम' से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि इस घटना के सम्बन्ध में जो हिन्दू जनता में एक घोर भ्रम फैला हुआ है उनका निराकरण कर देना आवश्यक जान पड़ता है। रामराज्य हो गया है। आनन्द की घनघोर वर्षा तमाम अयोध्या में अविरत धार से हो रही है। सारी प्रजा, आबाल-वृद्ध, उनके प्रजानुरक्ति आदि गुणों की प्रशंसा, जहाँ देखो तहाँ, मुक्त कंठ से करती हुई नहीं अघाती है। पर इस बाहरी असीम सुख-शान्ति के विराजते हुए भी प्रजा के हृदय में एक खटका बराबर लगा हुआ है जो रह-रहकर उनको टीस मारता रहता है। वह है राक्षस-गृह में चिरकाल तक रही हुई सीता जी का रामचन्द्र के द्वारा निःसङ्कोच होकर पुनः अंगीकरण-सरीखा कलुषित कार्य्य। यद्यपि भगवती जानकी की अग्नि-परीक्षा लंका में हो चुकी है; पर अयोध्या की प्रजा उनकी शुद्धता की सर्टिफिकेट नहीं देना चाहती। इसकी खबर रामचन्द्र को विश्वस्त-सूत्र से मिलती है और वे अपनी प्रियतमा को पूर्णतः शुद्ध जानते हुए भी दूध की मक्खी की तरह घर से निकाल फेंकने पर कटि-बद्ध हो जाते हैं। सीता गर्भवती हैं। उन्हें मुनिजनों के पूताश्रमों में पुनः एक बार भ्रमण करने की उत्कट अभिलाषा हो गइ है जिसकी पूर्त्ति

अवश्य होनी चाहिए। रामचन्द्र इस मौके को हाथ से नहीं निकलने देना चाहते। वे लक्ष्मण को तपोवन दिखाने के बहाने सीता को ले जाकर वाल्मीकि के आश्रम के पास उन्हें छोड़ आने का गुप्त आदेश दे देते हैं। भावी परित्याग की बात सीता जी से छिपाकर उनके साथ कैसा घोर विश्वास-घात किया जाता है, यह पाठकगण देख लें। वे लक्ष्मण के साथ रथ पर सवार होती हैं और मारे खुशी के फूली नहीं समातीं। उन्हें क्या मालूम कि जंगल दिखाने के बहाने उन पर वज्र प्रहार होने जा रहा है। उनकी दशा उस छाग-शिशु की तरह जाननी चाहिए जो खड्ग-प्रहार अनुभव करने के पूर्व अपनी पूँछ तथा कानों को हिला-हिलाकर खूब आनन्द के साथ और निःशंक होकर फूले हुए चने के दाने खाने में लगा रहता है। आखिर लक्ष्मण ने वैसा ही किया जैसी रामचन्द्र की आज्ञा थी।

पर रामचन्द्र ने सीता जी के साथ ऐसा विश्वास-घात-पूर्ण तथा निष्ठुर कार्य क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर भोले-भाले हिन्दू यों देते हैं कि रामचन्द्र एक अति ही प्रजावत्सल राजा थे। वे प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना भी कुछ नहीं समझते थे; केवल सीता का परित्याग किया तो क्या किया? पर इस प्रश्न के अन्तस्तल में एक दूसरा भी प्रश्न है जिसका स्फुरण शायद आज तक किसी को नहीं हुआ। वह है, आखिर रामचन्द्र ने यह अश्रुत पूर्व बलिदान किसके लिए किया? उसी प्रजा के लिए न, जो उनकी बातों पर तनिक भी विश्वास नहीं करती थी। वे बराबर यह कहते ही रह गए कि सीता को मैं पूर्णतः निर्दोष मानता हूँ; उनकी पवित्रता में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है, पर असन्तुष्ट तथा सीता जी की पवित्रता का प्रमाण माँगनेवाली प्रजा के कानों पर जूँ तक नहीं रेंग

सकी। महाकवि भवभूति ने रामचन्द्र की सीता-विषयक-धारणा यों लिखी है—

> उत्पत्ति-परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
> तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥

अर्थ—जो सीता जी अपनी उत्पत्ति से ही सब प्रकार से पवित्र हैं, उन्हें पवित्र करने वाले अन्य पदार्थों की क्या आवश्यकता? अर्थात् कुछ भी आवश्यकता नहीं; कारण कि तीर्थ-जल और अग्नि किसी दूसरे पदार्थ से शुद्ध करने योग्य नहीं है। अभिप्राय यह कि ये तो स्वयं पवित्र होकर दूसरों को भी पवित्र कर देने की क्षमता रखते हैं; इन्हें पवित्र करने वाला कौन है? ये हैं रामचन्द्र के वचन।

पर रामचन्द्र से यह पूछना है कि यदि सचमुच आप सीता को पवित्र मानते थे तो आपने सीता-विषयक अपनी इस बुद्धि का कुछ ठोस प्रमाण क्यों नहीं दिया? आपका यह ज़बानी जमा-खर्च बिल्कुल बेकार है। हाँ, यदि आप सीता के परित्याग के साथ-साथ आप में विश्वास नहीं रखनेवाली प्रजा का भी परित्याग कर देते तो आपके आत्म-गौरव की रक्षा भी हो जाती और सीता जी के प्रति आपकी शुद्ध हृदयता भी प्रमाणित हो जाती। और जैसे आपने अपने वनवास के समय अपनी विमाता की आज्ञा मानकर राज्यलक्ष्मी का तिरस्कार किया था वैसे ही यदि आप दुर्वहगर्भ भार से खिन्न अतः सर्व्वथा रक्षणयोग्य और करुण के पात्र अपनी सहधर्म्मिणी की इस अरुन्तुद विपत्ति में राज्यलोभ का संवरणकर, उनके साथ ही घर छोड़कर उनका साथ दिए होते तो आप और भी सोने में सुगन्ध का काम किये होते; क्योंकि भगवती जानकी के हृदय में आपकी इस व्यावहारिक तथा प्रत्यक्ष सहानुभूति से कम से कम इस बात

का तो सन्तोष हो जाता कि उनके पतिदेव सचमुच उन्हें पवित्र मानते हैं। पर आप वैसा न कर सीता पर वृथा कलंक लगाने वाली प्रजा को खुश करने के लिए उनकी जैसी एक निःसहाय तथा अनाथ पर सर्वथा पवित्र अबला पर वज्र-प्रहार कर ही बैठे! आपसे तो इंगलैंड के बादशाह अष्टम एडवर्ड कहीं अच्छे जिन्होंने अपने असूर्यास्त पैत्रिक महासाम्राज्य पर लात मारकर अपनी धर्म्म पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया।

सीता-परित्याग की तरह शम्बूक-वध भी 'रामचरितमानस' के नायक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता, पर जनता में फैली हुई तद्विषयक भ्रान्ति का प्रसंगवश निराकरण कर देना अनुचित न होगा। रामचन्द्र के राज्य-काल में किसी ब्राह्मण का लड़का अल्पायु में ही मर जाता है और वह इस विचार से कि राजा के पाप से ही प्रजा अल्पायु होती है, लड़के की लाश लाकर राजद्वार पर रख देता है और विलाप करने लगता है। देवर्षि नारद ब्राह्मण के इस विपत्ति का कारण तप के अनधिकारी शम्बूक नामक एक शूद्र का तपश्चरण बतलाते हैं जिसके अविलम्ब वध के अतिरिक्त ब्राह्मण-शिशु को पुनरुज्जीवित करने का, आपकी समझ-मुबारक में, कोई दूसरा उपाय नहीं है। आश्चर्य्य है कि ऐसी क्रूर तथा अन्याय-पूर्ण व्यवस्था एक ऐसे महात्मा के मुँह से निकलती है जो स्वयं दासी पुत्र होकर तपस्या के प्रताप से ही देवर्षित्व प्राप्त कर चुके थे और रामचन्द्र भी नारद के बहकावे में पड़कर शम्बूक के गले पर तलवार का वार करते समय इस बात को बिल्कुल भूल गए कि उनके कुलगुरु वशिष्ठ भी, जिनके पवित्र चरण-रेणु अपने मस्तक पर धारण कर वे अपने को कृतार्थ मानते थे, एक वेश्या-पुत्र थे जो तपस्या के फल से ही ब्रह्मर्षि हो गए थे। इसी प्रकार महर्षि पराशर

चाण्डाली-पुत्र और भरद्वाज शूद्री-पुत्र थे। और तो और; स्वयं महर्षि वाल्मीकि भी ब्रह्मर्षि-पद की प्राप्ति के पूर्व रत्नाकर नामक एक दस्यु थे। यदि नारद, वशिष्ठ, पराशर, भरद्वाज तथा रत्नाकर सरीखे जीवों की तपस्या के कारण किसी भी ब्राह्मण का लड़का अल्पायु में नहीं मरा तो समझ में नहीं आता कि शम्बूक की तपस्या के कारण एक ब्राह्मण-शिशु की मृत्यु अल्पायु में क्यों हो गई ? कितने महाशय रामचन्द्र का पक्ष लेकर उनके शम्बूक-वध जैसे अधार्म्मिक कार्य की सफाई में यह कहा करते हैं कि रामचन्द्र ने शम्बूक का बधकर उसकी बुराई के बदले भलाई ही की; क्योंकि रामचन्द्र के हाथ से मारा जाकर वह सद्गति का अधिकारी बना। पर प्रश्न यह नहीं है कि शम्बूक की गति अच्छी हुई वा बुरी; वह स्वर्ग गया व नरक ? प्रश्न तो यह है कि रामचन्द्र ने शम्बूक का वध ही क्यों किया ? मुझे तो शम्बूक-बध की कथा का वाल्मीकि-कृत होने में सन्देह होता है; क्योंकि जो वाल्मीकि स्वयं ही दस्यु रत्नाकर से तपस्या द्वारा बदलकर ब्रह्मर्षि वाल्मीकि बने थे वे अपनी रामायण में इस अधर्म्म-मूलक तथा आप-बीती-विरुद्ध कथा को कभी भी स्थान नहीं दे सकते। कितनों का मत है कि गोसाईं जी के सरीखे किन्हीं शूद्र-द्वेषी महात्मा ने शम्बूक नामक एक अस्तित्व-हीन शूद्र की कल्पना कर और उसके विषय में एक झूठी कथा की रचनाकर अपने हृदय की जलन की शान्ति के लिए उसे उक्त आर्ष रामायण में घुसेड़ दी; क्योंकि इस कलुषित कथा के भीतर जिस सड़ी साम्प्रदायिकता (Communalism) की धार बह रही है वह गोसाईं जी के—

'शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना।
बैठि बरासन कहहीं पुराना' ॥

इस चौपाई के साथ पूर्णतः फिट कर जाती है। पर इस कथा को प्रक्षिप्त मानना भी निराधार है; कारण कि आर्ष रामायण के सभी संस्करणों में यह एक सी मिलती है तथा कालिदास आदि अन्य कवियों ने भी अपनी-अपनी कृतियों में इसका उल्लेख किया है। यदि यह कथा उक्त रामायण के किसी संस्करण में रहती और किसी में नहीं तो इसके प्रक्षिप्त होने का सन्देह होता।

सीता—रामचन्द्र के चरित्र के, विद्वानों की निष्पक्ष समालोचना से अब तक बचे हुए अंशों पर विचारकर अब भगवती सीता जी के चरित्र के वैसे ही अंशों पर विचार किया जाता है। आप मिथिलेश सीरध्वज जनक की पुत्री, रामचन्द्र की धर्म्मपत्नी और 'रामचरितमानस' की नायिका हैं। यह रामायण के सभी पाठकों को विदित है कि आप मिथिलेश की औरस पुत्री न होकर केवल एक स्वीकृत (Adopted) पुत्री थीं जिनकी जाति, वंश और गोत्र का पता न था और जिनको उन्होंने दुर्भिक्ष-निवारणार्थ राजा होकर भी अपने हाथों से एक बार खेत में हल चलाते समय पाया था। कहते हैं कि रावण ने सभी ऋषि-मुनियों से कर-स्वरूप वसूल किये हुए उनके रक्त से एक घड़ा भरकर मिथिला में गड़वा दिया था। खेत जोतते हुए राजा सीरध्वज जनक के हल की नोंक के धक्के से वह घड़ा धरती में से निकल पड़ा। उसे फोड़ने पर राजा जनक को उसमें एक अद्वितीय सुन्दरी कन्या मिली, जिसका नाम उन्होंने खेत की हलाई में मिलने के कारण सीता रखा और जिसका लालन-पालन उन्होंने बड़े ही प्रेम के साथ किया। चलते हुए हलकी नोंक से भूपृष्ठ में जो चीर या खरोंश उत्पन्न होता है उसी को संस्कृति में सीता तथा प्रचलित बोल-चाल की भाषा

में हलाई कहते हैं। चूँकि सीता जी राजा जनक को उसी खरांश में मिली थीं, अतः उनका भी नाम उसी सम्बन्ध से सीता रख दिया गया। इसी कारण आपको अयोमिजा, भूमिजा आदि भी कहते हैं। रामचन्द्र ने राजा जनक के धनुर्यज्ञ में शिव का धनुष तोड़कर आपको अपनी धर्म्म-पत्नी बनाया था। यों तो आप अपने अतुलनीय पातिव्रत्यादि कुल-ललनोचित सद्गुणों के कारण समस्त नारी-जगत् का समुज्ज्वल मुकुट मणि थीं ही, जिसका अचंचल रश्मि-जाल अबला-वर्ग के लिए इस असार संसार के विविध प्रलोभन-पूर्ण जीवन-संग्राम में यावच्चन्द्र दिवाकर एक निर्भ्रान्त पथ-प्रदर्शक का काम करता रहेगा; पर उत्तम से भी उत्तम गुण की सीमा होती है जिसका अतिक्रमण होते ही इतर सद्गुण विकसने नहीं पाते और उनका एक प्रकार से तिरोभाव-सा हो जाता है। भगवती जानकी के लिए राम ही सब कुछ थे। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सभी समय आपको सारा विश्व राम-मय दीख रहा था, जिनके मुकाबले दशरथ, कौशल्य प्रभृति आपके अन्य आत्मीय वर्ग पृष्ठ-भूमि (Background) में पड़ गये थे। यह पातिव्रत्य का ही आतिशय्य था जिसने आपको रामचन्द्र के वन प्रयाण के समय उक्त सभी गुरुजनों के कातरता-पूर्ण अनुनय-विनय को ठुकराकर उन लोगों के प्रति एक सहानुभूति-शून्य और उपेक्षा-पूर्ण रुख धारण करने, तथा स्वयं अपने पतिदेव की भी कल्याण-करी शिक्षा की अवहेलना करने पर उतारू बना दिया। सभी एक मुँह से आपको लाख मना करते रह गए; पर आप अपने पतिदेव के साथ बन जाने पर तुली हुई ही रह गईं और अपने इस अनुचित हठ से तिल-मात्र भी टस से मस नहीं हुईं। राजा दशरथ ने पहले तो

आपको अपने हृदय में लगाकर और वन्य-जीवन के विविध दुःसह दुःखों तथा सास ससुर एवं माता-पिता के घर में रहने से नाना प्रकार के सुखों को दिखलाते हुए बहुत कुछ समझाया: पर जब इससे कुछ फल नहीं निकला तो उन्होंने आपके पास सुमन्त के द्वारा अपना सन्देश भेजा, जिसे सुमन्त ने शृङ्गवेर-पुर से लौटते समय आपको कह सुनाया। दशरथ इस संदेश में किस प्रकार गिड़गिड़ाए हैं, उसे पाठकगण स्वयं देख लें। यदि कम से कम आप भी घर रह जातीं तो बूढ़ा बिचारा कभी न मरता—

चौ०—इक सुमन्त पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥
जेहि विधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहिं तुमहिं करनीया॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियबि जिमि जल बिनु मीना॥
दो०—मइकें ससुरें सकल सुख, जबहिं जहाँ मन मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान॥
चौ०—विनती भूप कीन्ह जेहि भाँती।
आरति प्रीति न सो कहि जाती॥ इत्यादि।

इसके अतिरिक्त सारथि सुमन्त और स्वयं रामचन्द्र ने भी आपको बहुत समझाया; पर इन लोगों का समझाना और आपकी परम श्रद्धा और भक्ति के पात्र-भूत बूढ़े ससुर का करुण-पूर्ण गिड़गिड़ाना आपके दुर्हठ हृदय को तनिक भी नहीं पसीजा सके। पत्थर पर चलाए हुए तीरों की तरह गुरुजनों के सभी सिखावन आपके लिए बेकार सिद्ध हुए। इन सिखावनों के उत्तर में आप अपना पहला ही राग बराबर आलापती रह गईं कि पतिदेव के बिना निखिलैश्वर्य्य तथा लाड़-प्यार से परिपूर्ण सास-ससुर किंवा माता-पिता के घर भी मेरे लिए सुखद नहीं हैं; बल्कि, इसके प्रतिकूल, व्याघ्रादि हिंस्र जीवों की आवास-

भूमि तथा बहुकंटकाकीर्ण वन-विभाग भी उनके संग से मेरे लिए साक्षात् स्वर्ग है। आखिर सभी समझाकर थक गए; पर आपके कुलिश-कठोर हृदय में अपने बूढ़े ससुर की भी अवतर हालत पर तनिक भी तरस नहीं आया। पातिव्रत्य ही स्त्रियों का एक मात्र आभूषण कहा गया है; पर इसका नारीजनोचित अन्य सद्गुणों के साथ सामंजस्य भी रहना चाहिए; अन्यथा जहाँ इसने सीमा को अतिक्रान्त किया कि यह सद्गुण के बदले दुर्गुण होकर भयंकर कुपरिणामों का कारण बन जाता और 'अति सर्वत्र वर्ज्जयेत्' इस नीति-वाक्य को चरितार्थ कर देता है। भगवती मैथिली को अपनी असीम पातिव्रत्य के वशीभूत होकर गुरुजनों के वचनों का उल्लंघन करने से जो जो विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं वे रामायण के पाठकों को भली भाँति विदित हैं। यदि आप वन न जातीं तो आज हम लोगों को एक दूसरे ही ढाँचे की रामायण पढ़ने को मिलती जिसमें आपकी दुःखमयी कथा पढ़ने का हमारा दुर्भाग्य न होता। पर नहीं; आप हठ करके वन को चली ही जाती हैं और वहाँ जो आपके भाग्य में लिखा था वही होकर आपकी सारी आशाओं पर पानी फेर देता है। वहाँ आपको निशाचरों का राजा, जिन लोगों का भय आपको वन जाने के पूर्व ही दिखाया जा चुका था, हर ले जाता है और आपके उद्धार के लिए आपके एकमात्र आराध्य देव रामचन्द्र को, जिनके वनवास जन्य क्लेशों को दूर करते रहने का बीड़ा उठाकर आप वन में आई थीं, आपके कारण अपार मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। कहाँ तो आप आई थीं रामचन्द्र के वन्य जीवनकाल में उनके सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध करने और कहाँ ढकेल दिया आपने उन्हें विविध विपत्तियों के अथाह सागर में! दोनों में कितना अन्तर है! आपके उद्धार

के निमित्त रामचन्द्र को लंकानिवासिनी कितनी राक्षस-रमणियों के ललाट से उनका सौभाग्य-सिन्दूर मिटाना पड़ा और समर-भूमि में निहत उनके पतियों के उष्ण रक्त का तर्पण भगवती वसुन्धरा को कितनी मात्रा में देना पड़ा, इसका कोई लेखा नहीं है। पर यह सब कुछ हो जाने के बाद जब विभीषण आपको अशोक वनिका से लाकर रामचन्द्र के हवाले करना चाहते हैं तो रामचन्द्र सारी विपत्तियों का मूल कारण आपका ही हठ जानकर जिस घृणा के साथ अपनी त्योरी बदलते हुए आपको एक लम्बी फटकार सुनाते हैं उसके विषय में गोसाईं जी केवल 'कहे कछुक दुर्वाद' लिखकर और बातों को छिपा लेते हैं; पर उसका सुविस्तृत विवरण महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायण के युद्धकाण्ड, सर्ग ११७ में इस प्रकार देते हैं—

कः पुमांस्तुकुलेजातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात्सुहृल्लोभेन चेतसा ॥१९॥
रावणाङ्क परिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥२०॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितोमया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥२१॥
तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत्कृत बुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥२२॥
शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसेवा विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुख मात्मनः ॥२३॥इत्यादि ।

अर्थ—कौन कुलीन तथा तेजस्वी पुरुष दूसरे के घर में रह चुकी हुई स्त्री को, यह मेरा सुहृद है, इस लोभयुक्त बुद्धि से, पुनः ग्रहण कर सकता है ॥१९॥ रावण की गोद में दबाई गई तथा उसके दुष्ट नेत्रों से देखी हुई तुमको मैं अपने उच्च कुल

को कलंकित किए बिना किस प्रकार फिर ग्रहण करूँ ॥२०॥ जिस अभिप्राय से मैंने तुम्हें जीता है वह सिद्ध हो गया। तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ जी चाहे, चली जाओ ॥२१॥ हे भद्रे ! मैंने कर्तव्य निश्चय करके ऐसा कहा है। अपने सुख के अनुसार तुम लक्ष्मण अथवा भरत में अपना मन लगाओ; अर्थात् उनमें से किसी के साथ तुम चली जाओ ॥२२॥ अथवा नहीं तो अपने सुख के अनुकूल शत्रुघ्न वा सुग्रीव वा राक्षस विभीषण में मन लगा लो ॥२३॥

पर आपके दुःखों की इतिश्री यहीं पर नहीं होती। जब आप लंका से लौटकर घर आती हैं तो अयोध्या की प्रजा आपकी शुद्धता के विषय में सदा संदिग्ध रहती है और इस बात की काना-फूसी सर्वत्र होती है कि ये रामचन्द्र कैसे राजा हैं कि उन्होंने एक राक्षस के घर में बहुत दिनों तक पड़ी हुई सीता को पुनः लाकर घर में रख लिया है। जब राजा की ही यह दशा है तो प्रजा की कौन सी दशा होगी ? क्योंकि लोकोक्ति है कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। अवध की प्रजा परोक्ष में की हुई आपकी अग्नि-परीक्षा को आपकी शुद्धता का प्रमाण नहीं मानना चाहती। निदान इस लोकापवाद के कारण किसी न किसी बहाने आप घर से निकाल दी जाती हैं और घर का मुँह आप फिर देखने नहीं पातीं और जब आपको कहीं भी शरण नहीं मिली तो भूगर्भ में धँसकर ही अपने दुःखमय जीवन का अन्तिम पटाक्षेप कर लेती हैं। यह है आपके हठ तथा अदूर-दर्शिता का भयंकर परिणाम एवं बड़े-बूढ़ों के सिखावन को ताक पर रख देने का तीता फल !!

यह तो हुआ आपके हठधर्म्मिणी तथा अदूर-दर्शिनी होने का पहला उदाहरण। अब इसका दूसरा उदाहरण लीजिए।

रामचन्द्र आपको पंचवटी के आश्रम में लक्ष्मण को सौंपकर स्वयं मारीच का शिकार करने चले जाते हैं। मारीच उन्हें धोखे में डालकर अपने पीछे दौड़ाते हुए बहुत दूर निकल जाता है और उनके घातक बाणों से विद्ध होकर उनकी कंठध्वनि का अनुकरण करता और 'हा लक्ष्मण! हा लक्ष्मण' यह कहता हुआ धराशायी हो जाता है। जनक-नंदनी उसकी कपट-पूर्ण तथा बनावटी ध्वनि से चकमे में आ जाती हैं और अपने पतिदेव को संकटापन्न समझकर उनकी सहायता के लिए लक्ष्मण को अविलम्ब उनके पास जाने को बारबार कहती हैं। पर जब लक्ष्मण ने रामचन्द्र की आज्ञा के विरुद्ध उन्हें जंगल में अकेली छोड़कर चले जाना निरापद न समझकर और देवदानवादिकों के भी द्वारा रामचन्द्र की अजेयता आपको बतलाकर जाने में आनाकानी की तो लक्ष्मण जैसे सच्चरित्र, जितेन्द्रिय तथा अपने और अपने पूज्यपति के अनन्य भक्त देवर पर भी आपने वह लांछन लगाया जिसको सुनकर हृदय थर्रा उठता है और शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, पर जो आपको एक साधारण बात सा जान पड़ता है। गोसाईं जी तो 'मानस' में 'मरम वचन सीता जब बोली,' केवल इतना ही लिखकर आपकी कटूक्तियों पर पर्दा डाल देते हैं; पर वाल्मीकि उन कटूक्तियों का सविस्तर वर्णन देते हैं। वाल्मीकीय रामायण, अरण्य-काण्ड, सर्ग ४५ पढ़िए—

अब्रवीत्परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।
अनार्य करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥२१॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥२२॥
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्।

त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्न चारिषु ॥२३॥
सुदुष्टस्त्वं वने राम मेकमेकोनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥२४॥
तन्न सिद्ध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा ।
कथ मिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम् ॥२५॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग् जनम् ।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्य संशयम् ॥२६॥

अर्थ—सीता जी सत्यवादी लक्ष्मण से कठोर वचन बोलीं कि अरे नृशंस! कुल-नाशक! तथा मेरे प्रति अनार्य्य दया दिखाने का काम करने वाले! ॥२१॥ मैं समझती हूँ कि रामचन्द्र की भारी विपद् तुम्हें प्रिय है; अतः उनकी विपत्ति देखकर भी तुम ऐसा बोलते हो ॥२२॥ हे लक्ष्मण! तुम्हारे समान सदा क्रूर-स्वभाव और गुप्त पापी शत्रु के मन में पाप का रहना कोई आश्चर्य्य नहीं है ॥२३॥ तुम बहुत दुष्ट हो। रामचन्द्र को अकेला वन में जाते हुए देखकर तुम भी मेरे लोभवश अकेले ही उनके साथ आए; अथवा छिपकर तुम भरत का भेजा हुआ यहाँ आए हो ॥२४॥ अतः हे लक्ष्मण! तुम्हारा वा भरत का मनोरथ सिद्ध न होगा। मैं किस तरह नीलकमल की तरह श्याम तथा पङ्कपलाश नेत्र रामचन्द्र को ॥२५॥ पति पाकर दूसरे व्यक्ति की इच्छा करूँ। अतः हे लक्ष्मण! मैं तुम्हारे सामने ही अपना प्राण जरूर छोड़ दूँगी ॥२६॥

इस पर लक्ष्मण ने सीता के प्रति जो कहा है उसको भी सुन लीजिए—

अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्रांजलिः सजितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥२८॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते ॥२९॥
विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्ण भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥३०॥
श्रोत्र योरुभयोर्मध्ये प्राप्त नाराच संनभम् ।
उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिणो हि वने चराः ॥३१॥
न्यायवादी यथा वाक्यमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक् त्वामद्य विनश्यंतीं यन्मामेवं विशंकसे ॥३२॥
स्त्रीत्वाद्दुष्ट स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गच्छामि यत्र काकुत्स्थः स्वस्तितेऽस्तु वरानने ॥३३॥

अर्थ—जितेन्द्रिय लक्ष्मण हाथ जोड़कर सीता जी से बोले कि आप हमारी देवता हैं; अतः उत्तर देने का मुझे साहस नहीं होता ॥२८॥ किन्तु हे मैथिली ! स्त्रियों का अनुचित बात बोलना कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि इस लोक में स्त्रियों का यही स्वभाव देख पड़ता है ॥२९॥ स्त्रियाँ धर्म्मरहित, चंचल, क्रूर तथा बन्धु-बान्धवों में फूट डालनेवाली होती हैं; अतः हे विदेहपुत्री जानकी ! मैं आपकी ऐसी बातचीत नहीं सहता ॥३०॥ जिसने तपाए हुए बाण की तरह मेरे दोनों कानों को वेध दिया है । सभी वनवासी देवगण साक्षी बनकर मेरी बातें सुनें ॥३१॥ यथार्थ बात कहने वाले मुझको तुमने ऐसी बात कही है; तुम्हें धिक्कार है । तुम्हारा नाशकाल आ गया है; इसीलिए तुम मुझ पर शंका करती हो ॥३२॥ जो अपने बड़े की आज्ञा पर ठहरा हुआ है । स्त्रियों का स्वभाव दुष्ट होता है । जहाँ रामचन्द्र हैं वहीं पर मैं जाता हूँ । तुम्हारा कुशल हो ॥३३॥

इस पर सीता का कठोर उत्तर सुनिए—

लक्ष्मणे नैव मुक्तातु रुदती जनकात्मजा ।
प्रत्यु वाच ततो वाक्यं तीव्रं वाष्पपरिप्लुता ॥३५॥
गोदावरीं प्रवेच्यामि हीना रामेण लक्ष्मण ।
आवंधिष्येऽथवात्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥३६॥
पिवामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
नत्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥३७॥

अर्थ—लक्ष्मण के ऐसा कहने पर जानकी जी रोने लगीं और आसुओं से भींगी हुईं उनसे कठोर वचन बोलीं ॥३५॥ हे लक्ष्मण ! रामचन्द्र के बिना मैं गोदावरी में डूब मरूँगी, अथवा फाँसी लगाकर मर जाऊँगी, अथवा पर्वतादि किसी ऊँचे स्थान से कूदकर अपना शरीर छोड़ दूँगी ॥३६॥ अथवा तीक्ष्ण विष पी लूँगी, अथवा आग में जल मरूँगी, पर राम से भिन्न किसी दूसरे पुरुष को कदापि मैं स्पर्श भी नहीं कर सकती ॥३७॥

सीता जी के आचरण-सम्बन्धी उक्त विवरणों से क्या यह नहीं सिद्ध होता कि भगवती जानकी, जिन्हें समस्त हिन्दू संसार एक आदर्श रमणी-रत्न मानता है, दुराग्रह, अविवेकिता आदि दोषों से मुक्त न थीं ? पर कितने महाशय आपके तरफ़ से यह दलील पेश करते हैं कि अजी लक्ष्मण जी के प्रति उक्त घोर कटूक्तियाँ असली सीता जी की न होकर एक नकली और माया-निर्मित सीता की थीं। असली सीता तो अग्नि में प्रवेश कर गई थीं। ये सभी वार्त्तालाप लक्ष्मण और माया-सीता के बीच हुए हैं और रावण इन्हीं नकली सीता को हर ले गया था। गोसाईं जी ने स्पष्ट लिख दिया है कि रामचन्द्र ने सीता जी से आपके तथा कथित हरण के पहले ही कहा था—

'तुम पावक महँ करहु निवासा ।
जब लगि करौं निशाचर नासा' ॥ इत्यादि ।

पर माया सीता की कल्पना सारी रामायण को किस रसातल में ले डुबोती है, यह इन अबोध विचारों को मालूम नहीं देता। इनसे यह पूछना चाहिए कि तुम लोग जिस सीता को असली मानते हो वे माया थीं कि नहीं? यदि न थीं तो उनके विषय में स्वयं गोसाईं जी ने ही क्यों लिखा—

'आदि शक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोर यह माया'॥

यदि स्वयं मूल सीता ही माया थीं तो उनकी जगह एक दूसरी माया सीता की कल्पना करना बेकार था। यदि कहो कि मूल सीता को एक राक्षस द्वारा अपहरणादि अपमानों से बचाने के लिए वैसी कल्पना की गई तो यह भी ठीक नहीं, कारण कि प्रतिनिधि के मानापमान से मूल व्यक्ति का ही मानापमान समझा जाता है। इसीलिए हिन्दू रामचन्द्र और जानकी, एवं अन्य देव-देवियों की मूर्त्तियाँ पूजा करते हैं। यदि इन मूर्त्तियों का कोई अपमान करे तो हिन्दू अपनी जान देकर भी उस अपमान का प्रतिशोध करने पर तैयार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, जिस लोकापवाद से भी भगवती जानकी को बचाने के लिए माया-सीता की कल्पना की गई थी, वह लोकापवाद तो आखिर आपके विषय में फैल ही गया और आप घर से निकाल दी गई। इसीलिए कहा कि माया-सीता की कल्पना पूर्णतः व्यर्थ सिद्ध हुई, उसके द्वारा किसी भी उद्देश्य की पूर्त्ति न हुई। इसके अतिरिक्त, महर्षि वाल्मीकि किसी माया-निर्म्मित सीता की कल्पना न कर असली ही सीता और लक्ष्मण के बीच पूर्व्वोक्त कटु वार्त्तालाप का होना बतलाते हैं।

और भी देखिए। मायावादियों की यह माया-वाली थ्योरी केवल सीता जी के विषय में निरर्थक सिद्ध होकर ही नहीं रह

जाती, बल्कि यह अपनी चोंच और भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाती है और रामायण की सत्यता को भी निगल जाती है। पुराण-ग्रंथों की देखा-देखी स्वयं गोसाईं जी ने भी राम और लक्ष्मण को भी 'माया-मानुष-रूपिणौ' (कष्किन्धाकाण्ड का मंगलाचरण) और रामचन्द्र को 'माया-मनुष्य' (सुन्दरकाण्ड का मंगलाचरण) कहा है। इस प्रकार जब राम, लक्ष्मण और सीता माया-कृत सिद्ध हो जाते हैं तो रामायण के अन्य पात्रों की वास्तविकता अथवा अवास्तविकता किसी काम की नहीं रह जाती, कारण कि इसी पात्र-त्रयी के ऊपर सारी रामायण का दारोमदार है। उसके कथानक का अधिकांश भाग इसी त्रयी के चरित्रों से ओत-प्रोत है। रामायण का आरम्भ और अन्त इसी त्रयी के द्वारा होता है। विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाते हैं राम और लक्ष्मण। वहाँ उनमें सीता आ मिलती हैं। पुनः जंगल को जाते हैं राम, लक्ष्मण और सीता। वहाँ सीता का हरण होता है और राम और लक्ष्मण, दोनों मिलकर उनका उद्धार करते हैं। पुनः तीनों अयोध्या वापस आते हैं और राम के कहने से लक्ष्मण सीता को जंगल में छोड़ आते हैं। अन्त में राम लक्ष्मण का भी परित्याग कर स्वयं परम धाम को चले जाते हैं। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि इस महाकाव्य के अस्थि-पंजर में राम ही मेरुदण्ड, तथा सीता और लक्ष्मण बाहु और चरण की प्रधान अस्थि है जिनमें छोटी-मोटी अन्य हड्डियों की तरह अन्य पात्र आ जुटे हैं। अतः इस त्रिमूर्त्ति के माया-निर्म्मित होने पर रामायण-वर्णित सारी घटनावली केवल इन्द्रजाल का तमाशा-मात्र हो जाती है जिसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं रह जाती और रामचन्द्र की अलौकिक पितृ-भक्ति, भगवती मैथिली का अनुपम पातिव्रत्य तथा

लक्ष्मण की निःस्वार्थ भ्रातृ-सेवा किसी नाटक के पात्रों का अन्तःसार शून्य अभिनय-मात्र हो जाता है।

लक्ष्मण—पूर्वोक्त पात्र-त्रयी में तीसरा नम्बर लक्ष्मण का है, अतः यहाँ उनके चरित्र का भी चित्रण कर देना अप्रासंगिक न होगा। वे रामचन्द्र के तीसरे तथा सौतेले भाई थे जो सुमित्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। मेरे कितने पाठक यह सुनकर चौंक उठेंगे और उनको सहसा विश्वास न होगा जब मैं यह कहूँ कि सुमित्रा वर्ण-संकरी थीं और वे राजा दशरथ की विवाहिता स्त्री न होकर केवल उनकी उपपत्नी और कौशल्या तथा कैकेयी की एक परिचारिका मात्र थीं। जिन्हें इस विषय में किसी प्रकार की शंका हो वे कृपाकर भट्टिकाव्य, प्रथम सर्ग, श्लोक १३ तथा उसकी जयमंगला टीका पढ़ें—

निष्ठां गते दत्रिम सभ्य तोषे, विहित्रिमे कर्म्मणि राजपत्न्यः।
प्राशुर्हुतोच्छिष्टमुदार वंश्या-स्तिस्रः प्रसोतुं चतुरः सुपुत्रान् ॥१३॥

अर्थ—जब राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ और उन्होंने दान-दक्षिणा देकर सब लोगों को सन्तुष्ट किया तो उनकी तीनों स्त्रियों ने, जो उच्चकुल में उत्पन्न हुई थीं, चार सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न करने के लिए यज्ञ के बचे हुए चरु का भक्षण किया।

इस श्लोक में 'उदार वंश्याः' शब्द की व्याख्या करते हुए भट्टिकाव्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री जयमंगल जी अपनी 'जयमंगला' टीका में लिखते हैं—

"उदार वंश्याः महावंशोद्भवाः। शेषयत्। कौसल्या कैकेयीच क्षत्रिये। सुमित्रा तु वर्णसंकरजा। किमर्थं प्राशुः। प्रसोतुं सुपुत्रान्। विनीवान् प्रसविनुम्। तत्र कौसल्या कैकेयी चैकैकं पिण्डं प्राशिन वत्यौ। नाभ्यां

चाक्योः परिचारिकेति पिण्ड भागद्वयं दत्तं सुमित्रा प्राशितवती। ततश्च पुत्रद्वयं जनयिष्यति।"

अर्थ—उदारवंश्य का अर्थ है उच्चकुल में उत्पन्न। यहाँ पर शैषिकयत् प्रत्यय किया गया है। कौशल्या और कैकेयी क्षत्रियाएँ थीं, किन्तु सुमित्रा वर्ण-संकरी थीं। किस लिए भक्षण किया? विनीत पुत्रों को उत्पन्न करने के लिए। वहाँ कौशल्या और कैकेयी ने एक-एक पिंड को खाया। उन दोनों ने यह समझकर कि सुमित्रा हम लोगों की परिचारिका (दासी) है, पिंड के दो टुकड़े उसको दिए, जिन्हें वह खा गई। इसलिए वह दो पुत्रों को उत्पन्न करेगी।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न, ये दो पुत्र सुमित्रा के थे। सौतेले भाई होते हुए भी लक्ष्मण की रामचन्द्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति केवल असीम ही नहीं थी, बल्कि सहोदर भाई की भी श्रद्धा और भक्ति से कहीं बढ़-चढ़कर थी। इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि ये भ्रातृ-भक्ति तथा भ्रातृ-स्नेह की जीवधारी मूर्त्ति थे। रामचन्द्र की प्रतिष्ठा के विरुद्ध जहाँ कहीं किसी ने साँस भी ली, अथवा रामचन्द्र की मर्ज़ी के विरुद्ध किसी ने कोई कार्य्य कर दिया कि बस ये आपे से बाहर हो जाते थे। रामचन्द्र राजा जनक की सभा में, धनुर्यज्ञ के समय; बैठे हैं। कितने राजाओं ने शिव-धनुष तोड़ने का प्रयत्न किया; पर कोई उसका बाल भी बाँका न कर सका। और राम और लक्ष्मण अभी दुधमूहें बच्चे हैं। उन लोगों से उक्त धनुष को तोड़ सकने की आशा केवल निराशा-मात्र है। अतः ऐसी परिस्थिति में नैराश्य के अथाह महोदधि में डूबते-उतराते हुए राजा जनक के मुँह से 'वीर विहीन मही मैं जानी' इस बात का अचानक निकल जाना स्वाभाविक है। पर लक्ष्मण इसे रामचन्द्र की

शान के विरुद्ध समझकर आग बबूला हो गए। मानो किसी ने उनके क्रोध के मेगजीन में एक चिंगारी फेंक दी और लोक-त्रय को कँपा देने वाला जो उसका महाप्रस्फोट हुआ और उसके भयानक चपेट में राजा जनक किस प्रकार आ गए वह गोसाईं जी के 'भाखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें' आदि पदों के पढ़ने वालों से छिपा नहीं है।

संसार में माता-पिता, भाई-बहन, सास-ससुर आदि जितने भाई-बन्धु तथा सम्बन्धी-गण थे, वे सभी रामचन्द्र की अपेक्षा लक्ष्मण की दृष्टि में तुच्छाति-तुच्छ थे; यहाँ तक कि स्वयं राजा दशरथ भी, जो उनके पूज्य पिता थे, लक्ष्मण के लिए घास-भूसा थे। कामान्ध पिता ने विमाता कैकेयी के माया-जाल में फँसकर रामचन्द्र जैसे सुपुत्र को अकारण वन-वास दिया था। राजा का यह अपराध अक्षम्य था और वह रामचन्द्र के कल्याणाकांक्षी लक्ष्मण के कोमल हृदय पर बराबर डंक मार रहा था। आखिरकार वे आवेश में आकर उबल ही पड़े और शृंगवेरपुर से सुमन्त के घर लौटने के समय पिता के प्रति खरी-खोटी सुनाकर ही उन्होंने दम लिया—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन संदेस कहिए जनि जाई॥

रामचन्द्र ने सुमन्त को लक्ष्मण का सन्देश पिता से कहने को मना तो किया; पर सुमन्त ने राजा दशरथ को रामचन्द्र का सन्देश सुनाते समय लक्ष्मण का भी सन्देश कह सुनाया। उन्होंने माना नहीं—

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बारबार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

रामचन्द्र ने लक्ष्मण के सम्बन्ध में 'लरिकाई' शब्द का प्रयोगकर केवल इस एक ही शब्द के द्वारा उनका चरित्र-चित्रण कर डाला। सचमुच लक्ष्मण में लड़कपन विशेष रूप से अपना प्रभाव समय-समय पर देखाया करता था। इसी कारण वे किसी भी विषय पर न जमकर रह ही सकते थे; न गम्भीरता के साथ विचार ही कर सकते थे। शृंगवेरपुर में जब निषाध-राज गुह रात के समय रामचन्द्र और जानकी को पृथ्वी पर चटाई बिछाकर सोए हुए देखकर विषाद-व्याकुल हुआ तो लक्ष्मण ने उसे दार्शनिक उपदेशों द्वारा सान्त्वना देकर किसी पर भी रोष करना वा दोष लगाना बुरा बतलाया—

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-विराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म्म भोग सब भ्राता॥
योग वियोग भोग भलमन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जन्म मरण जहँ लगि जग जालू। संपति विपति कर्म्म अरु कालू॥
धरणि धाम धन पुर परिबारू। स्वर्ग नरक जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिए सुनिए गुनिए मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥
दो०—सपने होइ भिखारि नृप रंक नाक पति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिए जोइ॥ इत्यादि।

इस प्रकार लखनलाल गुह को रात भर समझाते रहे; पर भोर होते ही आपका सारा दर्शनशास्त्र काफूर हो गया और सुमन्त के घर वापस जाते समय और दूसरे को कौन कहे; स्वयं अपने पिता पर ही अपना रोष प्रकट करते तथा रामचन्द्र के विवासन का सारा दोष उन पर ही मढ़ते हुए उनके विरुद्ध जली-कटी सुना ही बैठे। इसी को कहते हैं—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' आपने कौन सी जली-कटी सुनाई, इसे गोसाईं जी ने अपनी आदत के अनुसार छिपा

रखी है; पर वाल्मीकि ने इसे साफ खोल दी है। वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ५८ पढ़िए—

> लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत् ।
> केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥
> राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु चा श्रुत्यशासनम् ।
> कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीड़िताः ॥ २७ ॥
> यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।
> वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥
> इदं तावद्यथा काममीश्वरस्य कृतेकृतम् ।
> रामस्य तु परित्यागे न हेतु मुपलक्षये ॥ २९ ॥
> असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।
> जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्यविवासनम् ॥ ३० ॥
> अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोप लक्षये ।
> भ्राता भर्त्ता च बन्धुश्च पिता मम च राघवः ॥३१॥

अर्थ—लक्ष्मण क्रोधित होकर श्वास लेते हुए बोले कि किस अपराध के कारण ये राजपुत्र (रामचन्द्र) विवासित हुए ॥२६॥ राजा ने कैकेयी का घृणित शासन मानकर चाहे उचित किया वा अनुचित; हम लोग तो सभी प्रकार से पीड़ित हुए ॥२७॥ यदि रामचन्द्र कैकेयी के लोभ के कारण अथवा उसको वरदान के कारण विवासित हुए हों, तो भी सभी प्रकार से यह काम बुरा हुआ है ॥२८॥ यदि कहो कि ईश्वर की प्रेरणा से यह काम हुआ, तो भी रामचन्द्र के परित्याग का मुझे कोई कारण नहीं दीखता ॥२९॥ बुद्धि की कमी के कारण उचितानुचित विचारे बिना किया हुआ रामचन्द्र का विवासन-रूपी यह निषिद्ध कार्य अवश्य ही दुःख को उत्पन्न करेगा ॥३०॥ मैं महाराज दशरथ में

पितृत्व नहीं देखता; अर्थात् मैं उन्हें अपना पिता नहीं मानता। मेरे भाई, स्वामी, बन्धु और पिता रामचन्द्र ही हैं ॥३१॥

यहाँ लक्ष्मण का सम्वाद है जिसे सुमन्त ने शृंगवेरपुर से अयोध्या वापस आकर राजा दशरथ से कह सुनाया था। वन-गमन के पूर्व जब लक्ष्मण कौशल्या से मिलने गए हैं तो उनके समक्ष आपने अपने पिता के विरुद्ध अपने मुँह से जो विष उगला है उसे भी जरा पढ़िए। आखिर आप निखिल-विष-भंडार शेष के ही अवतार जो ठहरे। वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २१ पर दृष्टि-पात कीजिए—

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥३॥
न दिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्य मुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्य्याद्राज वृत्त मनुस्मरन् ॥७॥
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता।
अमित्र भूतो निःसंगं बध्यतां वध्यतामपि ॥१२॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥१३॥
हरिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्या सक्तमानसम्।
कृपणं चस्थितं बाल्ये वृद्ध भावेन गर्हितम् ॥१४॥

अर्थ—प्रतिकूल स्वभाववाले, बूढ़े, विषयासक्त, स्त्री विवश तथा कामातुर राजा क्या नहीं बोल सकते हैं? अर्थात् उचितानुचित सब कुछ बोल सकते हैं ॥३॥ अतः पुनः बाल-भाव को प्राप्त हुए राजा का यह वचन कौन पुत्र, राजा के यौवराज्य-प्रदान रूपी पूर्व्वाचरण का स्मरण करता हुआ अपने हृदय में धारण करेगा? ॥ ७ ॥ यदि हम लोगों के पिता कैकेयी से प्रेरित और उससे सन्तुष्ट होकर हमलोगों के शत्रु हो गए हैं तो वे

सम्बन्ध विच्छेदपूर्व्वक मार डालने वा कैद करने के योग्य हैं ॥१२॥ जो गुरुजन बुरे कार्य्य में लिप्त हों, कार्य्याकार्य्य का विचार न करें और कुमार्ग में प्रवृत्त हों तो उन पर भी शासन (नियंत्रण) होना चाहिए ॥१३॥ मैं बूढ़े, कैकेयी में आसक्त, क्षुद्रचित्त, बाल भाव प्राप्त तथा बुढ़ापे के कारण घृणित पिता को दूर करूँगा ॥१६॥

लक्ष्मण एक अपरिपक्व बुद्धि के नवयुवक थे जो किसी भी विषय पर अपनी जल्दबाजी के कारण गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार करने की क्षमता नहीं रखते थे। इसका एक स्पष्ट तथा प्रबल प्रमाण हमलोगों को तब मिलता है जब वे चित्रकूट में भरत तथा खुद अपने सहोदर तथा छोटे भाई शत्रुघ्न का, उन लोगों को रामचन्द्र का अनिष्ट करने के लिए सेना के साथ आते हुए समझकर, वध करने पर तैयार हो गए। गोसाईंजी के शब्दों में वे इस प्रकार उबल पड़े—

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
भरत नीति-रत साधु सुजाना। प्रभु-पद प्रेम सकल जग जाना॥
तेऊ आज राज-पद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोर दोउ भाई॥
जौं जिए होत न कपट कुचाली। केहि सुहाति रथ-बाजि गजाली॥
भरतहिं दोष देइ को जाए। जग बौराइ राजपद पाए॥ इत्यादि।

भरत लक्ष्मण के सौतेले भाई थे। उन्हीं के लाभ के लिए उनकी माता ने सभी षड्यन्त्र रचे थे; अतः लक्ष्मण का, भरत की नेक-नीयती में, विश्वास का न होना उनकी नासमझी के

कारण स्वाभाविक कहा जा सकता है; पर शत्रुघ्न तो उनके अपने सगे भाई थे जो उम्र में उनसे भी छोटे थे। अतः लक्ष्मण का शत्रुघ्न को भी भरत का पक्ष लेकर कैकेयी के षड्यंत्र में सम्मिलित मान बैठना उनकी एक ऐसी भयंकर भूल थी जिसे देखकर हमलोगों को उनकी बुद्धि पर हठात् हँसी आ जाती है। उनके कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ उनकी पूर्वोक्त बौछार से कैसे निकल भागे, यह समझ में नहीं आता; क्योंकि वे भी तो भरत के साथ थे।

भरत—रामायण के पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय भरत को भूल जाना अपने विषय के साथ घोर अन्याय करना है। अतः भरत के भी चरित्र का, विशेषतः उस भरत के चरित्र का, जिसके लिए कैकेयी ने इतना भयंकर काण्ड रच डाला, दिग्दर्शन पाठकों को करा देना आवश्यक है। यद्यपि कैकेयी ने निजी स्वार्थ के ही लिए इतना ऊधम मँचाया; पर इतना तो अवश्य है कि यदि वह राम को वनवास न दिलाती तो राक्षस-वंश का समुच्छेद न होता। अतः यद्यपि राक्षसों का विनाश उसके पूर्व-चिन्तित योजना (Pre-meditated Plan) का कोई भी अंश न होता हुआ भी वह केवल देवताओं के भाग्य से ही अकस्मात् घटित हो गया, तो भी इसके लिए वह उनकी कृतज्ञता का पात्र, अल्पांश में ही सही, अवश्य है। भ्रातृ-चतुष्टय में वयो-दृष्टि से राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न, यही वास्तविक क्रम है। पर साधारण बोल-चाल में लोग राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, यही बोला करते हैं। इस विकृत क्रम का आधार राम के साथ लक्ष्मण का और भरत के साथ शत्रुघ्न का साहचर्य्य मात्र है। आदि से लेकर अन्त तक राम के साथ लक्ष्मण का और भरत के साथ शत्रुघ्न का साहचर्य्य हम लोग बराबर देखते

आए हैं। इसी कारण उक्त विकृत क्रम ही जनता में प्रचलित हो गया है।

भरत कैकेयी के पुत्र थे; पर वे उसके कुचक्रों में किसी भी प्रकार लिप्त न थे। कौशल्या के सामने अपनी सफाई में उन्होंने जिन लोम-हर्षण शपथों का एक सुविस्तृत ताँता बाँधा है वे मनन करने योग्य हैं—

जे अघ मातु पिता गुरु मारे। गाइ गोठ महि सुरपुर जारे॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं॥
ते पातक मोहि देहु बिधाता। जौ यह होइ मोर मत माता॥
जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर।
तिनकी गति मोहिं देहु बिधि, जो जननी मत मोर॥ इत्यादि।

जिस समय कैकेयी ने रामचन्द्र के देश-निकाले का फतवा सुनाया, उस समय भरत, शत्रुघ्न के साथ, अपने नानिहाल में थे। लक्ष्मण और शत्रुघ्न के परिचारिका-पुत्र होने के कारण. इन लोगों का गणना-योग्य अपना कोई खास नानिहाल न था: अतः ये लोग राम और भरत के ही नानिहाल को अपना नानिहाल मानते थे। वशिष्ठ-प्रेरित राजदूतों के द्वारा घर लौटने का आदेश पाकर जब भरत अयोध्या लौटे तो हर्षोल्लसित कैकेयी के मुँह से पितृ-मरण का समाचार पाते ही वे कटे वृक्ष की तरह ज़मीन पर लोट गए और इससे अधिक अधीर तो वे तब हुए जब उसने जले पर नमक डालने की तरह रामचन्द्र का वनवास भी कह सुनाया। राम का वनवास सुनते ही भरत को पितृ-मरण का दुःख भूल गया और अपनी माता को जली-कटी सुनाने लगे—

धीरज धरि भरि लेहि उसासा । पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा ॥
जो पै कुमति रही अति तोही । जनमत काहें न मारेसि मोही ॥
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा । मीन जिअन हित वारि उलीचा ॥
हंस वंश दशरथ जनक, रामलखन ते भाइ ।
जननी तू जननी भई, विधि सन कछु न बसाइ ॥ इत्यादि ।

क्या इन प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि भरत के हृदय में रामचन्द्र के लिए जितना प्रेम और जितनी भक्ति थी उतना प्रेम और उतनी भक्ति स्वयं दशरथ के लिए न थी। अथवा यों कहिए कि उनके लिए राम ही सब कुछ थे। लक्ष्मण की ही तरह भरत की भी दृष्टि में दशरथ पिता होते हुए भी रामचन्द्र की अपेक्षा एक गौण स्थान रखते थे; पर भरत और लक्ष्मण में यह अन्तर था कि भरत अति ही धीर और गंभीर थे; पर लक्ष्मण में लड़कपन की कुछ-कुछ चुलबुलाहट थी। सच पूछिए तो गोसाईं जी की अमर लेखनी ने कैकेयी-नन्दन की लोकोत्तर साधुता, अथाह बुद्धि-गम्भीर्य, अद्वितीय त्याग, विलक्षण सौजन्य तथा असमानान्तरित ज्येष्ठ-भक्ति को देदीप्यमान और अमिट सुवर्णाक्षरों में अङ्कित कर अपनी अतुल प्रतिभा का परिचय दी है। भरत की बुद्धि कितनी गम्भीर थी, बस इसी से जान लीजिए कि महर्षि वशिष्ठ जैसे बुध-शिरोमणि भी उसका थाह लगाने में असमर्थ थे। गोसाईं जी ने

भरत बुद्धि-महिमा जलरासी । मुनि मति तीर ठाढ़ अवलासी ॥
गा चह पार जतन बहु हेरा । मिलै न नाव न वोहित बेरा ॥
और करहि को भरत बड़ाई । सरसी सीप कि सिन्धु समाई ॥

इत्यादि पद्यों को लिखकर महर्षि की भी बुद्धि को एक अनुपाय तथा असहाय अवला बनाकर सिन्धु तट पर खड़ी कर दिया और अपने विषय में तो केवल इतना ही लिखकर कि

चौ०—सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती । बाज सुराग कि गाड़र ताँती ॥

हार माना और सन्तोष कर लिया। भरत के कट्टर से भी कट्टर समालोचकों ने उनके समुज्ज्वल तथा मुक्ता-शुभ्र चरित्र के कोने-कोने छान डाले; पर उन्हें 'ननुनच' करने का कोई भी स्थान न मिला। पर इस प्रसंग में एक और बात भी विचारणीय है जिस पर समालोचकों का ध्यान संभवतः अब तक नहीं गया। भरत रामायण-नाटक के एक पात्र तो हैं ज़रूर; पर रामादिकों की तरह उन्हें रंग-मंच पर बार-बार आकर अभिनय करने का मौका बहुत ही कम हुआ है। वे सदा यवनिका के भीतर ही बैठे रहे और रंग-मंच पर आए भी तो मुख्यतः केवल दो ही बार—(१) रामचन्द्र के वनवास का प्रसंग छिड़ने तथा (२) संजीवन मूल ले जाते हुए हनूमान से भेंट होने पर। यही कारण है कि भरत के चरित्र का यथेष्ट अध्ययन करने का मौका समालोचकों को नहीं मिला, जिससे उनकी कमजोरियाँ दृष्टिगत न होने पाईं। पहले प्रसंग में भरत-विषयक प्रशंसा की बौछार से पाठकों का ध्यान उन पर इस प्रकार केन्द्रित हो जाता है कि वह वहाँ से हटकर थोड़ी देर के लिए भी दूसरे प्रसंग की ओर जाने नहीं पाता। सीता जी का हरण हो चुका है और उनके लिए रामचन्द्र को त्रिभुवन-विजयी रावण जैसे एक दुर्द्धर्ष शत्रु से काम पड़ा है। अनुज लक्ष्मण शक्ति-ताड़ित होकर मूर्च्छावस्था में रामचन्द्र की गोद में पड़े हैं। उनके बचने की आशा नहीं है और रामचन्द्र 'हा लक्ष्मण! हा लक्ष्मण!' बार-बार कहते हुए करुण-क्रन्दन कर रहे हैं। यह अरुन्तुद समाचार हनूमान के मुँह से सुनकर भी भरत के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती, यह एक कैसी विचित्र बात है! जो भरत राम-वन की वार्त्ता सुनकर पिता का भी मरण भूल

गए और शीघ्रातिशीघ्र उनकी दाहादि क्रियाएँकर रामचन्द्र को मनाकर वापस लाने के लिए अपने दल-बल के साथ चित्रकूट चल पड़े; वे ही भरत रामचन्द्र को उक्त दारुण परिस्थिति के चंगुल में फँसे हुए सुनकर भी टस से मस नहीं हुए, यह एक ऐसी पहेली है जिसकी व्याख्या करना ज़रा टेढ़ी खीर सा जान पड़ता है। हनूमान् से लक्ष्मण-मूर्च्छा-विषयक उक्त दुःखद वृत्तान्त सुनकर भी वे केवल इतना ही कहकर चुप लगा जाते हैं—

अहह दैव मैं कत जग जायेउँ। प्रभु के एकहु काज न आयेउ॥

मन में तो वे दुःखी हुए ज़रूर; पर कुअवसर जानकर उन्होंने धैर्य्य धारण कर लिया। रामचन्द्र के काम में आने का अवसर अब इससे बढ़कर क्या होगा जो वे इसे 'कुअवसर' समझकर इसकी उपेक्षा कर देते हैं ? इतना ही नहीं; वे रामचन्द्र के तत्कालीन संकट की सूचना वशिष्ठ, शत्रुघ्न, आमात्यगण वा किसी भी अवधवासी को देते तक नहीं; उनकी सहायता का कुछ प्रबन्ध करना वा करवाना तो दूर रहा। इससे तो उनका मन में दुःखी होना भी संदिग्ध हो जाता है। जिन भरत के बाण में ऐसी शक्ति है कि वह हनूमान को अपने ऊपर सशैल चढ़ाकर भी बात की बात में उन्हें लंका पहुँचा सकता है उन भरत का ऐसे मौके पर अपना जौहर देखाने से चूक जाना उनके सारे अलौकिक गुणों पर एकबारगी पानी फेर देता है। यदि कहो कि भरत बखूबी जानते थे कि रामचन्द्र स्वयं पूर्णतः पराक्रमी हैं; उन्हें किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है, अतः उन्होंने राम की सहायतार्थ कुछ भी नहीं किया। इस पर मैं भी पूछता हूँ कि क्या रामचन्द्र को राज्य की लालच थी जो भरत उसका प्रलोभन उनको देकर उन्हें मनाने चित्रकूट

गए थे ? यदि कहो कि भरत अपना कर्त्तव्य-पालन के लिए चित्रकूट गए तो क्या भाइयों का विपन्नावस्था में एक दूसरे की सहायता करना कर्त्तव्य नहीं है ? और यदि राम को किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता न थी तो उन्होंने बानरों और भालुओं को अपने सहायक क्यों बनाए ? चाहे जिस दृष्टि-कोण से भरत के सम्पूर्ण आचरणों पर विचार किया जाए, उनके अन्यथा देदीप्यमान चरित्र में उक्त त्रुटि रह ही जाती है और उसके परिमार्ज्जन का कोई भी उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता।

रावण—रामायण के पात्रों पर विचार करते समय रावण की उपेक्षा करना मानो कुलाल के आवे में नाद की उपेक्षा करना है। अतः उसके भी चरित्र पर विचार करना परमावश्यक है। क्योंकि वह रामायण का कुछ ऐसा-वैसा पात्र न होकर स्वयं राम का ही प्रतिनायक है। उसके चरित्र की समालोचना करने के पूर्व मैं पाठकों को उसका वंश-परिचय संक्षेपतः करा देना चाहता हूँ। ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से एक पुलस्त्य ऋषि हैं। इन्होंने राजर्षि तृणविन्दु की कन्या में विश्रवस् को उत्पन्न किया। विश्रवस् की दो स्त्रियाँ थीं—(१) ऋषि भरद्वाज की कन्या इलबिला और (२) सुमाली नामक राक्षस की कन्या कैकसी वा केशिनी। इलबिला के गर्भ से वैश्रवण हुए जिन्हें कुबेर, धनद आदि भी कहते हैं और कैकसी के गर्भ से क्रमशः रावण, कुम्भ-कर्ण, शूर्पणखा और विभीषण, ये चार बच्चे हुए। पुनः मय-दानव की कन्या मन्दोदरी के गर्भ से रावण के मेघनादादि कितने पुत्र हुए। इस वंशावली से मालूम होता है कि कुबेर रावण के सौतेले, पर बड़े भाई थे। कुबेर पहले लंका में रहते थे; पर रावण उन्हें वहाँ से खदेड़कर स्वयं लंका का स्वामी बन बैठा। तब वे

अलकापुरी चले गए और वहाँ ही रहने लगे। पर वहाँ भी रावण ने उनको चैन से नहीं रहने दिया। रावण को सर्वत्र ऊधम मचाते देखकर कुबेर ने बड़े भाई होने के नाते उसे सदुपदेशों के द्वारा रोकना चाहा। इस पर उसने क्रुद्ध होकर अलकापुरी पर ही धावा बोल दिया और रण में कुबेर को जीतकर उनका पुष्पक विमान छीन लिया। यह विमान रावण के यहाँ उसके जीवन-पर्य्यन्त रहा और उसके मृत्युपरान्त ही रामचन्द्र को ससैन्य लंका से अयोध्या पहुँचाकर उन्हीं की आज्ञा से कुबेर के पास लौट गया।

रावण के पूर्व्वोक्त वंश-विवरण से सिद्ध है कि वह पितृपक्ष से ब्राह्मण, पर मातृपक्ष से राक्षस था। पर यहाँ प्रश्न तो यह है कि उसमें केवल आसुरी प्रकृति ही क्यों विकसित हुई और ब्राह्मणी प्रकृति क्यों दब गई? जान पड़ता है कि उस पर तथा इसी प्रकार कुंभकर्ण और शूर्पणखा पर, मातृ-कुल का प्रभाव अधिक पड़ा होगा जिससे वे स्वभावतः देवताओं और यज्ञादिकों के द्वारा उनका सत्कार करनेवाले मनुष्यों के जानी दुश्मन बन गए। और विभीषण उस प्रभाव से बिल्कुल दूर रहा; अतः उसका स्वभाव रावणादिकों के स्वभाव से भिन्न हुआ। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि देवता, राक्षस और मनुष्य वास्तव में कौन थे। ब्रह्मा के पुत्र मरीचि और मरीचि के पुत्र कश्यप हुए। कश्यप की कई स्त्रियाँ थीं जिनमें दनु नामक स्त्री से दानव, दिति नामक स्त्री से दैत्य और मनु नामक स्त्री से मनुष्य उत्पन्न हुए। इसी प्रकार उनकी अदिति नामक स्त्री से देवगण हुए। वस्तुतः दानव, दैत्य, मनुष्य और देवगण, ये सभी नर-जाति के भिन्न-भिन्न वर्ग हैं। दानव, दैत्य और देव कुछ नरेतर प्राणी नहीं हैं जो इनके बल और रूप के

विषय में पुराणों में इतनी कपोल कल्पना की गई है। ये चारों परस्पर दायाद थे; अतः अपने अपने राज्य और पराक्रम की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए इन सबों में स्वभावतः होड़ मच गई। दैत्यों ने दानवों का और मनुष्यों ने देवताओं का साथ दिया। जो देव-विरोधी थे, वे ही असुर वा राक्षस कहलाए। अतः 'असुर' वा 'राक्षस' संज्ञा दैत्यों और दानवों दोनों की ही हो गई। नमुचि, शंबर, अरिष्ट, वृषपर्व्वा आदि दानव; पर हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, वलि, याख आदि दैत्य थे। असुरों वा राक्षसों के लिए "यातुधान" संज्ञा भी आती है'। यह कोई आवश्यक नहीं कि सभी असुर बुरे और सभी देवता अच्छे ही हों। पर अपने साहित्य में अपने शत्रुओं को काले रंग में रंग देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण है देवपक्षीय साहित्य में राक्षसों को बड़े ही ऊधर्मी और पापिष्ठ कहा गया है। असुर-पक्षीय साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है; नहीं तो मालूम हो जाता कि किन-किन घृणित शब्दों में देवगण याद किए गए हैं। मालूम होता है कि विजयी देवताओं ने असुरों के साहित्य नष्ट कर डाले। अभी जो कुछ असुर-साहित्य बँचा-खुचा है, जैसा कि पारसी लोगों का जेन्दावस्था, उसमें 'अहुर' (असुर) और 'देव' शब्द देव-भाषा के 'असुर' और 'देव' शब्दों से बिल्कुल उल्टा अर्थ रखते हैं; अर्थात् 'अहुर' शब्द का अर्थ देवता और 'देव' शब्द का अर्थ दानव है। खोज करने पर देव-साहित्य में भी देवताओं के विरुद्ध कितनी बातें मिलेंगी। देवताओं में सर्वप्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महादेव, ये त्रिदेव हैं। असुरों के उपद्रवों के कारण जब-जब देवताओं पर संकट पड़ा है तब-तब विष्णु ही उनके सहायक हुए हैं। अब ज़रा इन त्रिदेवों का चरित्र देखिए। देव-दल के नेता विष्णु हैं। अपनी

पार्टी की स्वार्थ-सिद्धि के लिए ये नीच से भी नीच कर्म्म करने में तनिक भी नहीं हिचकते। इनके द्वारा जलन्धर की पतिव्रता स्त्री का सतीत्वापहरण इनकी कलुषित मनोवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। महादेवजी पूरे बंभोला हैं। ये असुरों के उपास्य देव हैं। ये गाँजा, भाँग आदि नशीली चीज़ों के नशे में सदा मस्त रहते हैं। समुद्र-मंथन के समय भुवन-मोहिनी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर ये किस प्रकार पूरे मजनू बन गए, यह भागवत के पाठकों से छिपा नहीं है। अब ब्रह्मा का हाल सुनिए। भागवत में लिखा है कि यदि ब्रह्मा जी के पुत्र मरीचि आदि उन्हें न रोकते तो यह ज़रूर था कि वे अपनी ही कन्या के साथ बलात्कार कर बैठते। देवताओं का राजा इन्द्र है। इसके विषय में जितना थोड़ा लिखा जाए उतना ही अच्छा है। यह सदा सुन्दर स्त्रियों की टोह में लगा रहता है। महर्षि गौतम की स्त्री अहल्या का सतीत्व इसने किस धूर्त्तता और चोरी से नष्ट किया, यह सभी हिन्दू, आबाल-वृद्ध, जानते हैं। इसे दूसरों का उत्कर्ष फूटी आँखों से भी नहीं देखा जाता; अतः वह बार-बार उसमें रोड़े अटकाया करता है। काम और वसन्त इसके दो साथी हैं। इन्हीं के द्वारा यह तपस्वियों का तप भंग किया करता वा भंग करने की चेष्टा सदा किया करता है। यज्ञों का घोड़ा चुराना इसकी बान-सी पड़ गई है। वृहस्पति देवताओं के गुरु हैं। ये एक बार इस प्रकार कामान्ध हो गए कि ये अपने भाई उतथ्य की पत्नी ममता के साथ जारकर्म्म कर बैठे जिससे वितथ (भरद्वाज) नामक पुत्र हुआ। इस पुत्र को राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत ने गोद ले लिया। पर कहावत मशहूर है कि किए हुए का फल हाथोहाथ मिल जाता है। वृहस्पति ने दूसरे की इज्ज़त बिगाड़ी; अतः उनकी भी

इज्ज़त बिगाड़ने वाला खुद उनका चेला चन्द्र ही निकला। उसने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा पर ही अपना हाथ साफ़ किया जिसके फलस्वरूप बुध नामक पुत्र हुआ। इस पुत्र को लेकर चेले-गुरु में विवाद छिड़ा; तब देवताओं ने बीज की प्रधानता मानकर उसे चन्द्र के ही हवाले किया। चन्द्र की काली करतूत यहीं पर समाप्त नहीं होती। वह गौतम की स्त्री अहल्या का सतीत्व नष्ट करने में देवराज इन्द्र का सहायक भी बना। इस पर भी यह ब्राह्मणों का राजा कहा जाता है। गोसाईं जी ने भी 'शशि गुरु-तिय-गामी' लिखकर तारा के साथ चन्द्र के काले कारनामे को प्रमाणित कर दिया है। विराट् रूप परमात्मा की, चन्द्र और सूर्य, ये ही दो आँखें हैं जिनमें एक आँख की तो करतूत दिखलाई गई। अब दूसरी आँख (सूर्य) की करतूत सुनिए। इन्होंने कुन्ती जैसी एक अबोध कुमारी बालिका के साथ बलात्कारकर कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न किया, जिसे उस बिचारी ने सन्दूक में बन्दकर चुपके से, स्वविषयक लोकापवाद को छिपाने के लिए, गंगा में बहा दिया। ये तो हैं देवताओं की लीलाएँ जो उन्हीं के साहित्य में लिखी मिलती हैं। यदि असुर-साहित्य हमें पूरा उपलब्ध होता तो हमें पता चलता कि असुर लेखकों ने उनकी कैसी हजामत बनाई है! गोसाईं तुलसीदास जी भी, जो देवताओं के अनन्य भक्त हैं, उन्हें अच्छी निगाह से नहीं देखते। उन्होंने देव विषयक अपनी सम्मति निम्नलिखित पद्यों में बद्ध कर दी है। कल रामचन्द्र का अभिषेक होगा, यह जानकर अयोध्या में घर-घर बधावा बज रहा है; पर देवताओं की क्या गति है?

सकल कहहिं कब होइहिं काली। विघ्न मनावहिं देव कुचाली॥
तिनहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चाँदनि रात न भावा॥

शारद बोलि विनय सुर करहीं। बारहिं बार पायँ लै परहीं॥
बार बार गहि चरण सकोची। चली बिचारि विबुध मति पोची॥
ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती॥

इन चौपाइयों में गोसाईं जी ने देवताओं को साफ़-साफ़ कुचाली, चोर आदि कह डाला है। पुनः चित्रकूट में रामचन्द्र और भरत के बीच वार्तालाप होते समय उन्होंने देवताओं तथा उनके राजा इन्द्र के विषय में क्या लिखा है, उसे भी सुन लीजिए—

देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि विदेह सनेह बिसेखी॥
राम भगतिमय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भए अलेख सोच बस लेखा॥

राम सनेह सकोच बस, कह ससोच सुर राज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि, नाहिं त भएउ अकाज॥

सुरन सुमिर सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु विबुध कुल करि छल छाया॥
विबुध विनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥
इत्यादि।

यहाँ पर भी गोसाईं जी ने देवताओं को स्वार्थी, प्रपंच के रचने वाले, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों से छल कराने वाले, जड़ आदि कहा है। पुनश्च—

सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाटु॥

करि कुचाल सोचत सुर राजू। भरत हाथ सब काज अकाजू॥

ये पद्य भी देवताओं के विषय में पूर्वोक्त हेय भाव के ही द्योतक हैं। स्वयं देवराज इन्द्र के लिए गोसाईं जी ने कौन सी उपमा दे रखी है, ज़रा उसे भी देख लीजिए—

सो०—देख दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर नारि सब।
मघवा महामलीन, मुएहिं मारि मंगल चहत॥

कपट-कुचालि-सीवँ सुर राजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाक रिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥ इत्यादि

यहाँ पर इन्द्र को मरे हुओं को भी मारने वाला अतः अति ही निर्दय, औवल दर्जे का कपटी, छली, महामलीन और कहीं पर भी विश्वास नहीं करने वाला कहा गया है और उसकी उपमा काक से, जो पक्षियों में चाण्डाल माना जाता है, दी गई है। जब गोसाईं जी को इन्द्र को काक की उपमा देने से भी सन्तोष न हुआ तो उन्होंने लाचार होकर 'श्वयुव मघोना मतद्धिते', महर्षि पाणिनि के इस सूत्र का सहारा लेते हुए उसे कुत्ता ही बनाकर छोड़ा—

लखि हिए हँसि कह कृपा निधानू। सरिस स्वान मघवान जुवानू॥

देवर्षि नारद को घोर तपस्या में समाधिस्थ हुए जान इन्द्र को उनके द्वारा अपना पद छिन जाने की आशंका हो गई; उस प्रसंग में भी गोसाईं जी ने उसको काक और कुत्ते की ही उपमा दी है—

मुनि गति देखि सुरेस डराना। कामहिं बोलि कीन्ह सनमाना॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरखि हिय जल चर केतू॥
सुना सीर मन महँ अति त्रासा। चहत देव रिषि मम पुर वासा॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डराहीं॥

दो०—सूख हाड़ लेइ भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज ॥
छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज ॥

देवताओं तथा उनके स्वामी इन्द्र महाराज के चरित्र के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। यदि देवगण सचमुच ऐसे ही गिरे हुए जीव थे तो वैसे जीवों के उद्धारार्थ ईश्वरावतार होना बिल्कुल फ़जूल है; कारण कि ईश्वरावतार तो साधुओं की रक्षा और असाधुओं के दमन के लिए होना चाहिए। पर यहाँ तो देवताओं और असुरों के बीच साधुओं और असाधुओं की पहचान करना कठिन है। किसी भी निष्पक्ष न्यायकर्त्ता की दृष्टि में देवगण असुरों से किसी प्रकार अच्छे नहीं हैं; अतः परमात्मा का देवपक्ष स्वीकारकर असुर पक्ष को नीचा दिखाना उनकी न्यायपरायणता में बट्टा लगाकर उन्हें महा-पक्षपाती तथा अन्यायी सिद्ध करता है ।

पर कितने ऐसे भी लोग हैं जो विष्णु, चन्द्र, इन्द्र आदिकों की पूर्वोक्त काली करतूतों पर अलंकार का पुचाड़ा फेरकर उनसे प्राकृतिक, ज्यौतिषिक आदि विविध वर्णनों के अर्थ खैंचातानी करके निकालते हैं। जैसे विष्णु द्वारा जलन्धर की स्त्री का सतीत्व नाश करने का यह अर्थ निकालते हैं—'जलंधर' का अर्थ आकाश है और मेघमाला आलंकारिक शैली में उसकी स्त्री है, जिस पर 'विष्णु' (सूर्य) की किरणों का पड़ना मानो सहभोग है । यह प्राकृतिक वर्णन है। चन्द्रमा का वृहस्पति की स्त्री तारा के साथ जार कर्म्म करने का यह अर्थ किया जाता है—चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। वृहस्पति-ग्रह सूर्य की परिक्रमा करता है। रोहिणी नामक तारा एक नक्षत्र है। बुध भी एक ग्रह है। चन्द्रमा, वृहस्पति, बुध और रोहिणी तारा का एक राशि पर समागम हो जाना ही उक्त आख्या-

यिका में वर्णन किया गया है। इन्द्र और अहल्या की कथा का अर्थ लीजिए—इस कथा का अर्थ केवल प्रभात वर्णन है। वैदिक साहित्य में 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य, 'अहल्या' का अर्थ रात्रि, 'जार' का अर्थ आयु का क्षय करने वाला अर्थात् विनाशक और 'गौतम' का अर्थ चन्द्रमा है। अब उक्त कथा का स्पष्ट भाव यह हुआ कि गौतम (चन्द्रमा) की स्त्री अहल्या (रात्रि) से इन्द्र (सूर्य) ने जार-कर्म किया; अर्थात् रात्रि की आयु क्षीण कर उदित हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मा का अपनी ही कन्या के भोग करने का प्रयास करना यह अर्थ रखता है कि जीवात्मा ही ब्रह्मा है; उसके मरीच्यादि सरीखे ज्ञानादि ही पुत्र हैं। ब्रह्मदेव की माया ही उनकी पुत्री है। यह जीवात्मा माया में फँसना चाहता था कि ज्ञानादिकों ने उसे बचाया।

पर इस प्रकार रूपकालंकार की दुहाई देकर पूर्वोक्त अश्लील आख्यायिकाओं की गन्दगी छिपाने का प्रयत्न करना निरापद् नहीं है। इसके दो कारण हैं—(१) इस प्रकार के अर्थ करने की परिपाटी केवल अश्लील कथाओं तक ही सीमित नहीं रह सकती। वह धीरे-धीरे अपनी लम्बी तथा विकराल चोंच फैलाकर सत्कथाओं का भी शिकार करती हुई रामायण और महाभारत जैसे हिन्दू जाति के प्राचीन इतिहासों को रूपकों में परिणतकर उन्हें उदरसात् कर लेगी, जिस दशा में कृष्ण, अर्जुन, राम, सीता आदि सभी उसके पूज्य पूर्वज कल्पनिक व्यक्ति सिद्ध होंगे और उनके वास्तविक अस्तित्व से इस जाति को हाथ धो देना पड़ेगा। रूपक का आश्रय लेने का यदि किसी का अधिकार है तो उस अधिकार से वह दूसरों को वञ्चित नहीं कर सकता और न उन्हें वह

उस अधिकार का प्रयोग सत्कथाओं पर भी करने से न्यायतः कभी रोक सकता। और (२) यदि ऐसे ही गन्दे रूपक स्वयं रूपक मानने वालों के सम्बन्ध में रचे जाएँ तो वे मारे क्रोध के आग बबूले हो जाएँगे; चाहे बाद में आप उन्हें लाख समझाते रह जाएँ कि अरे भाई! मैंने एक वैज्ञानिक तत्व दिखाने के लिए केवल एक रूपक रचा है तो वे मानने वाले नहीं। एक उदाहरण लीजिए—जैसे मैंने किसी अलंकार-प्रेमी बड़े भारी वैद्यराज को 'गदहा' कह डाला और जब वे महाशय इस पर बिगड़े तो मैं यह कहकर उन्हें सान्त्वना देने लगा कि अजी महाराज! आप को गर्म होने का कोई कारण नहीं है। 'गद' नाम है रोग का और 'हा' कहते हैं हनन करने वाले को; अतः आप 'गदहा' अर्थात् रोगों के नाश करने वाले नहीं हैं तो क्या हैं? इस पर टोले-मुहल्ले के दो-चार और लाखैरे जुट गए और लगे ताली पीट-पीटकर ठहाका लड़ाने। ठीक यही हाल है ब्रह्मादि सम्बन्धिनी उक्त आख्यायिकाओं में रूपक मानने वालों का। अतः यदि देवगण सत्य हैं तो वे आख्यायिकाएँ भी सत्य हैं, उनमें रूपक कुछ भी नहीं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इन देवताओं के पक्ष में गोसाईंजी की इस चौपाई की दुहाई देते हैं—

समरथ को नहिं दोस गुसाईं; रवि पावक सुर सरि की नाईं।

पर उन्हीं गोसाईं जी ने यह दोहा भी लिख मारा है—

तुलसी यह जग आइ कै, कोइ न भयो समरत्थ;
इक कंचन दुइ कूच पै, को न पसारेव हत्थ।

अतः उनकी परस्पर-विरोधी बातें अमान्य हैं।

असुरों पर प्रायः यह लाञ्छन लगाया जाता है कि वे यज्ञादि वैदिक कृत्यों के घोर विरोधी थे तथा मौका मिलने

पर देवताओं तथा ऋषि-मुनियों के यज्ञों को बिना नष्ट-भ्रष्ट किए दम नहीं लेते थे। पहले लाञ्छन के निराकरण में कि असुर-समुदाय वेद-विरोधी था, केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यदि असुर-जाति वेद-विरोधिनी थी तो उसने ब्रह्मणाग्र-गण्य तथा भृगु कुल कमल दिवाकर आचार्य शुक्र को अपना पुरोहित किस कार्य के लिए बना रखा था ? क्या उनसे वह भाड़ झोंकवाया करती थी ? जिस प्रकार देवताओं के पुरोहित वृहस्पति थे उसी प्रकार असुरों के पुरोहित शुक्र थे। दैत्यराज बलि का, यज्ञ करते समय वटु-वेष-धारी वामन को तीन पग पृथ्वी दान कर देने की पूर्त्ति में अपने सारे साम्राज्य और यहाँ तक कि अपने शरीर तक को भी वामन के हवाले कर देना उनकी वैदिक धर्म के प्रति अटल विश्वास तथा असीम श्रद्धा का एक जबरदस्त प्रमाण है। स्वयं रावण और उसका बेटा मेघनाद रामचन्द्र के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए यज्ञ में प्रवृत्त हुए थे। *यदि असुर-साहित्य हमें प्राप्त होता तो उसके द्वारा न मालूम कितने असुर-यज्ञों का पता चलता। और यज्ञ-विध्वंसन-रूपी दूसरा लाञ्छन तो उभय पक्ष पर एक सा लागू है। यदि असुर-पक्ष देव-पक्ष का यज्ञ

---

* वाल्मीकीय रामायण के अनुसार हनुमान् ने सीता की खोज करते समय लंका में प्रत्येक राक्षस के घर में वेद-ध्वनि को सुना और यज्ञादि कर्म होते हुए देखा। सुन्दरकाण्ड पढ़िए—

षडङ्गवेद विदुषां, क्रतु प्रवर याजिनाम् ।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स्म, विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम् ॥ (१८।२)

इससे सिद्ध है कि राक्षस लोग वैदिक धर्म के मानने वाले तथा यज्ञादि के करने वाले थे।

नष्ट करता था तो देव-पक्ष भी असुर-पक्ष का यज्ञ नष्ट करता था। यह हरकत दो तरफ़ी थी। खुद रामचन्द्र ने ही, जिनका अवतार वैदिक धर्म की रक्षा के लिए हुआ था, विभीषण से पता पाकर लक्ष्मणादिकों के द्वारा मेघनाद और तत्पश्चात् रावण का भी यज्ञ विध्वस्त करवा दिया था। वामन रूपधारी विष्णु ने यज्ञ-दीक्षित दैत्येन्द्र वलि को किस प्रकार धोखे में डालकर उससे तीन पग पृथ्वी माँगने के बहाने उसे यज्ञ-च्युत किया और फिर उसे रसातल में पहुँचाया, यह श्रीमद्भागवत के पाठकों से छिपा नहीं है। वामन ने वलि के साथ केवल इतना ही अत्याचार नहीं किया; बल्कि उन्होंने उसके कुलगुरु आचार्य्य शुक्र की एक आँख भी फोड़ डाली, जिन्होंने अपने यजमान वलि को वामन के छल का शिकार होने से बचाना चाहा था। वामन को 'उपेन्द्र' अर्थात् इन्द्र का छोटा भाई भी कहते हैं; कारण कि वे कश्यप की स्त्री अदिति के गर्भ से इन्द्र के बाद उत्पन्न हुए थे। उपेन्द्र जी अपने बड़े भाई की स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म्मात्मा वलि को इस प्रकार लूट-खसोटकर उसे कैसी धूर्त्तता-पूर्ण सान्त्वना देते हैं, यह जानने के लिए श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ८, अध्याय २२, श्लोक २४ पढ़िए। वामन बलि को सुनाते हुए ब्रह्मा से कहते हैं—

ब्रह्मन्! यमनुगृह्णामि तद्विशोविधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥२४॥

अर्थ—हे ब्रह्मन्! मैं जिस पर कृपा करता हूँ उसका धन और विभव हर लेता हूँ; क्योंकि मनुष्य धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य के मद से मतवाला होकर सब प्राणियों का और मेरा निरादर करता है।

समीक्षा—तब तो अच्छा ही हुआ था कि वलि के द्वारा इन्द्र का राजपाट आदि सब कुछ छिन गया था। इस दशा में आपका वलि का राजपाट छिनकर पुनः उसमें इन्द्र को फंसाने के लिए इतना पाखण्ड रचना बिल्कुल बेकार था। पुनश्च—

इन्द्रसेन महाराज !

याहि भो भद्र मस्तुते। सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः।३३।

अर्थ—हे महाराज इन्द्रसेन (वलि)! तुम अपनी जाति वालों के साथ सुतल लोक को जाओ। तुम्हारा मंगल हो! सुतल लोक के लिए देवगण भी प्रार्थना करते हैं।

समीक्षा—यदि सचमुच ऐसी बात थी तो आप ने बलि को ठगने के लिए इतनी चालबाजी बेकार की। अच्छा तो यह होता कि आप इन्द्रादि देवताओं को ही सीधे सुतल लोक चले जाने के लिए पैसपोर्ट (Passport) दे देते! वामन जी महाराज! भले ही आप राजा वलि जैसे सीधे-सपाटे व्यक्ति को अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में फँसा लें; पर निष्पक्ष समालोचकों के सामने आप की दाल नहीं गल सकती।

यह तो लीला है छोटे भाई उपेन्द्र जी की। अब बड़े भाई इन्द्र जी की लीलाएँ सुन लीजिए। जैसा कि मैं अभी पहले कह चुका हूँ, घोड़े चुराकर वैदिक धर्मावलम्बियों का यज्ञ नष्ट करने तथा काम, वसन्त और अप्सराओं को भेजकर बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्या खराब करने का मानो इन्द्र ने बीड़ा उठा लिया था। गोसाईं-जी के शब्दों में इसका जो चरित्र अंकित हो चुका है उससे मालूम होता है कि यह राक्षसों से किसी प्रकार अच्छा नहीं था। वस्तुतः तुलनात्मक दृष्टि से निष्पक्ष होकर देखने पर राक्षस और देवगण दोनों

एक से मालूम पड़ते हैं। न राई दूसने के लाएक न सरसों सराहने के योग्य; जैसे नाग-नाथ वैसे साँप-नाथ।

चला था मैं रावण का चरित्र अंकित करने; पर प्रसंग-वश मैं अपने प्रकृत विषय से बहुत दूर खिंच गया; अतः उस पर मैं पुनः लौटता हूँ। प्रारम्भ में रामचन्द्र के साथ रावण की कोई शत्रुता न थी। शत्रुता का बीज तो खुद रामचन्द्र ने ही बोया जब उन्होंने उसकी बहन शूर्पणखा के नाक-कान बिना किसी अपराध के कटवा लिए। बिना किसी अपराध के इसलिए कहा कि जिस परिस्थिति में शूर्पणखा के मुखाङ्ग लून किए गए थे वह ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि जो उक्त कठोर दण्ड को न्याय-संगत बतला सके। इसका प्रचुर विवेचन पूर्व में ही कर आया हूँ। भला रावण जैसे अभिमानी वीर को, जिसके चलने से वसुन्धरा देवी के भी वक्षःस्थल में हड़कम्प मँच जाता था, अपनी इकलौती अतः परम प्यारी बहन की उक्त दुर्गति कब सह्य हो सकती थी? निदान उसने उक्त अपमान का प्रतिशोध-स्वरूप सीता का ही हरण किया। रावण के विपक्षी, जो पक्षपात के वश अन्धे होकर सदा उसके विरुद्ध फतवा दिया करते हैं और न्यायान्याय का कुछ भी विचार नहीं करते, इस पर यह कह सकते हैं कि यदि रावण को अपनी वीरता का घमंड था तो वह सीता को चोर की तरह क्यों ले भागा? इस पर मैं भी पूछ सकता हूँ कि यदि रामचन्द्र वस्तुतः मर्यादा पुरुषोत्तम थे तो उन्होंने सूर्पणखा के प्रति उक्त वर्वर व्यवहार क्यों किया? अथवा आगे चलकर धर्म की दुहाई देते हुए वाली को वृक्ष की आड़ में छिपकर व्याध की तरह क्यों मारा? सच पूछा जाए तो रामचन्द्र के आचरण की तुलना में रावण का आचरण उतना गर्हित न

था; कारण कि रामचन्द्र, रावण आदि उस युग के जीव थे जिसमें राक्षस, पैशाचादि विवाह भी, जो आधुनिक युग की दृष्टि में सख्त जुर्म हैं, वैध समझे जाते थे और फलतः नारी-हरण एक साधारण घटना समझा जाता था। इसके अतिरिक्त, रावण ने सीता-हरण में भी अपनी पूरी सभ्यता दिखलाई। गृहपति की अनुपस्थिति में वा बिना उसकी अनुमति के किसी के घर में घुस जाना एक अशिष्ट व्यवहार है। इस सामाजिक नियम का रावण पूर्णतः कायल था; अतः वह सीता हरणार्थ कुटी के अन्दर नहीं गया। बल्कि उसने किसी न किसी बहाने सीता को कुटी के बाहर पहले बुला लिया और तब उन्हें पकड़-कर वह नौ दो ग्यारह हुआ। यदि कहो कि लक्ष्मण सीता को अकेली छोड़कर राम के पास जाते समय कुटी के चारों तरफ़ एक रेखा ❀ खींचकर यह शाप देते गए थे कि जो कोई इस रेखा को नाँघकर कुटी के भीतर जाएगा वह जलकर भस्म हो जाएगा। इसी डर से रावण कुटी में नहीं घुसा। पर रावण को इस शाप का हाल मालूम कैसे हुआ? और यदि इस शाप का हाल रावण को किसी प्रकार मालूम भी हो गया हो तो वह लक्ष्मण से भी बढ़कर उस्ताद निकला। उसने बँधी हुई भिक्षा न लेने का बहानाकर सीता को रेखा के बाहर बुला ही लिया। आगे चलकर भी सीता के प्रति रावण का व्यवहार शिष्ट ही बना रहा। उसने उन्हें लंका ले जाकर

❀ रेखावाली वार्त्ता का ज़िक्र अरण्यकाण्ड में सीता-हरण के प्रसंग में कुछ भी नहीं है। इसका ज़िक्र लङ्का-काण्ड में रावण मन्दोदरी-सम्वाद में है, जहाँ मंदोदरी कहती है—

'रामानुज लघु रेख खिचाई। सोउ नहिं नाघेउ अस मनुसाई॥'

रनिवास में नहीं डाला; बल्कि नगर के बाहर अशोक-वाटिका नामक अपने राजोद्यान में नजरबन्द किया और उन पर पहरा बैठा दिया, पुरुषों का नहीं; वरन् स्त्रियों का ही। राम के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना से उद्वेलित-हृदय रावण से राम-पत्नी सीता के प्रति इससे अधिक शिष्ट तथा सभ्य व्यवहार की आशा करना दुराशा-मात्र है। लंका में रावण को रोकने-वाला कोई न था। वह सीता के ऊपर मनमाना अत्याचार कर सकता था; पर उसने कुछ भी नहीं किया। वह केवल ऊपर से उन्हें भय दिखलाता और विविध प्रकार के प्रलोभन देता रहा, जिसमें वे उसकी स्त्री बनना स्वीकार कर लें। रावण एक भुवन-विख्यात योद्धा था। लड़ने के लिए उसकी बाहें सदा खुजलाती रहती थीं। इसके अतिरिक्त राम जैसे एक अत्याचारी शत्रु को अबला जाति के प्रति उसके अत्याचारों का मजा भी चखाना था। अतः संभव है कि उसका सीता के साथ विवाह-विषयक प्रस्ताव केवल बनावटी हो और वह इसलिए किया गया हो कि जिसमें रामचन्द्र उसकी खबर पाकर अपनी प्रियतमा के उद्धारार्थ शीघ्र लंका पर चढ़ आवें और वह उनके साथ जी भर युद्ध कर अपने दिल का बोगज निकाल लेवें जीतना-हारना तो दैवाधीन है। रावण का सीता-हरण में केवल इतना ही उद्देश्य मालूम पड़ता है, और कुछ नहीं ❀।

❀ सीता-हरण में रावण का यही उद्देश्य ठीक भी मालूम होता है, न कि उनके साथ विवाह करने का, क्योंकि वाल्मीकीय रामायण के अनु-सार उसके रनिवास में दूसरे को चाहने वाली वा दूसरे की ब्याही स्त्री के लिए स्थान नहीं था—"न तत्र काश्चिन् प्रमदाः प्रसह्य वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः न चान्य कामा पि न चान्य पूर्वा विना वरार्हां जनकात्मजां ताम्" ॥ (५।९।७१)

वह जानकी के तिरस्कार-पूर्ण वचनों से भलीभाँति भाँप गया था कि वह एक सच्ची पतिव्रता स्त्री है; उसके विवाह-विषयक प्रस्ताव को वह बराबर ठुकराती रहेगी। पर वह उक्त प्रस्ताव को बारबार दुहराता ही रहा और उसे मान लेने के लिए सीता को एक मास की अवधि भी दे दी कि इसी बीच रामचन्द्र की वनचर-वाहिनी ने लंका पर धावा बोल दिया। सीता रावण के चंगुल में पूर्णतः फँस चुकी थीं। यदि वह चाहता तो रामचन्द्र का आक्रमण होते ही उनका काम तमाम कर देता; पर उसने वैसा नहीं किया। इससे रावण का अपने मन पर कितना क़ाबू था, यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। पाठकवृन्द! नारी जाति के प्रति राम और रावण के व्यवहारों की पारस्परिक तुलना कीजिए!

हनुमान् के प्रति भी रावण का व्यवहार, जब वे अशोक-वाटिका को उजाड़ने तथा उसके रक्षकों को भी मार डालने के अपराध में इन्द्रजित् के द्वारा बाँधे जाकर एक वन्दी के रूप में उसके सामने पेश किए गए, उतना कठोर नहीं हुआ जितना उनके अपराधों पर दृष्टि रखते हुए होना चाहता था। वैसे अपराधों के लिए केवल वध-दण्ड ही उचित दण्ड है। पर रावण ने वैसा न कर उनकी पूँछ को ही नष्ट कर देने की आज्ञा दी ताकि वह बन्दर बंडा बनकर अपने मालिक के पास चला जाए और उसे यहाँ बुला लावे जिसमें उसकी भी बहादुरी का पता लग जाए। यदि कहो कि विभीषण की सिफ़ारिश से ही हनुमान् की जान बची; क्योंकि उन्होंने ही कहा था—'नीति विरोध न मारिए दूता', तो तुम्हारी यह भूल है। घर के भेदिए (Traitor) विभीषण से हनुमान् को सीता का पता लगा था। विभीषण ने ही हनुमान् से सब

भेद खोल दिए थे। हनुमान् और विभीषण दोनों ही राम के पिट्ठू तथा एक ही थैले के चट्टे-बट्टे थे। विभीषण हनुमान् को 'दूत' बताता है। इसका दो में से एक ही कारण हो सकता है—(१) या तो विभीषण इतना मूर्ख था कि दूत किसे कहते हैं, यह उसे मालूम न था; (२) या नहीं तो जानबूझकर वह रावण को घपले में डालना चाहता था जिसमें हनुमान् की जान बच जाए। रावण ने हनुमान् की जान बख़्शा दी सही; पर इसलिए नहीं कि उसने विभीषण की सिफ़ारिश सुन ली; बल्कि इसलिए कि वह राम की बहादुरी स्वयं देखना चाहता था। रामचन्द्र ने हनुमान् को रावण के पास अपना 'दूत' बनाकर नहीं भेजा था; क्योंकि दूत तो वह कहलाता है कि जो एक पक्ष का पैग़ाम लेकर दूसरे पक्ष के सामने विचारार्थ पेश करता है और पुनः जो उत्तर मिलता है उसे पूर्वपक्ष के पास पहुँचा देता है। बल्कि हनुमान् तो रामचन्द्र का गुप्तचर (ख़ुफ़िया) बनकर सीता की खोज करने लंका गए थे। भला यह दूत का काम है कि रात को चोर की तरह दूसरे के घर में घुसता फिरे तथा किसी के बाग़ को तहस-नहसकर उसके रखवालों को भी मार डाले। दोनों पक्षों के बीच घोर से भी घोर शत्रुता भले ही हो; पर उक्त प्रकार की हरकत किसी भी पक्ष के दूत की न होनी चाहिए। यही यथार्थ राजनीति है। पर मूर्ख विभीषण को इतना भी न मालूम था। हनुमान् ने भी रावण के सामने अपने को राम का 'दूत' बताया था, जो सरासर ग़लत था।

राक्षसों के विषय में यह भी कहा जाता है कि वे बड़े मायावी होते थे। समय-समय पर स्वाभिप्राय विशेष की सिद्धि के लिए वे अपना रूप-रंग बिल्कुल बदल देते थे; जैसे

मारीच ने रामचन्द्र को धोखा देने के लिए सुवर्ण-मृग का रूप धारण कर लिया था। पर हनुमान् भी पूरे मायावी थे। वे माया रचने में राक्षसों से किसी प्रकार कम न थे। माया-जाल फैलाने में उनका सुरसा के साथ जो होड़ चला उसमें वे ही बाजी मार ले गए। पुनः राक्षसों की दृष्टि से बचने के लिए उन्होंने बहुत ही छोटा रूप धरकर लंका में प्रवेश किया। और वानरों में, जैसे सुग्रीव आदिकों में यह सिफ़त थी कि नहीं, यह मालूम नहीं होता; पर हनुमान् तो इस कला में सिद्धहस्त थे, इसमें कोइ शंका नहीं। स्वयं सीता महारानी माया की तो अवतार ही कही गइ हैं और रामचन्द्र पूर्णब्रह्म के अवतार होने के कारण साक्षात् माया-पति ही ठहरे जिन्होंने अपनी दुर्दमनीय माया में विश्व के प्राणी-मात्र को फँसा रखा है। अतः ऐसे माया-कुशल दम्पती के अनन्य चरण-सेवक पवन-नन्दन माया से अनभिज्ञ हों, यह कब मानने की बात है?

देवगण भी माया करना जानते थे। इन्द्र ने गौतम का रूप धारणकर ही अहल्या का सतीत्वापहरण किया था और उस समय चन्द्र ने मुर्गे का रूप धारणकर अपने बाँग से गौतम को भोर हो जाने का धोखा दिया था। विष्णु तो माया-शास्त्र के आचार्य ही थे। उन्होंने भुवन-मोहिनी मोहिनी का रूप धरकर असुरों को अमृत से वंचित किया था; जलन्धर का सा रूप बनाकर उसकी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया था और वामन वेश में वलि को ठगा था। सारांश यह कि असुरों में जो दोष या गुण थे उनसे देवगण खाली नहीं थे।

पहले कह आया हूँ कि रावण एक विश्व-विजयी वीर था।

सिवा क्षत्रिय नरेश सहस्रबाहु, दैत्येन्द्र राजा बली और वानरेन्द्र बाली, इन तीन के उसका पीठ लगानेवाला कोई न निकला। पर इससे क्या ? हारना-जीतना तो दैवाधीन है। हार खाकर जो निरुत्साह हो जाता है वस्तुतः वही कायर है। जिस प्रकार रावण अद्वितीय वीर था उसी प्रकार वह अद्वितीय शानी भी था। "सदाभिमानैक धनाहि मानिनः" तथा "संभावितस्य चा कीर्त्तिर्मरण दतिरिच्यते", ये भावनाएँ उसके हृदय में कूट-कूट-कर भरी हुइ थीं। यही कारण है कि उसने बन्धु-द्रोही तथा राम के खुशामदी टट्टू विभीषण के सुझाव पर, जो इतना आत्म-सम्मान-हीन था कि वह अपनी सगी बहन शूर्पणखा पर भी राम द्वारा किए गए अत्याचारों को बिना कुछ चीं-चपड़ किए ही चुपचाप सह लेना चाहता था, लात मारी और सीता को लौटाने तथा शत्रु के सामने घुटने टेकने से साफ़ इन्कार कर दिया। रावण ने केवल इतना ही नहीं किया; बल्कि अपनी शान के खिलाफ़ ऐसे अपमान-पूर्ण सुझाव पेश करने की धृष्टता दिखाने के कारण उसने विभीषण को अपने चरण के ठोंकरों के द्वारा अपने दर्बार से निकाल बाहर किया। विभीषण की तरह मन्दोदरी आदि कतिपय दब्बू जीवों ने भी रावण से रामचन्द्र की महिमा वर्णनकर उसे युद्ध-विमुख करना चाहा; पर वह टस से मस नहीं हुआ; कारण कि उसके कानों में तो 'हतो वा लपस्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्', यह शास्त्रीय वचन बराबर गूँज रहा था।

विभीषण—शत्रु के भाई को अपने पक्ष में आपसे आप आए देखकर रामचन्द्र की बाँछें खिल गईं। मानो उन्होंने पौ-बारह मार लिया। बात भी सोलहो आने सत्य निकली; कारण कि यदि देशद्रोही (Quisling) विभीषण रावण के गुप्त भेद

को रामचन्द्र से नहीं कहता तो वे उसका बाल भी नहीं बाँका कर सकते। मान लिया कि सीता का प्रश्न लेकर भाई से उसकी अनबन हो गई। पर इससे क्या? मत-भेद तो भाई-भाई में हो ही जाया करता है; पर इसी भेद के कारण भाई के शत्रु से जा मिलना विभीषण का महानिन्दित कार्य्य था। रामचन्द्र ताड़ गए कि विभीषण कुल-कुठार है। प्रलोभन देने पर यह अपने कुल का संहार कराने में तनिक भी आगा-पीछा न करेगा। लंका के राज-सिंहासन पर यह दाँत गड़ाए बैठा है और मय-कन्या की रूप-माधुरी पर इसकी गृद्ध-दृष्टि लगी है। यह कोई सन्त या हरिभक्त नहीं है; क्योंकि यदि यह वैसा होता तो भाई के शत्रु-पक्ष में न आकर वह सीधे जंगल का रास्ता लेता और अपना शेष जीवन भगवद्भजन में बिताता। अब इसको बुद्धू बनाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहिए। ऐसा विचारकर रामचन्द्र ने लंक-विजय के पूर्व ही "गाछे कटहल ओंठे तेल" वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए विभीषण को 'लंकेश' की उपाधि दे डाली और समुद्र के इस पार ही उसका अभिषेक भी कर दिया, जिससे वह उनका पूरा हिमायती बन गया। रावण अपनी शान पर डटा रहा और अन्त में युद्ध होकर ही रहा. जिसमें कुलांगार विभीषण रामचन्द्र की सहायता बात-बात में करता गया, यहाँ तक कि उसने मेघनाद और रावण के यज्ञों को भी नष्ट कराया, जिनकी सफल समाप्ति पर वे अवश्य अजेय हो जाते और जब इससे भी उसकी कुटिल आत्मा सन्तुष्ट न हुई तो उसने रावण के नाभिदेश में स्थित अमृत-कुंड को रामचन्द्र के बाणों से सुखवाकर उसकी जान लेकर ही दम लिया। ये हैं करतूतें भक्तराज विभीषणजी की 'जिनके चरित्र का चित्रण प्रसंग-वश रावण के साथ ही

होगया। अब उसको दुबारा करने की आवश्यकता ही न रह गई।

रावण की हार होगई सही; पर क्या केवल हार खा जाने से ही रावण को दोषी ठहराना न्याय-संगत है ? हार तो खा गए सिकन्दर के सन्मुख राजा पोरस और मुहम्मद गोरी के सन्मुख पृथ्वीराज ? पर किसी ने आज तक पोरस और पृथ्वीराज को दोषी नहीं ठहराया। तो फिर क्यों केवल रावण ही जनता के कटु वचनों का लक्ष्य बनाया जाता है ? पाठकवृन्द ! आप लोग रामचन्द्र और रावण, इन दोनों व्यक्तियों के चरित्र तुलनात्मक दृष्टि से एक साथ अध्ययन कीजिए और तब निष्पक्ष होकर अपना फ़तवा दीजिए। रावण पर यह चार्ज भी लगाया जाता है कि वह ऋषि-मुनि आदि तपस्वियों को भी सताया करता था। पर ये ऋषि-मुनि भी तो दल-बन्दी के दलदल में बुरी तरह फँसे थे और तटस्थ न रहकर, जैसा कि उन्हें उचित था, रावण के शत्रु देवगण का, यज्ञादिकों के द्वारा, आदर-सत्कार किया करते थे; अतः शत्रुओं के भक्तों के साथ शत्रु जैसा व्यवहार करना रावण के लिए सर्वथा उचित था। यदि कहो कि ऋषिगण तो यज्ञादिकों को अपना धार्म्मिक कृत्य समझकर ही करते थे। इसमें रावण का क्या बिगड़ता था ? इस पर मैं भी पूछ सकता हूँ कि मुसलमान अपने त्यौहार में गोवध करना अपना एक धार्म्मिक कृत्य ही समझते हैं। इस पर हिन्दू अपनी नाक-भौं क्यों चढ़ाते हैं।

हनुमान्—ये रामचन्द्र के सखा वानरेन्द्र सुग्रीव के परम विश्वासपात्र मंत्री थे। इन्हीं के द्वारा राम और सुग्रीव में मैत्री स्थापित हुई थी। इनकी माता का नाम अञ्जना था; पर इनके पिता के विषय में लोगों में मत-भेद है। कोई इनको पवनदेव

का, तो कोई इन्हें केसरी वानर का पुत्र मानते हैं। 'हनुमान् चालीसा' में इन्हें 'संकर-सुअन' अर्थात् शिवजी का भी पुत्र लिखा है। पर वास्तव में ये उक्त तीन व्यक्तियों में से किसके पुत्र थे, यह मालूम नहीं होता। यह निश्चय है कि तीन पिताओं का कोई समान (Common) औरस पुत्र नहीं हो सकता। अतः संभव है कि जैसे विवाह और नियोग के वश युधिष्ठिर आदि पाण्डव-गण राजा पाण्डु तथा क्रमशः धर्म्मराजादि दो-दो पिताओं के पुत्र माने जाते हैं वैसे ही हनुमान् भिन्न-भिन्न कारणों के वश पवन, केसरी और शिव, इन तीनों के ही पुत्र समझे जाते हों। ये बड़े ही वीर, धीर, गंभीर तथा बाल-ब्रह्मचारी थे और रामचन्द्र की सेवा निःस्वार्थ भाव से किया करते थे। रामचन्द्र का जो कार्य्य दूसरों से नहीं हो सकता था वह हनुमान् को ही सुपुर्द किया जाता था। समुद्र नाँघकर सीता की खोज करना, लक्ष्मण की मूर्च्छा भंग करने के लिए संजीवन मूल को यथासमय ला देना आदि इसके उदाहरण हैं। सुग्रीव और विभीषण राज-सिंहासन तथा अंगद युवराज-पद की प्राप्ति के कारण रामचन्द्र की सेवा करते थे; पर हनुमान् की सेवा पूर्णतः निष्काम थी। इस सेवा के बदले में वे रामचन्द्र से कुछ भी नहीं चाहते थे। ये ही कारण हैं कि हनुमान् आज ३० करोड़ हिन्दुओं के उपास्य-देव बने हैं। इनकी बानरी प्रतिमा की पूजा-अर्च्चा आज हिन्दुओं के घर-घर हो रही है। ये माया-विद्या में, जैसा कि अभी पहले, लिख आया हूँ, असुरों के भी कान काटते थे और इच्छानुसार रूप धर लेना इनके बाएँ हाथ का खेल था। पर इतना वीर, धीर और गम्भीर होते हुए भी हनुमान् अपनी वानरी प्रकृति से लाचार थे। इसीलिए तो शास्त्रों में कहा गया है—

"स्वभाव एवात्र तथा तिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः।" जब ये सीता की खोज में लंका गए तो वहाँ इन्हें सीता से मिलने के बाद भूख ने सताया। सीता की अनुमति से इन्होंने अशोक-वाटिका के मीठे फलों से न केवल अपनी भूख ही मिटाई; पर अपने वानर-स्वभाव से प्रेरित होकर उस वाटिका को भी मटियामेट कर डाला। उन्होंने रावण से स्पष्ट कह दिया—"खायउ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ तें तोरेउँ रूखा।" मज़ा तो यह कि क़सूर किया आपने तो खुद; पर कुमार्गगामी कह दिया राक्षसों को—"सब के देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारग-गामी।" इसी को कहते हैं—"उल्टे चोर कोतवालहिं डाँटै।" फल खाए, तो खाए; वाटिका क्यों उजाड़ी? ऐसे अपराधी को राक्षसों ने मारा तो क्या क़सूर किया? क्या यही आपका दैत्य-कर्म्म था? पर जब आखिर ये वानर ही ठहरे तो इनके आचरणों की अधिक समालोचना अनावश्यक है। 'मानस' के उत्तरकाण्ड पढ़ने से मालूम होता है कि रामाभिषेक के बाद सुग्रीव आदि अन्य सखा-गण रामचन्द्र से वस्त्राभूषणों के बिविध उपहार पाकर अपने-अपने घर चले गए; पर हनुमान् ने, चूँकि इनके बाल-बच्चे, घर-द्वारादि कुछ नहीं थे, अपना शेष जीवन रामचन्द्र के साथ अयोध्या में ही बिताया। जब सुग्रीव रामचन्द्र से विदा होकर अयोध्या से अपने घर जाने लगे तो हनुमान् ने उनसे निवेदन किया कि मैं रामचन्द्र के चरणों की सेवा दस दिन और करके पुनः आपके चरणों का दर्शन करूँगा—

चौ०—तब सुग्रीव चरन गहि नाना। भाँति विनय कीन्हीं हनुमाना॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा।'

पर मालूम होता है कि हनुमान के उक्त दस दिन आज तक नहीं पूरे हुए। हनुमान् और विभीषण सात चिरजीवियों में से हैं—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

अर्थ—अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनूमान्, विभीषण, कृ और परशुराम, ये सात व्यक्ति चिरंजीवी अर्थात् बहुत कालप तक जीनेवाले हैं। इन लोगों के मरने का लेख नहीं मिलता। पर ये अमर तो हो नहीं सकते; कारण कि, 'जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना' यही प्रकृति का अटल नियम है। हाँ, 'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति', इस अर्थ में ये अमर कहे जाते हों तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

रामायण के मुख्य-मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण हो चुका।

अथ चतुर्थ परिच्छेद

मानस के गुण

'मानस' की अलौकिक लोकप्रियता—"रामचरित-मानस" के रचयिता तथा हिन्दी के अद्वितीय महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी के शुभ नाम से आज सारा संसार परिचित हो रहा है। हिन्दू जाति में तो ऐसा कोई विरला ही परिवार होगा, जहाँ तुलसी-कृत-रामायण (रामचरितमानस) की एक प्रति न देख पड़ती हो। इस महाकाव्य को रचकर गोसाईं जी ने अपने नाम को सर्वसंहारी प्रबलकाल के कराल आक्रमणों से पूर्णतः सुरक्षित कर दिया है। क्या वृद्ध, क्या बालक; क्या राजा; क्या रङ्क; क्या शिक्षित, क्या गँवार; क्या बड़े, क्या छोटे—सभी इस सर्व-रस-मय महाकाव्य को बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति से देखते हैं। कोई ऐसा ही विरला मनुष्य होगा जो अपने प्रतिदिन की बोल-चाल में इस ग्रन्थ के दो एक दोहे वा चौपाइयों का उदाहरण न देता हो। इस ग्रन्थ में उपमा-आदि अलङ्कारों की बौछार; ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों की भरमार; शृङ्गार, हास्य; करुण आदि नानाविध रसों की घनघोर वर्षा तथा लोकोक्तियों और वाग्धाराओं के एक पर एक उमड़ते हुए तरङ्ग देख पाठकों का हृदय एक अनिर्वचनीय तथा अलौकिक आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। महाकवि ने हर्ष, विषाद, राग, द्वेष, प्रसन्नता, क्रोध आदि

विविध मानवीय मनोवृत्तियों के चित्रण में कमाल कर दिखाया है। रामायण के पात्रों के साथ-साथ पाठकजन भी उनके हर्ष में हँसते, विपत्ति में रोते, प्रेमी जनों के साथ प्रेम करते, प्रसन्न होते तथा समय पड़ने पर क्रोध करते हैं। इतना ही नहीं; वरन् पात्रों के अस्तित्व में अपना अस्तित्व लीन कर देते हैं और अपने को उनका समकालीन समझ, रामायण-वर्णित घटनाओं का अनुभव प्रत्यक्ष सा करने लगते हैं। मेरे इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि सर्वप्रियता की दृष्टि से गोसाईं जी की यह कृति अपना सानी नहीं रखती। पर इसकी यह सर्वप्रियता तथा इसके प्रति लोगों की असीम श्रद्धा और भक्ति ही इसकी यथार्थ आलोचना में रोड़े अटकाती हैं और यथार्थ गुणों तथा यथार्थ दोषों पर समुचित प्रकाश नहीं डालने देतीं। 'मानस'-भक्तों की यह धारणा कि उसमें केवल गुण ही गुण हैं; दोष एक भी नहीं, नितान्त भ्रान्ति-मूलक है; कारण कि विश्व में सर्वथा निर्दोष वस्तु का मिलना असंभव है। जब स्वयं गोसाईं जी ही यह मानते हैं कि—"विधि प्रपंच गुण-अवगुण साना" तो उनके अन्ध-भक्तों की यह सम्मति कि 'मानस' एक निभ्रान्त ग्रन्थ है कुछ भी मूल्य नहीं रखती। अतः पहले इस परिच्छेद में 'रामचरितमानस' के गुणों और तत्पश्चात् आगामी परिच्छेद में उसके दोषों पर विचार किया जाएगा।

"रामचरितमानस" के गुणों (उत्कर्षों) की विवेचना करते समय हमें कम से कम तीन विषयों को अपने लक्ष्य में रखना चाहिए—(१) आदर्श-स्थापन, (२) उपदेशात्मक-वचन और (३) साहित्यिक-सौन्दर्य्य।

(१) आदर्श स्थापन—इस सम्बन्ध में गोसाईं जी द्वारा

'मानस' में स्थापित पितृ-भक्ति, मातृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, दाम्पत्य-प्रेम, भ्रातृ-स्नेह आदि के आदर्शों की यथार्थता पर विचार किया जाएगा—

(क) आदर्श पितृ-भक्ति—(क) आदर्श पितृ-भक्ति। लोगों की धारणानुसार रामचन्द्र एक आदर्श पितृ-भक्त पुत्र थे जिन्होंने अपने समुज्ज्वल चरित्र के द्वारा संसारी जीवों के सामने एक आदर्श पुत्र का नमूना खड़ा कर दिया है। इसके प्रमाण में वे यह कहा करते हैं कि रामचन्द्र ने अपने पिता की आज्ञा मानकर असीम वैभव-पूर्ण राजलक्ष्मी को ठुकराते हुए १४ वर्षों तक व्याघ्र गजादि सेवित, जल से हीन तथा बहु कंटकाकीर्ण जंगलों में भटकते फिरना कबूल कर लिया था। इस विषय पर मैं तृतीय परिच्छेद में रामचन्द्र के चरित्र की आलोचना करते समय बहुत कुछ सप्रमाण लिख आया हूँ जिससे पाठकों को भली भाँति मालूम हो गया होगा कि उन्होंने अपने पिता की इच्छा के बिल्कुल ही प्रतिकूल अपनी विमाता कैकेयी की इच्छा-पूर्ति के लिए वन्य जीवन अंगीकार किया था। पाठक उक्त स्थल पर अपनी दृष्टि पुनः एक बार डालकर देख लेवें। संभव है कि उनकी नियत अच्छी हो और वन चले जाने में वे पिता के सत्य की रक्षा समझते हों; और पिता के मरण-रूपी इसके भावी दारुण परिणाम के प्रति वे बिल्कुल बेख़बर हों। पर वास्तविक बात वैसी ही थी जैसी मैंने उक्त स्थल पर लिख दी है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे अपने पिता के सुख-दुःख के प्रति पूर्णतः उदासीन थे। यह कभी नहीं; बल्कि वे सदा इस बात का ख्याल रखते थे कि उनके या किसी अन्य के आचरण से पिता को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे तथा संकट-काल में स्वयं अपने कोमल वचनों से उन्हें सान्त्वना

थे। जब रामचन्द्र को मालूम हुआ कि माता कैकेयी ने उनको राजा से वन-वास दिलाने के लिए हठ किया है जिससे वे व्याकुल होकर ज़मीन पर लोट रहे हैं, तो उन्होंने राजा को किन मधुर तथा भक्ति-पूर्ण शब्दों में ढाढ़स दिया है, उसे पाठकगण देख लें। रामचन्द्र पिता से कह रहे हैं—

**चौ०—तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई॥
अति लघु बात लागि दुख पावा। काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा॥**

**दो०—मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात॥**

**चौ०—धन्य जन्म जगती-तल तासू। पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू॥
चार पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मात प्रान सम जाके॥
आयसु पालि जन्म-फल पाई। ऐहउँ वेगिहि होउ रजाई॥**

नोट—इन पंक्तियों के द्वारा गोसाईंजी ने जिस वन-वास को राजा 'ताड़' समझ रहे थे उसे रामचन्द्र के मुँह से 'तिल' कहलवाकर आदर्श-पुत्र और आदर्श-पितृभक्ति का एक देदीप्यमान चित्र खींच दिया।

रामचन्द्र अपने पिता की सुख-शान्ति के लिए सर्वदा इतना चिन्तित रहते थे कि उन्होंने वन-प्रस्थान करते समय गुरु, पुरोहित, बन्धु-बान्धव, दास-दासी और नागरिक जनों को अपने सन्मुख बुलाकर उनसे करबद्ध प्रार्थना की—

**चौ०—बहुरिहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम सब सन मृदुबानी॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि तें रहैं भुआल सुखारी॥**

अर्थात् रामचन्द्र ने कहा कि सबसे बढ़कर मेरा प्रिय और शुभचिन्तक वही समझा जाएगा जो अपनी सेवा-सुश्रूषा से मेरे पूज्य पिता को सुखी बनाए रहेगा। उन्होंने शृंगवेरपुर से

सुमन्त के द्वारा पिता के लिए जो सान्त्वना भेजी थी ज़रा उसे भी देख लीजिए—

दो०—पितु पद गहि कहि कोटि नित, विनय करब कर जोरि।
चिन्ता कवनिहुँ बात की, तात करिय जनि मोर॥

चौ०—तात! प्रनाम तात 'सन कहेऊ। बार-बार पद-पंकज गहेऊ॥
करब पाँय परि विनय बहोरी। तात करिय जनि चिन्ता मोरी॥
वन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥

पुनः उन्होंने गुरु वशिष्ठ के पास सन्देश भेजा—

सो०—गुरु सन कहब संदेश, बार बार पद पदुम गहि।
करब सोइ उपदेश, जेहि न सोच मोंहि अवधपति।

स्वयं सुमन्त से भी पिता को सुखी रखने के लिए विनय किया—

चौ०—तुम्ह पुनि पितु सम अतिहित मोरें। विनती करउँ तात कर जोरें॥
सब विधि सोइ करतव्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे॥

उसी अवसर पर लक्ष्मण ने पिता के विरुद्ध कुछ कड़ी बातें बोल दीं। इस पर रामचन्द्र ने इधर लक्ष्मण को तो खूब डाँट बतलाई और उधर सुमन्त से लक्ष्मण की कटूक्तियों का राजा से भूलकर भी नहीं ज़िक्र करने की प्रार्थना भी यह विचारकर कर दी कि उन्हें सुनकर राजा को महादुःख होगा। इसमें कोई भी शक नहीं कि रामचन्द्र एक आदर्श पुत्र थे। उनमें अपने पूज्य पिता के प्रति प्रगाढ़ भक्ति तथा अथाह प्रेम कूट-कूटकर भरा हुआ था। पर साथ-साथ इसमें भी कोई शक नहीं कि यदि रामचन्द्र वन को नहीं जाते तो राजा दशरथ उनके विरह में जलहीन-मछली की तरह तड़प-तड़पकर नहीं मरते। पितृ-भक्ति

प्रदर्शन में रामचन्द्र से भ्रम-वश थोड़ी सी गलती होगई जिससे राम-प्राण दशरथ का मरण-रूपी महादुःखमय काण्ड होगया। उनको तो यह उचित था कि भरत को यौवराज्य देकर अपनी असीम उदारता का परिचय देते हुए कैकेयी के प्रथम वर का समर्थन करते; पर स्व-वनवास रूपी उसके द्वितीय वर को, राजा की स्पष्ट आज्ञा के बिना, नहीं मानकर उनके प्राण बचाते।

(ख) आदर्श मातृ-भक्ति—(ख) आदर्श मातृ-भक्ति। मातृ-पद पितृ-पद से असंख्य गुना उच्चतर है। इसे सभी शास्त्र-कार मानते हैं। मनु लिखते हैं—"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते" ॥२।१४५॥ अर्थ—दश उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य और सौ आचार्य्यों की अपेक्षा पिता, गौरव में अधिक है। और पिता की अपेक्षा माता गौरव में सहस्र गुना अधिक है। और भी जहाँ तहाँ यह लिखा मिलता है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'; अर्थात् माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बड़ी हैं। इतना ही नहीं; शास्त्रानुसार विमाता तो माता से भी बड़ी है और रामचन्द्र ने कैकेयी के प्रति अपने व्यवहार से इस नीति-वचन को अच्छी तरह प्रमाणित भी कर दिया है। पूर्व में सिद्ध कर आया हूँ कि रामचन्द्र दशरथ की आज्ञा से नहीं; बल्कि कैकेयी की आज्ञा से वन-वास लिया। जब रामचन्द्र ने कठोर-हृदया कैकेयी के मुँह से उसी के पास भूतल पर लोटते हुए राजा दशरथ की व्याकुलता का कारण सुना तो उन्होंने अपनी उस विमाता के प्रति भी जो असीम श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत उत्तर दिया, वह देखने योग्य है—

चौ०—मन मुसकाइ भानु-कुल-भानू। राम सहज आनन्द निधानू ॥
बोले वचन विगत सब दूषन। मृदुमंजुल जनु बाग विभूषन ॥

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि एहि संसारा॥

पुनश्च—

भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोंहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ वन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोंहि मूढ़ समाजा॥

अहा! विमाता के प्रति भी—नहीं, नहीं—उस विमाता के प्रति भी, जिसने उनके सारे पैतृक अधिकारों को छीनकर उन्हें विवासन की भी कठोर आज्ञा सुना दी, रामचन्द्र को कैसी उग्रभक्ति है! वे उसकी आज्ञा को सहर्ष पालन करने में ही अपना अहोभाग्य समझते हैं! और जब वे वन-प्रस्थान करने के पहले अपनी माता कौशल्या से विदा माँगने गए तो मानो उक्त देवी ने भी विमातृ-भक्ति पर अपनी मुहर लगा दी—

चौ०—जौं केवल पितु आयसु ताता। तौं जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥ इत्यादि।

यहाँ कौशल्या ने 'माता' शब्द का दो जगह व्यवहार किया है। पहले 'माता' शब्द से अपने को और दूसरे 'मातु' (माता) शब्द से कैकेयी को सूचित किया है। वे अब तक यही समझ रही थीं कि रामचन्द्र को वन जाने की आज्ञा या तो केवल पिता ने दी है अथवा नहीं तो पिता और माता (कैकेयी) दोनों ने मिल कर दी है। पहले पक्ष में वे माता की हैसियत से पिता से श्रेष्ठ होने के कारण पिता की आज्ञा को रद्दकर रामचन्द्र को घर रहने की आज्ञा देती हैं; पर दूसरे पक्ष में वे रामचन्द्र के लिए अयोध्या की अपेक्षा वन को ही अत्युत्तम बताती हैं। यहाँ कौशल्या देवी

कैकेयी को भी 'माता' समझने का आदेश रामचन्द्र को देकर अपने विशाल हृदय तथा परमोदार बुद्धि का परिचय दे दिया है। जो कैकेयी उनकी सपत्नी होने के कारण उनका कल्याण अपनी फूटी आँखों से भी नहीं देख सकती थी और जो अपने नैसर्गिक सापत्न्य-विरोध का प्रत्यक्ष प्रमाण उनके नयनों के तारे रामचन्द्र को सभी अधिकारों से वञ्चित कर उन्हें घर से निकाल कर दे रही थी उसके लिए भी उनका 'माता' जैसे महत्त्व-पूर्ण शब्द का प्रयोग करना सचमुच आश्चर्य-जनक है। पर प्रश्न उठ सकता है कि यदि रामचन्द्र के वन जाने की आज्ञा पिता की न होकर केवल कैकेयी की ही होती, जो बात वस्तुतः सच्ची थी, तो उस हालत में कौशल्या रामचन्द्र को क्या आदेश देतीं ? संभवतः इस तीसरे पक्ष का स्फुरण उन्हें न हुआ और यह तीसरा पक्ष ही वास्तविक पक्ष था। पर अनुमान तो यही होता है कि वे जैसी सरल-हृदया तथा निःसापत्न्य-विरोधा थीं, उनसे कैकेयी की आज्ञा को शिरोधार्य करने और तदनुसार रामचन्द्र को आदेश देने के सिवा कुछ दूसरा न होता। कैकेयी ने रामचन्द्र का इतना भारी अपकार किया कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती: पर उनकी भक्ति उसके प्रति वैसी ही दृढ़ बनी रही जैसी कौशल्या और सुमित्रा के प्रति। जब भरत अयोध्यावासियों के साथ रामचन्द्र को लौटाने के लिए चित्रकूट गए तो वहाँ राम माताओं में सबसे पहले कैकेयी से ही मिले—

चौ०—प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेंई ॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम विधि सिर धरि खोरी ॥

इसी प्रकार जब रामचन्द्र लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या

लौटे तो अगुआनी के अवसर पर कैकेयी से भेंट करते समय उन्होंने उसे लजाई हुई पाई—

दो०—"भेंटेउ तनय सुमित्रा, रामचरन रति जानि।
रामहिं मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि ॥"

अयोध्यावासियों ने रामादिकों की अगुआनी नगर के बाहर की थी। अतः नगर में प्रवेश करने पर रामचन्द्र सर्वप्रथम कैकेयी के ही घर उसका संकोच मिटाने के लिए गए—

चौ०—"प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥
ताहि प्रबोध बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥

महाकवि कालिदास ने रघुवंश, सर्ग १४ में इस राम-कैकेयी मिलन को एक अति ही मनोहर रीति से वर्णन किया है—

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥१६॥

अर्थ—उस राजभवन में रामचन्द्र ने बद्धांजलि होकर यह कहते हुए भरत की माता का संकोच दूर किया कि हे माता! मेरे पिता जो सत्य से, जिसका फल स्वर्ग-प्राप्ति है, भ्रष्ट नहीं हुए, वह तुम्हारे पुण्य का ही प्रताप था जिसे वे सदा अपने ध्यान में रखे हुए थे।

रामचन्द्र ने कैकेयी के अपकारों को कभी भी अपने मन में स्थान नहीं दिया और मन-वच-कर्म्म से सदा उसकी सेवा करते रहे। उन्हीं का रुख देखकर राज परिवार के सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि अन्य सदस्यगण भी कैकेयी के प्रति वैसा ही सद्भाव सर्वदा बनाए रहे। पर भरत की तो अपनी माता के साथ यावज्जीवन हड़ पड़ी रही। वे उससे कभी भी भर मुँह बोले तक नहीं। गोसाईंजी ने 'गीतावली' में लिखा है—

कैकेयी जौलौं जियति रही।
तौलौं बात मात सों मुख भरि, भरत न भूलि कही॥
मानी राम अधिक जननी ते, जननिहुँ गँस न गही।
सीय लखन रिपुदवन राम-रुख, लखि सबकी निबही॥

रामचन्द्र के प्रति कैकेयी की मनोवृत्ति, मन्थरा के बहकाने के पूर्व, ठीक वैसा ही सद्भाव-परिपूर्ण थी जैसी कौशल्या और सुमित्रा की। पहले तो कैकेयी ने मन्थरा को जब वह घरफोरी करने गई खूब फटकारा और रामचन्द्र के विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार दी—

चौ०—राम तिलक जो साँचहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥
कौसल्या-सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाव पियारी॥
मो पर करहिं सनेह बिसेखी। मैं करि प्रीति-परीच्छा देखी॥
जो विधि जनम देइ करि छोहू। होहिं राम सिय पूत पतोहू॥
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिनके तिलक छोभ कस तोरे॥इत्यादि

पर मन्थरा जैसी चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने में कुशल कुट्टिनी के सम्मुख नववयस्का तथा अनुभव शून्या कैकेयी कब तक टिक सकती थी? आखिर मन्थरा ने अपनी रगड़ से चन्दन में आग लगा ही दी और रानी एक नादान मृगी की तरह उसके जाल में जा फँसी।

(ग) आदर्श गुरु-भक्ति—आदर्श गुरु-भक्ति! कितने शास्त्रकार गुरु को माता-पिता से भी उच्च स्थान देते हैं जैसा कि इस दोहार्द्ध से मालूम होता है—

'मात-पिताहूँ से अधिक, गुरु को जग में मान'।

कारण स्पष्ट है। माता-पिता तो केवल जन्म देकर और पाल-पोस-कर सयाना कर देते हैं। वे केवल हमारे शरीर की ही पुष्टि करते हैं;

पर गुरु हमारे अज्ञान को दूरकर ज्ञान की पुष्टि करते हैं जिससे हमारे लिए ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्ति की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। यही कारण है कि गोसाईं जी ने 'मानस' के प्रारंभिक पृष्ठों में गुरु की महिमा गला फाड़कर गाई है। बालकाण्ड के 'बन्दौं गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा' इस अर्द्धाली से लेकर 'तेहि करि विमल विवेक-विलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन'॥ इस अर्द्धाली तक पढ़िए। आप गुरु के गुण-गान करने में केवल जबानी जमा-खर्च ही नहीं करते; वरन् समय-समय पर अपने पात्रों के द्वारा गुरुजनों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति देखाने में भी नहीं चूकते। जब राज्याभिषेक के पूर्व राजा दशरथ के भेजे हुए गुरु वशिष्ठ रामचन्द्र के पास उन्हें शिक्षा देने गए तो रामचन्द्र ने किस अपूर्व नम्रता और भक्ति के साथ उनका स्वागत किया, ज़रा उसे भी सुन लीजिए—

गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आई पद नायेउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरण सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥
सेवक सदन राम आगमनू। मंगल-मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीति। पठइय काज नाथ अस नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आज यह गेहू॥
आयसु होइ सो करउँ गोसाईं। सेवक लहइ स्वामि सेवकाई॥

राजा दशरथ के दरबार में गुरु वशिष्ठ का बड़ा भारी मान था। राजदरबार किम्वा राजपरिवार का कोई भी कार्य्य बिना वशिष्ठ की अनुमति के नहीं होता था। राजा दशरथ पद-पद पर उनकी सम्मति लिया करते थे। जब महर्षि विश्वामित्र राजा से राम-लक्ष्मण को माँगने आए तो उन्होंने वशिष्ठ की राय

लेकर ही अपने प्यारे पुत्रों को उक्त महर्षि के हवाले किया। वहाँ लिखा है—

'तब वशिष्ठ बहु विधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा' ॥

पुनः जब मिथिलेश के राजदूत ने जनकपुर से आकर रामचन्द्र के द्वारा शिव-धनु के भंग होने की खुश-खबरी तथा रामचन्द्र का सीता के साथ भावी विवाह की आनन्द वर्षिणीवार्त्ता राजा को सुनाई और मिथिलेश का पत्र उन्हें दिया तो उन्होंने उस पत्र को सर्वप्रथम गुरु वशिष्ठ को ही दिखाया—

दो०—'तब उठि भूप वशिष्ठ कहँ, दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरुहिं सब, सादर दूत बोलाइ ॥'

और वशिष्ठ की ही आज्ञानुसार राजा ने बारात के साथ जनकपुर को प्रस्थान किया—

चौ०—'सुमिरि राम गुरु आयसु पाई। चले महीपति संख बजाई।'

इसी प्रकार राजा के मरने पर उनकी लाश गुरु के ही आदेशानुसार तेल भरी नाव में रखी गई, भरत को नानिहाल से बुलाने के लिए दूत भेजे गए, भरत ने दिवंगत राजा की अंत्येष्टि आदि क्रियाएँ सम्पन्न कीं इत्यादि। अभिप्राय यह कि गुरु वशिष्ठ राज-परिवार के सभी हर्षों और विषादों में उसका साथ देते और समयानुसार अपनी अमूल्य सम्मति द्वारा उसकी सहायता करते थे। पर यह सब करते हुए भी गुरुवर ऐन एक ऐसे मौके पर राज-परिवार के रंग-मंच से अदृश्य हो जाते हैं जब वहाँ पर उनकी उपस्थिति की सख्त ज़रूरत पड़ती है। मेरा अभिप्राय उस मौके से है जब मन्थरा-मोहित कैकेयी अयोध्या की सारी प्रजा के आनन्दोल्लास पर पानी फेरती हुई और राजा दशरथ की सभी गिड़गिड़ाहटों

को ठुकराती हुई रामचन्द्र को पदच्युतकर उन्हें वनवास दिलाने के निमित्त अपने कोप भवन में पड़ी हुई थी। ऐसे संकट-काल में गुरुदेव की अनुपस्थिति रामायण के सभी पाठकों को अखरती है। राजा दशरथ के आदेश से अभिषेक के पूर्व राम-चन्द्र को शिक्षा देने के बाद वशिष्ठ का तब तक पता नहीं रहता जब तक मुनि चीरधारी राम, सीता लक्ष्मण सहित, उनसे विदा माँगने तथा अपनी अनुपस्थिति में राजपरिवार और प्रजावर्ग के देखभाल के लिए उन्हें उनको सौंपने, उनके द्वार पर एकाएक नहीं पहुँच जाते। राजपरिवार में इतना भारी लोम-हर्षण काण्ड हो गया; पर महर्षि उसके सम्पर्क से बिल्कुल बचे ही रह गए। न तो उन्होंने कैकेयी की कुबुद्धि सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किया; न तो उन्होंने राजा को ही कुछ सान्त्वना दी और न तो प्रजावर्ग को ही समझा-बुझा-कर उनका शोक दूर करने का कष्ट उठाया। मालूम होता है कि वे उतने काल तक जैसे अयोध्या में थे ही नहीं। इस पर तुर्रा यह कि जब रामचन्द्र उनसे बिदा माँगने आए तो उनके श्रीमुख से एक शब्द भी न निकला। रामायण की घटना-शृंखला (Chain of incidents) में अब तक भूली हुई इस कड़ी की खोज होनी चाहिए। यह पहली बार है कि रामायण की इस त्रुटि की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

वशिष्ठ की ही तरह अन्य ऋषि-मुनियों के प्रति भी रामायण के पात्र वैसे ही भक्तिपूर्ण वर्त्ताव का प्रदर्शन करते हैं। विश्वा-मित्र और दशरथ का संवाद पढ़िए—

चौ०—मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लेइ विप्र समाजा॥
करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥

चरन पखारि कीन्ह अति पूजा । मोसम आजु धन्य नहिं दूजा ॥
विविध भाँति भोजन करवावा । मुनिवर हृदय हरष अति पावा ॥
पुनि चरनन्हि मेले सुतचारी । राम देखि मुनि देह बिसारी । इत्यादि

पुनः जब रामादि चारों भाई ब्याह करके अपनी-अपनी बहुओं के समेत घर आए तो रानियों ने मारे आनन्द के ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों का किस प्रकार आदर-सत्कार किया, उसे भी सुन लीजिए—

चौ०—भूसुर-भीर देखि सब रानी । सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥
पाय पखारि सकल अन्हवाए । पूजि भली बिधि भूप जेवाँए ।
आदर दान प्रेम परितोषे । देत असीस चले मन तोषे ॥
बहु विधि कीन्ह गाधि सुत-पूजा । नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्ह प्रशंसा भूपति भूरी । रानिन्ह सहित लीन्ह पग धूरी ॥
इत्यादि ।

इसी प्रकार जब महर्षि विश्वामित्र रामादिकों के विवाहोपरान्त राजा दशरथ के घर से विदा हो रहे थे, उस समय का वर्णन देखिए—

चौ०—माँगत विदा राउ अनुरागे । सुतन्ह समेत ठाढ़ भए आगे ॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी । मैं सेवक समेत सुत नारी ॥
करबि सदा लरिकन पर छोहू । दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी । परेउ चरन मुख आव न बानी ॥
दीन्ह असीस विप्र बहु भाँती । चले न प्रीति रीति कहि जाती ॥

राम, लक्ष्मण और जानकी अपने वन्य-जीवन-काल में जिन-जिन ऋषियों और तपस्वियों के आश्रम पर पधारे हैं, उन सबों के ही साथ वे अति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ मिले हैं; यथा—

को ठुकराती हुई रामचन्द्र को पदच्युतकर उन्हें वनवास दिलाने के निमित्त अपने कोप भवन में पड़ी हुई थी। ऐसे संकट-काल में गुरुदेव की अनुपस्थिति रामायण के सभी पाठकों को अखरती है। राजा दशरथ के आदेश से अभिषेक के पूर्व राम-चन्द्र को शिक्षा देने के बाद वशिष्ठ का तब तक पता नहीं रहता जब तक मुनि चीरधारी राम, सीता लक्ष्मण सहित, उनसे विदा माँगने तथा अपनी अनुपस्थिति में राजपरिवार और प्रजावर्ग के देखभाल के लिए उन्हें उनको सौंपने, उनके द्वार पर एकाएक नहीं पहुँच जाते। राजपरिवार में इतना भारी लोम-हर्षण काण्ड हो गया; पर महर्षि उसके सम्पर्क से बिल्कुल बचे ही रह गए। न तो उन्होंने कैकेयी की कुबुद्धि सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किया; न तो उन्होंने राजा को ही कुछ सान्त्वना दी और न तो प्रजावर्ग को ही समझा-बुझा-कर उनका शोक दूर करने का कष्ट उठाया। मालूम होता है कि वे उतने काल तक जैसे अयोध्या में थे ही नहीं। इस पर तुर्रा यह कि जब रामचन्द्र उनसे विदा माँगने आए तो उनके श्रीमुख से एक शब्द भी न निकला। रामायण की घटना-शृंखला (Chain of incidents) में अब तक भूली हुई इस कड़ी की खोज होनी चाहिए। यह पहली बार है कि रामायण की इस त्रुटि की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

वशिष्ठ की ही तरह अन्य ऋषि-मुनियों के प्रति भी रामायण के पात्र वैसे ही भक्तिपूर्ण वर्त्ताव का प्रदर्शन करते हैं। विश्वा-मित्र और दशरथ का संवाद पढ़िए—

चौ०—मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लेइ विप्र समाजा॥
करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥

चरन पखारि कीन्ह अति पूजा । मोसम आजु धन्य नहिं दूजा ॥
विविध भाँति भोजन करवावा । मुनिवर हृदय हरष अति पावा ॥
पुनि चरनन्हि मेले सुतचारी । राम देखि मुनि देह बिसारी । इत्यादि

पुनः जब रामादि चारों भाई ब्याह करके अपनी-अपनी बहुओं क समेत घर आए तो रानियों ने मारे आनन्द के ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों का किस प्रकार आदर-सत्कार किया, उसे भी सुन लीजिए—

चौ०—भूसुर-भीर देखि सब रानी । सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥
पाय पखारि सकल अन्हवाए । पूजि भली बिधि भूप जेवाँए ।
आदर दान प्रेम परितोषे । देत असीस चले मन तोषे ॥
बहु विधि कीन्ह गाधि सुत-पूजा । नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्ह प्रशंसा भूपति भूरी । रानिन्ह सहित लीन्ह पग धूरी ॥
इत्यादि ।

इसी प्रकार जब महर्षि विश्वामित्र रामादिकों के विवाहोपरान्त राजा दशरथ के घर से विदा हो रहे थे, उस समय का वर्णन देखिए—

चौ०—माँगत विदा राउ अनुरागे । सुतन्ह समेत ठाढ़ भए आगे ॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी । मैं सेवक समेत सुत नारी ॥
करवि सदा लरिकन पर छोहू । दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी । परेउ चरन मुख आव न बानी ॥
दीन्ह असीस विप्र बहु भाँती । चले न प्रीति रीति कहि जाती ॥

राम, लक्ष्मण और जानकी अपने वन्य-जीवन-काल में जिन-जिन ऋषियों और तपस्वियों के आश्रम पर पधारे हैं, उन सबों के ही साथ वे अति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ मिले हैं; यथा—

चौ०-तब प्रभु भरद्वाज पहँ आए। करत दंडवत मुनि उर लाए ॥
मुनि मन मोद न कछु कह जाई। ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई ॥
देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीक आश्रम प्रभु आए ॥
मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरवाद विप्रवर दीन्हा ॥
देखि पाय मुनि राय तुम्हारे। भए सुकृत सब सफल हमारे ॥
अत्रि के आश्रम प्रभु गएउ। सुनत महा मुनि हरषित भयऊ ॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाए। देखि राम आतुर चलि आए ॥
करत दंडवत मुनि उर लाए। प्रेम वारि दोउ जन अन्हवाए ॥
अनसूया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील पुनीता ॥
मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर-नर-मुनि-ईसा ॥
एव मस्तु कहि रमा-निवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा ॥
सुनत अगस्त तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए ॥
मुनि पद कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिए उर लाई ॥

लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक द्वारा अयोध्या लौटने पर रामादिकों ने वामदेवादि ऋषियों के साथ किस प्रकार भेंट की वह सुनिए—

चौ०-वामदेव वशिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु-सायक ॥
धाइ धरे गुरु-चरन-सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ॥
भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया ॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम-धुरन्धर रघुकुल-नाथा ॥

सनकादिकों के प्रति रामादिक द्वारा किया हुआ भक्ति-पूर्ण व्यवहार देखिए—

चौ०-जानि समय सनकादिक आए। तेजपुंज गुनसील सुहाए ॥
ब्रह्मानन्द सदा लय लीना। देखत बालक बहुकालीना ॥
कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई। सहित पवन-सुत सुख अधिकाई ॥

'मानस' के उक्त सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोसाईं जी ने रामायण के पात्रों के द्वारा उनके गुरुजनों के प्रति असीम श्रद्धा तथा आदर्श भक्ति का प्रदर्शन सभी अवसरों पर कराया है जिससे हम रामायण-भक्तों को अपने भी गुरुजनों के प्रति वैसा ही शुद्ध भाव बनाए रखने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

(घ) आदर्श दामपत्य प्रेम—(घ) आदर्श दाम्पत्य-प्रेम। गोसाईं जी ने राम और सीता को लेकर एक आदर्श दाम्पत्य-प्रेम स्थापित करने का प्रयत्न किया है। 'मानस' के उक्त नायक और नायिका के बीच पारस्परिक प्रेम का अंकुर पहले-पहल तब उगता है जब राजा जनक की फुलवारी में दोनों की आँखें चार होती हैं। दोनों उसी समय प्रेम-पाश में वद्ध हो जाते हैं। अपनी सखी के मुँह से रामचन्द्र का फुलवारी में आना सुनते ही जानकी प्रेम-विह्वल हो जाती हैं और नउनके दशके लिए लालायित होकर उसी सखी के साथ उनकी ओर तत्काल चल देती हैं। रामचन्द्र सीता की अलौकिक शोभा देखकर लक्ष्मण से कहते हैं—

चौ०–तात जनक-तनया यह सोई। धनुष-यज्ञ जेहि कारण होई ॥
पूजन गौरि सखी लै आई करत प्रकास फिरति फुलवाई ॥
जासु बिलोकि अलविक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।
रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ ॥
इत्यादि।

नायक के दक्षिण अंगों का स्फुरण नायिका की पत्नी-रूप में अनिवार्य्य प्राप्ति की पूर्व-सूचना है। रामचन्द्र के कथन का यह अभिप्राय है कि सीता यदि किसी दूसरे की भार्या

पत्नी रहतीं तो मेरा मन उन पर कभी नहीं आसक्त होता; कारण कि रघुवंशियों का यह स्वाभाविक गुण है कि वे पराई स्त्री पर स्वप्न में भी दृष्टि नहीं डालते; अतः सीता उनकी अवश्यम्भावी पत्नी हैं। और सीता जी रामचन्द्र की अपूर्व छवि को देखकर किस प्रकार बेसुध-बुध हो गईं, वह भी देखिए—

चौ—थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हि हू परि हरी निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मगु रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥
इत्यादि।

सीता को आँख मूँदी हुई देखकर एक चतुर सखी उनके मन का भाव ताड़ गई और उनसे ठिठोली करती हुई बोली—'अरी! गौरी का ध्यान पीछे करना; इस समय भूपकिशोर को क्यों नहीं देख लेती ?' इस पर सीता कुछ लजा सी गईं और अपनी आँखें खोलीं—

चौ०—सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे॥
नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा॥

सीता जी अपने पिता का प्रण यादकर इस कारण क्षुब्ध हो गईं कि कहीं रामचन्द्र शिव-धनु नहीं तोड़ सके तो उनकी कामना-कुसुम पर अवश्य वज्रपात होगा; अतः उन्हें शान्ति तभी मिली जब उन्हें उमादेवी से अभीष्ट बर प्राप्ति का वरदान मिला और उनके बाएँ अंग प्रस्फुरित हो उठे—

सो०—जानि गौरि अनुकूल, सिय हिय हर्ष न जात कहि।
मंजुल मंगल मूल, वाम अंग फरकन लगे॥

उधर जानकी जी गौरीदेवी से अनुकूल वरदान पाकर घर गईं और इधर रामचन्द्र भी लक्ष्मण के साथ गुरु के पास

लौटकर सीता-विषयक सारा वृत्तान्त उनसे निष्कपट भाव से कह सुनाया।

रामचन्द्र जी शंकर-चाप को तोड़ने के लिए मृगेन्द्र की चाल से उसके पास जाते हैं। अब जानकी के भाग्य-निर्णय का समय आ पहुँचा है; अतः उनका हृदय इस द्विविधा में पड़कर व्याकुल हो रहा है कि देखूँ मेरे भाग्य की सूई (Index) किस ओर, अनुकूल वा प्रतिकूल किस दिशा में, झुकती है, कारण कि उसका निपटारा एक ही क्षण में होने वाला है। मन की इस व्याकुल दशा में वे रामचन्द्र की ओर देखकर उनकी सफलता के लिए मन ही मन महेश, भवानी और गणेश को मनाती हैं—

तब रामहिं बिलोकि वैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥
मनहीं मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सुफल आपन सेवकाई। करि हित हरहु चाप गरुआई॥
गन नायक बरदायक देवा। आजु लागि कीन्हेउ तव सेवा॥
बार बार सुनि बिनती मोरी। करहु चाप गरुता अति थोरी॥

इत्यादि।

रामचन्द्र से जानकी की व्यग्रता नहीं देखी जाती; वे धनुष को बात की बात में उठा और तोड़कर उसके दो टुकड़े कर देते हैं जिससे जानकी को वही अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जो स्वाती का जल पाने पर चातकी को होता है।

सीता के हृदय में रामचन्द्र के लिए कितना अगाध प्रेम था इसका पता हम लोगों को तभी चलता है जब वे दशरथादि अपने गुरुजनों तथा स्वयं अपने पूज्य पतिदेव की शिक्षाओं की अवहेलनाकर रामचन्द्र के साथ हठ-पूर्वक वन को चली जाती हैं। रामचन्द्र उन्हें वन जाने से रोकने के अभिप्राय से वन्य

जीवन सम्बन्धी नाना प्रकार के क्लेशों और विभीषिकाओं को दिखलाते हैं जिन्हें वे प्रियतम-वियोग-जन्य दुःखों की तुलना में अति ही तुच्छ बतलाती हुई उत्तर देती हैं—

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि विधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीखि मनमाहीं। पिय-वियोग सम दुख जग नाहीं॥
प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुर पुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनि तें ताते॥
इत्यादि।

इसी प्रकार जब सुमन्त शृंगवेरपुर से घर लौटने लगे तो वे और रामचन्द्र; दोनों ने ही राजा दशरथ का सन्देश जानकी को सुनाते हुए उन्हें भी लौट जाने के लिए बारबार समझाया। इस पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह भी देख लीजिए—

सुनि पति वचन कहति वैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही॥
प्रभु करुनामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु विहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई॥
पतिहिं प्रेममय विनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई॥
तुम्ह पितु-ससुर-सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥
दो॰—आरति वस सनमुख भइउँ, विलगु न मानव तात।
आरज-सुत-पद-कमल बिनु, वादि जहाँ लगि नात॥ इत्यादि

पर जानकी के रामचन्द्र के प्रति इस प्रेमातिशय्य तथा हठ के जो दारुण परिणाम हुए उन पर सुविस्तृत विचार तृतीय परिच्छेद में किया गया है। वहीं पर देख लीजिए।

रामचन्द्र के हृदय में भी सीता के लिए कुछ कम प्रेम नहीं

था। हनुमान् ने अशोकवाटिका में सीता से भेंट होने पर उनसे ठीक ही कहा था—

'जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना' ॥

अर्थात् हे माता! तुम्हारे प्रेम से रामचन्द्र का प्रेम दूना है। कपिराज ने रामचन्द्र का वियोग उन्हीं के शब्दों में सीता से किस प्रकार वर्णन किया है वह भी देख लीजिए—

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहँ सकल भए विपरीता ॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू ॥
कुवलय विपिन कुन्तवन सरिसा। वारिद तप्त तेल जनु वरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ॥

इत्यादि।

सीता-हरण होने पर रामचन्द्र उनके विरह में विक्षिप्त-से हो गए हैं और विलाप करते हुए जड़-चेतनों, पशु-पक्षियों एवं कीड़े-मकोड़ों से भी उनका पता पूछते चलते तथा उनके अलौकिक रूप का भी साथ-साथ वर्णन करते फिरते हैं—

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप-सील-व्रत-नेमु पुनीता ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप-निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुंद कली अरु दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अही भामिनी ॥
वरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रशंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मनमाहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

इत्यादि।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कालिदास ने शकुन्तला के विरह में राजा दुष्यन्त की विक्षिप्तावस्था का जो वर्णन किया है उसे यहाँ मिलाइए—

आतर्द्विरफे ! भवता भ्रमता समन्तात् प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम्। (झङ्कार मनु भूय सानन्दम्) ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम्।

अर्थ—हे भाई भ्रमर! तुम सर्वत्र भ्रमण करते हो; क्या तुमने प्राणों से भी अधिक मेरी प्रियतमा को देखा है ? (भौंरे का झंकार सुनकर आनन्द से) हे सखे! क्या तुमने 'हाँ' कहा है ? तब जल्द मुझे बताओ कि वह क्या करती है ? कहाँ पर है ? और कैसी है ?

पर रामचन्द्र की दृष्टि में अपने तथा अपने विख्यात कुल की मान-मर्यादा सीता की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य रखती थी। यही कारण था कि उन्होंने लंका-विजय के पश्चात् रावण-हृत जानकी को पुनः अपनाने में आना-कानी की और अग्नि-परीक्षा के बाद उन्हें अंगीकार कर लेने पर भी अयोध्या लौटकर उनके विषय में प्रचलित लोकापवाद से छुटकारा पाने के लिए उन्हें घर से निकाल ही दिया। सीता के प्रति ऐसा निष्ठुर व्यवहार करके भी वे उनको बराबर शुद्ध तथा निर्दोष मानते और कहते ही रहे; पर अपनी इस धारणा और सम्मति की पुष्टि में उन्होंने कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया जैसा कि तृतीय परिच्छेद में उनके चरित्र पर प्रकाश डालते समय दिखलाया गया है। यह केवल उनकी आत्मिक दुर्बलता थी न कि प्रेम की अल्पता।

(ङ) आदर्श भ्रातृ-स्नेह—(ङ) आदर्श भ्रातृ-स्नेह। जिस प्रकार रामचन्द्र के हृदय में भरतादि अपने छोटे भाइयों के लिए असीम स्नेह और वात्सल्य भरा हुआ था उसी प्रकार भरतादिकों का भी हृदय रामचन्द्र के लिए प्रगाढ़ भक्ति, अपरि-

मय श्रद्धा तथा अतुल प्रेम से ओत-प्रोत था। लक्ष्मण के लिए तो रामचन्द्र मानो गुरु, पिता, माता आदि सब कुछ थे—

गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहौं सुभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीत प्रतीति निगम निजगाई॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी। करुना-निधि उर अन्तरजामी॥

लक्ष्मण के हृदय में रामचन्द्र के लिए कितना उच्च और मर्य्यादा-पूर्ण स्थान था, यह उस फटकार से ही समझ लेना चाहिए जिसे उन्होंने राजा जनक को, रामचन्द्र की विद्यमानता में केवल 'वीर विहीन मही मैं जानी' कह देने के कारण, सुनाई थी। गोसाइं जी लिखते हैं—

माषे लषन कुटिल भइ भौंहें। रद पट फरकत नयन रिसौंहें॥

दो०—कहि न सकत रघुवीर डर, लगे वचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥

रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

इत्यादि।

जनक के वचन को रामचन्द्र की शान के विरुद्ध तथा उनके लिए अप्रतिष्ठा-जनक समझकर वीर लक्ष्मण के क्रोध का ठिकाना न रहा। धरती काँप उठी; उपस्थित नरेन्द्रवृन्द भय-भीत हो गये; पर ऐसे भी भयंकर क्रोध की शान्ति रामचन्द्र के इशारे मात्र से हो गई। यह था प्रताप केवल उनके प्रति लक्ष्मण की अलौकिक भक्ति का।

रामचन्द्र के किसी भावी अनिष्ट की आशंका-मात्र से भी लक्ष्मण क्षुब्ध हो जाया करते थे। चित्रकूट में राम, लक्ष्मण और जानकी बिराज रहे हैं। भरत और शत्रुघ्न उन्हें मनाने के

लिए वहाँ जा रहे हैं; पर उन लोगों के साथ एक जबर्दस्त सेना है। बस, सेना का नाम सुनना था कि लक्ष्मण आपे से बाहर हो गए। उनको इस महाभ्रम ने धर दबाया कि भरत राज्य-मद से उन्मत्त होकर और रामचन्द्र को निःसहाय समझकर उनका वध करने के लिए ससैन्य आ रहे हैं, जिसमें वे निष्कंटक हो जाएँ। ऐसा समझ वे रामचन्द्र की रक्षा के लिए तैयार हो जाते हैं और रोषोच्चारित उनके प्रत्येक शब्द से अग्नि-स्फुलिंग की मानो झड़ी सी लग जाती है—

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह वस होंहि जनाई॥
भरत नीति-रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जग जाना॥
तेऊ आज राज पद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम-वनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौ जिए होति न कपट कुचाली। केहि सुहाति रथ बाजि गजाली॥
भरतहिं दोष देइ को जाए। जग बौराइ राजपद पाए॥

इत्यादि।

इस उद्धरण से यह भलीभाँति मालूम हो जाता है कि लक्ष्मण के हृदय में रामचन्द्र के प्रति कितना अनुराग था कि वे उनके अनिष्ट की आशंकामात्र से भी क्षुब्ध होकर सौतेले भाई भरत को कौन चलावे, अपने सहोदर भाई शत्रुघ्न को भी मार डालने पर उतारू हो गए। इसी को कहते हैं सच्चा भ्रातृ-भाव। और रामचन्द्र ने लक्ष्मण की वीरता की प्रशंसा तथा उनके बातों का अनुमोदन करते हुए भरत को राज्य-मद-जन्य पूर्वोक्त सभी दुर्गुणों से पूर्णतः मुक्त तथा एक अपवाद बताकर उनका क्रोध शान्त कर दिया—

चौ०–तिमिर तरुन तरनिहिं मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घट जोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥
मसक फूँकि मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहिं भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना॥
सगुन छीरु अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता॥
भरत हंस रवि-वंश तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-विभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन वारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥
इत्यादि।

यहाँ रामचन्द्र ने लक्ष्मण का क्रोध शान्त करने के साथ-साथ भरत के शील-स्वभाव का एक सवर्णाक्षरों में प्रमाण-पत्र भी दे डाला, जिससे सूचित होता है कि उनके हृदय में भरत के लिए एक अति ही उच्चस्थान था। भरत की दृष्टि में भी रामचन्द्र स्वयं राजा दशरथ से भी अधिक महत्त्व रखते थे; क्योंकि तभी तो रामचन्द्र का वन-गमन सुनते ही भरत को पितृ-मृत्यु का दुख भूल गया। यदि आप को भरत के प्रति रामचन्द्र का प्रेम जानना हो तो चित्रकूट में भरत से कही हुई महर्षि भरद्वाज की निम्न-लिखित उक्तियों पर दृष्टि-पात करें—

चौ०–सुनहु भरत रघुपति मन माहीं। प्रेमपात्र तुम सम कोउ नाहीं॥
लषन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सबु तुम्हहिं सराहत बीती॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥
तुम्ह पर अस सनेह रघुवर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के।
यह न अधिक रघुवीर बड़ाई। प्रनत-कुटुम्ब-पाल रघुराई॥
तुम तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥
इत्यादि।

भरद्वाज की दृष्टि में भरत मानो रामचन्द्र का साक्षात मूर्तिमान स्नेह थे।

अब रामचन्द्र के हृदय में लक्ष्मण के लिए कितना प्रगाढ़ प्रेम तथा कितना प्रबल वात्सल्य था, उसका भी हाल सुनिए। लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से आहत होकर मूर्छित हो गए हैं। उनके बचने की आशा नहीं है। आधी रात हो गई है पर अभी तक हनुमान संजीवनी बूटी लिए लौटे नहीं हैं। रामचन्द्र अधीर हो उठते हैं और मूर्छित लक्ष्मण को गोद में उठाकर विलाप करने लग जाते हैं जिसे सुन कर दूसरों का कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और धैर्य भी धीरता खो बैठता है—

अर्धराति गइ कपि नहिं आएउ। राम उठाइ अनुज उर लाएउ॥
सकहु न दुखित देख मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेउ पितु माता। सहेहु विपिन हिम आतप वाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम वच विकलाई॥
जौं जनतेउँ वन वन्धु विछोहू। पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होंहि जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस विचारि जिए जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख विनु खग अति दीना। मनि विनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु विन तोही। जौं जड़ दैव जियावइ मोही॥
जैहउँ अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई॥
इत्यादि।

ये रामचन्द्र के हृदय के सच्चे उद्‌गार हैं। क्या उनकी तरह किसी ने भी आज तक अपने छोटे और सौतेले भाई को इतना प्यार किया? कभी नहीं।

सब भाइयों में शत्रुघ्न छोटे थे। रामायण के रंग मंच पर इनका अभिनय प्रायः नहीं के बराबर है। यदि ये रामायण के पात्रों की सूची में से हटा दिए जाएँ तो रामायणीय कथा की शृंखला में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। अतः यह स्पष्ट रीति से

अब रामचन्द्र के हृदय में लक्ष्मण के लिए कितना प्रगाढ़ प्रेम तथा कितना प्रबल वात्सल्य था, उसका भी हाल सुनिए। लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से आहत होकर मूर्छित हो गए हैं। उनके बचने की आशा नहीं है। आधी रात हो गई है पर अभी तक हनुमान संजीवनी बूटी लिए लौटे नहीं हैं। रामचन्द्र अधीर हो उठते हैं और मूर्छित लक्ष्मण को गोद में उठाकर विलाप करने लग जाते हैं जिसे सुन कर दूसरों का कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और धैर्य भी धीरता खो बैठता है—

अर्धराति गइ कपि नहिं आएउ। राम उठाइ अनुज उर लाएउ॥
सकहु न दुखित देख मोहि काऊ। वंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेउ पितु माता। सहेहु विपिन हिम आतप वाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम वच विकलाई॥
जौं जनतेउँ वन वन्धु विछोहू। पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होंहि जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस विचारि जिए जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख विनु खग अति दीना। मनि विनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु विन तोही। जौं जड़ दैव जियावइ मोही॥
जैहउँ अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गवाँई॥

इत्यादि।

ये रामचन्द्र के हृदय के सच्चे उद्‌गार हैं। क्या उनकी तरह किसी ने भी आज तक अपने छोटे और सौतेले भाई को इतना प्यार किया? कभी नहीं।

सब भाइयों में शत्रुघ्न छोटे थे। रामायण के रंग मंच पर इनका अभिनय प्रायः नहीं के बराबर है। यदि ये रामायण के पात्रों की सूची में से हटा दिए जाएँ तो रामायणीय कथा की शृंखला में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। अतः यह स्पष्ट रीति से

नहीं मालूम होता कि बड़े भाइयों के प्रति इनका भाव अथवा इनके प्रति बड़े भाइयों का भाव किस प्रकार का था। पर बड़े भाइयों का शील-स्वभाव देखकर तो यही अनुमान होता है कि कनिष्ठ होने के कारण इन पर बड़े भाइयों की प्रीति विशेष रहती होगी और ये भी उन्हें अति ही पूज्य-दृष्टि से देखते होंगे।

अब जरा रामादिकों के पारस्परिक भ्रातृ-भाव के साथ सुग्रीव और वाली, इसी प्रकार विभीषण और रावण के पारस्परिक भ्रातृ-भाव का मिलान कीजिए तो आप देखेंगे कि ये दोनों भ्रातृ-भाव ध्रुवद्वयवत् पूर्णतः एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। जहाँ एक अमृत-मय है तो दूसरा विषमय है। यदि एक को शीतल चन्द्रिका कहें तो दूसरे को ग्रीष्म मार्त्तण्ड का प्रचण्ड उत्ताप कहना पड़ेगा। सुग्रीव और विभीषण दोनों ही ने अपने-अपने बड़े भाई वाली और रावण की हत्या कराई थी और सो भी रामचन्द्र के ही हाथों से, पर आश्चर्य है कि जिन रामचन्द्र के पवित्र हृदय में भ्रातृत्व का पूर्वोक्त जैसा अति ही उच्च स्थान था, उन्हीं रामचन्द्र की दृष्टि में सुग्रीव और विभीषण जैसे भाई के हत्यारे भी अलौकिक सम्मान के पात्र बन गए। संसार की गति क्या ही विचित्र है?

आदर्श सेव्य-सेवक भाव—गोसाईंजी ने पूर्वोक्त विविध आदर्शों के साथ-साथ रामचन्द्र और हनुमान् को लेकर एक आदर्श सेव्य-सेवक-भाव भी स्थापित किया है। यद्यपि रामचन्द्र के भरतादि सभी अनुज उनके अनन्य सेवक थे; पर ये तो उनके आत्मीय थे; अतः उन लोगों की सेवा का उतना श्रेय नहीं था जितना कि हनुमान जैसे एक अनात्मीय की सेवा का। हनुमान् रामचन्द्र के अनात्मीय होते हुए भी केवल

उनकी निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही उनके आत्मीय बन गए। जब हनुमान् ने लंका से लौट कर सीता का समाचार रामचन्द्र से कहा तो उन्होंने कपिराज की बड़ाई किन शब्दों में की, ज़रा वह भी देख लीजिए—

चौ०—सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख हो न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउ कर विचार मन माहीं॥
पुनि-पुनि कपिहि चितव सुर त्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

रामचन्द्र के राज्याभिषेक के बाद सुग्रीवादि सभी सखागण अपनी-अपनी सेवा का पारितोषिक उनसे पाकर अपने-अपने घर चले गए; पर हनुमान् ने अयोध्या में ही रहकर अपना शेष जीवन रामचन्द्र की सेवा में ही बिताया और इसके बदले में राम-भक्ति के अतिरिक्त कुछ चाहा तक नहीं।

(२) उपदेशात्मक वचन—गोसाईं जी ने अपने 'रामचरितमानस' नामक इस अद्भुत महाकाव्य में ऐसे-ऐसे सुन्दर उपदेशों तथा नीति-वचनों का समावेश किया है कि जिनके अनुसार चलने से यह दुःखमय संसार भी स्वर्ग-तुल्य हो सकता है। इन मनोहर उपदेशों और नीति के वचनों को दोहों, सोरठों और चौपाइयों के अनुसार जिनके द्वारा वे पद्य-बद्ध किए गए हैं, अलग-अलग इकट्ठे कर नीचे दिया जाता है—

(क) दोहे

भलो भलाई पै लहहिं, लहहिं निचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥१॥
जड़ चेतन गुण दोष मय, विस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण लहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥२॥

भरद्वाज सुनु जाहि जब होहिं विधाता वाम।
धूरि मेरु सम जनक यम, ताहि व्याल सम दाम ॥३॥
तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय ॥४॥
शूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलाप ॥५॥
काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जान।
तिय विशेष पुनि चेरि कहि. भरत-मातु मुसकान ॥६॥
का नहिं पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय।
का न करै अवला प्रवल, केहि जग काल न खाय ॥७॥
गुरु श्रुति सम्मत धर्मफल, पाइय विनहिं कलेस।
हठवस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस ॥८॥
मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेहु लाभ तिन जन्म के, न तरु जन्म जग जाय ॥९॥
और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानै जोग ॥१०॥
सपने होंहि भिखारि नृप, रंक नाक-पति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जग जोइ ॥११॥
सुनहु भरत भावी प्रवल. विलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, यश अपयश विधि हाथ ॥१२॥
कारन ते कारज कठिन, होइ दोष नहिं मोर।
कुलिश अस्थि ते उपलते, लोह कराल कठोर ॥१३॥
ग्रह गृहीत पुनि वात वश, तापर बीछी मार।
ताहि पिलाइय वारुणी, कहो कवन उपचार ॥१४॥
सेवक कर पद नयन से, मुख से साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोय ॥१५॥

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के पौरुष वचन बल, मुनिवर कहहिं विचारि ॥१६॥
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥१७॥
सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीन कर, होइ वेगि ही नास ॥१८॥
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमान।
ते नर पाँवर पाप मय, तिनहिं विलोकत हान ॥१९॥
काटै पै कदली फलै, कोटि जतन कोउ सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाँटेहि पै नव नीच ॥२०॥
महादेव अवगुन भवन, विस्नु सकल गुन-धाम।
जेहि कर मनु रम जाहिसन, तेहि तेही सन काम ॥२१॥

(ख) सोरठे

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भली।
विलग होय रस जाय, कपट खटाई परत पुनि ॥१॥
गुरु विनु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग विनु।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहहिं हरि भक्ति विनु ॥२॥
कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष विनु।
चलै कि जल विनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरै ॥३॥
पन्नगारि अस नीति, स्रुति-संमत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परम हित ॥४॥
पाट कीट ते होइ, तेहि ते पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥५॥
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।
फूलै फलै न वेत, जदपि सुधा वरखहिं जलद ॥६॥

(ग) चौपाइयाँ (आधी वा पूरी)

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई ॥१॥
वायस पालिय अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुं कि कागा ॥२॥
उपजहिं एक संग जल माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥३॥
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥४॥
खलहु करहिं भल पाय सुसंगू। मिटै न मलिन सुभाव अभंगू ॥५॥
उबरहिं अन्त न होइ निबाहू। काल नेमि जिमि रावन राहू ॥६॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु वेद विदित सब काहू ॥७॥
मति अति नीच ऊँच रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरै न छाछी ॥८॥
निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका ॥९॥
सज्जन सुकृत-सिन्धु-सम कोई। देखि पूर विधु बाढ़इ जोई ॥१०॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई ॥११॥
राखइ गुरु जो कोप विधाता। गुरु विरोध नहिं कोउ जग त्राता ॥१२॥
बड़े सनेह लघुन पर करहिं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं ॥१३॥
जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं पर तिय मन डीठी ॥१४॥
मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं। ते नर वर थोरे जगमाहीं ॥१५॥
चतुर सखी बोली मृदु बानी। तेजवन्त लघु गनिए न रानी ॥
कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥१६॥
का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने ॥१७॥
इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥१८॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥१९॥
बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न सन्त विदूषहिं काऊ ॥२०॥
गुनहु लखन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू ॥
टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। वक्र चन्द्र महि ग्रसइ न राहू ॥२१॥
हमहिं तुम्हहिं सरबस कस नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहुँ माथा ॥२२॥
क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पामर जाना ॥२३॥

जे गुरु चरण रेणु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव वस करहीं ॥२४॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू ॥२५॥
ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूति ॥२६॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते ॥२७॥
नहि असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥२८॥
अरि वस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीव न चाही ॥२९॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहै न नीच मते चतुराई ॥३०॥
शिवि दधीचि वलि जो कछु भाषा। तनु धन तजेउ वचन पन राखा ॥३१॥
कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउर माया ॥३२॥
दुइ कि होइ इक संग भुआलू। हसब ठठाइ फुलाइब गालू ॥३३॥
तनु तिय तनय धाम धनु धरनी। सत्य संध कहँ तृन सम वरनी ॥३४॥
पुनि पछितैहसि अन्त अभागी। मारसि गाय नाहरू लागी ॥३५॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी ॥३६॥
तनय मातु पितु पोषन हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥३७॥
धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥३८॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥३९॥
निज प्रतिविंब वरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई ॥४०॥
का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा ॥४१॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। विधि गति वाम सदा सब काहू ॥४२॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ॥४३॥
फूलत फलत भयेउ विधि वामा। जानि न जाइ काह परिनामा ॥४४॥
एहि ते धरम अधिक नहिं दूजा। सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥४५॥
मानस सलिल सुधा प्रति पाली। जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ॥४६॥
नव रसाल वन विहरन सीला। सोह कि कोकिल विटप करीला ॥४७॥
तन धन धाम धरनि पुर राजू। पति विहीन सब सोक समाजू ॥४८॥
जिय विनु देह नदी विनु वारी। तैसेहि नाथ पुरुष विनु नारी ॥४९॥

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥५०॥
गुरु पितु मातु वन्धु सुर साईं। सेइय सकल प्रान की नाईं ॥५१॥
राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू ॥५२॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय विचारी ॥
कर जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई ॥५३॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सुनु भ्राता ॥५४॥
सिवि दधीचि हरिचन्द नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
रन्ति देव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना ॥५५॥
धर्म्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ॥५६॥
संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुण दाहू ५७॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा ॥
काल करम बस होहिं गोसाईं! बरबस रात दिवस की नाईं ॥५८॥
पेड़ काटि पल्लव तैं सींचा। मीन जियन हित वारि उलीचा ॥५९॥
विधिहू न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥६०॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी ॥६१॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी ६२॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ॥६३॥
माँगउ भीख त्यागि निज धरमा। आरत काह न करहिं कुकरमा। ६४॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिए जस देवता। ६५॥
कर्म प्रधान विस्व कर राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा ॥६६॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ ॥६७॥
सहसा करि पाछे पछताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं ॥६८॥
सकुचउँ तात कहत इक बाता। अरध तजहिं बुध सरवसु जाता ॥६९॥
आरत कहहिं विचारि न काऊ। सूझ जुआरिहिं आपन दाऊ ॥७०॥
हित अनहित पशु पंछिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना ॥७१॥
लगि लगि कान कहहि धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा ॥७२॥

कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ।।७३।
कसे कनक मनि पारिख पाए । पुरुष परीखिए समय सुभाए । ७४।।
प्रभु अपने नीचहुँ आदरहीं । अग्नि धूम गिरि तृण सिर धरहीं ।।७५।।
छोटे वदन कहउँ बड़ि बाता । छमब तात लखि वाम विधाता ।।७६।।
स्वामि धरम स्वारथहिं विरोधू । वैर-अन्ध प्रेमहिं न प्रवोधू ।।७७।।
पशु नाचत शुक पाठ प्रवीना । गुण गति नट पाठक आधीना ।।७८।।
होहि कुठाय सुवन्धु सहाए । ओड़ियहि हाथ असनि के धाए ।।७९।।
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले । चलेहु कुमग पग परहिं न खाले ।।८०।।
धीरज धर्म्म मित्र अरु नारी । आपति काल परीखिय चारी ।।८१।।
पति-वंचक पर पति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ।।८२।।
राजु नीति विनु धन विनु धरमा । हरहिं समर्पे विनु सत करमा ।।
विद्या विनु विवेक उपजाए । स्रम फल पढ़े किए अरु पाए ।८३।।
सँग तें जती कुमंत्र तें राजा । मानतें ग्यान पान तें लाजा ।।
प्रीति प्रनय विनु मद तें गुनी । नासहिं वेग नीति अस सुनी ।।८४।।
नवनि नीच कै अति दुखदाई । जिमि अंकुस धनु उरग विलाई ।।८५।।
भय दायक खल कै प्रिय वानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ।।८६।।
तब मारीच हृदय अनुमाना । नवहिं विरोधे नहिं कल्याना ।।
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी । वैद्य वंदि कवि मानस गुनी ।।८७।।
इमि कुपन्थ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि लव लेसा ।।८८।।
परहित वस जिनके मनमाहीं । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।।८९।।
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय । भूप सुसेवित वस नहिं लेखिए ।।
राखिय नारि जदपि उर माहीं । जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं ।।९०।।
सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच वनइ प्रभु पोसे ।।९१।।
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिनहिं विलोकत पातक भारी । ९२।।
सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी । कपटी मित्र सूल सम चारी ।।९३।।
अनुज वधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ये चारी ।।

इनहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई । ताहि वधे कछु पाप न होई ॥९४॥
छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित यह अधम सरीरा ॥९५॥
उमा दारु योषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ॥९६॥
सुर नर मुनि सबकी यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥९७॥
नारि नयन सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि सो जागा ॥९८॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥९९॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई । उहाँ गए मारिहिं कपिराई ॥१००॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥१०१॥
उमा सन्त कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥१०२॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥१०३॥
जानि न जाइ निसाचर माया । काम रूप केहि कारन आया ॥१०४॥
भानु पीठ सेइय उर आगी । स्वामिहिं सर्व भाव छल त्यागी ॥१०५॥
वरु भल वास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देहु विधाता ॥१०६॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा । सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा ॥
कादर मन कर एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥१०७॥
करत राजु लंका सठ त्यागी । होइहि जब कर कीट अभागी ॥१०८॥
भूमि परा कर गहत अकासा । लघु तापस कर वाग विलासा ॥१०९॥
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपिन सन सुन्दर नीती ॥
ममता रत सन ज्ञान कहानी । अति लोभी सन विरति बखानी ॥
क्रोधिहि सम कामहिं हरि कथा । ऊसर बीज वये फल जथा ॥११०॥
साम दान अरु दंड विभेदा । नृप उर वसहिं सत्य कः वेदा ॥१११॥
सरवस खाइ भोग करि नाना । समर भूमि भा वल्लभ प्राना ॥११२॥
सुत वित नारि भवन परिवारा । होहिं जाहिं जग बारहिबारा ॥
अस विचारि जिय जागहु ताता । मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता ॥११३॥
पर उपदेश कुशल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥११४॥
सन्त असन्तन कै अस करनी । जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥

काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देत सुगन्ध बसाई ॥११५॥
परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥११६॥
छूटइ मल कि मलहि के धोये। घृत कि पाव कोउ वारि विलोये ॥११७॥
जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई ॥११८॥
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥११९॥
तृसना केहि न कीन्ह बौरहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दहा ॥१२०॥
जौवन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा ॥१२१॥
चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न व्यापी माया ॥१२२॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ॥१२३॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उगहिं दिनेसा ॥१२४॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥१२५॥
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा ॥१२६॥
कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन भल न कलह नहिं प्रीती ॥१२७॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिय स्वान की नाईं ॥१२८॥
जौं नहिं दण्ड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥१२९॥
अति संघर्ष करै जो कोई। अनल प्रगट चन्दन तें होई ॥१३०॥
नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। सन्त मिलन सम सुख कहुँ नाहीं ॥१३१॥
सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहा न जाना ॥
निज परिताप द्रवत नव नीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥१३२॥

(३) **साहित्यिक सौन्दर्य**—किसी भी साहित्यिक रचना का सौन्दर्य उसके शब्दों और अर्थों के हृदयग्राही एवं चमत्कारक प्रयोगों पर ही आश्रित रहता है। इन्हीं प्रयोगों को साहित्य-शास्त्र में 'अलंकार' के नाम से अभिहित करते हैं। जिस प्रकार हार केयूरादि आभूषणों को धारण करने से मानव-शरीर का सौन्दर्य जगमगा उठता है; उसी प्रकार अलंकारों के प्रयोग से रचना-रमणी के शरीर में

एक अलौकिक सौन्दर्य की अद्भुत छटा आ जाती है। 'राम-चरितमानस' विविध अलंकारों का एक वृहद् भण्डार है जिसके अवलोकन से जान पड़ता है कि गोसाईंजी अलंकारों के प्रयोग में सिद्धहस्त थे, जिससे वे प्रयोग उनके बाएं हाथ के अनायास खेल हो गए थे। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि आपकी कुशल लेखनी तरंगों की तरह एक पर एक उमड़ते हुए अलंकारों का ताँता बाँधती और साहित्य-रसिकों को एक अनिर्वचनीय आनन्द के अथाह सागर में डुबोती हुई अविरत गति से दूर तक निकल जाती है। यों तो साहित्य-शास्त्र में कुल भेदों और उपभेदों को मिलाकर अनेक प्रकार के अलंकार बतलाए गए हैं; किन्तु यहाँ पर स्थानाभाव के कारण सबों की विवेचना न कर 'मानस' से कतिपय मुख्य-मुख्य अलंकारों के उदाहरण सविवरण उद्धृतकर पाठकों की सेवा में अर्पित किए जाते हैं :—

(क) शब्दालंकार—(१) पुनरुक्तवदाभास—जहाँ दो शब्द श्रवण मात्र से एक ही अर्थ के द्योतक मालूम होते हों, पर वस्तुतः उनके अर्थ एक न हों वहाँ यह अलंकार होता है, यथा—पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछुमन पहँ बहुरि पठाई। यहाँ पुनि और फिरि में पुनरुक्त वदाभासालंकार है।

(२) अनुप्रास—जहाँ स्वर का भेद होता हुआ भी एक ही वर्ण की बार-बार आवृत्ति होती हो वहाँ अनुप्रासालंकार होता है, यथा—बन्दउ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥ यहाँ प और स की बार-बार आवृत्ति हुई है। इसके छेकादि पाँच भेद हैं जो विस्तार भय से नहीं लिखे गए।

(३) यमक—जहाँ एक ही शब्द वा शब्दांश की कई आवृत्तियाँ होती हों, पर प्रत्येक आवृत्ति में उसके अर्थ में भिन्नता रहती हो वहाँ यमकालंकार होता है, यथा—भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू॥ यहाँ विधि शब्द की दो आवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न अर्थों में हुई हैं। यदि कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का एक निरर्थक खंड होकर भी आवृत्ति करे तो वहाँ यमक में कोई हानि नहीं समझी जाती; यथा—नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन सयन सत सम सुखदाई॥ यहाँ 'साथरी' का 'साथ' निरर्थक है; पर यमक में कोई हानि नहीं है।

(४) वक्रोक्ति—जहाँ श्लेष (किसी द्वयर्थक शब्द के प्रयोग) वा काकु (ध्वनि विकार विशेष) के द्वारा ऐसा अर्थ निकले जो अनभिप्रेत हो (श्लेष) वा ऐसा अर्थ निकले जो उल्टा हो (काकु) वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। वक्रोक्ति का अर्थ टेढ़ा कथन है; जैसे—वायस पालिय अति अनुरागा। कबहुँ निरामिष होंहि कि कागा॥ इस उदाहरण में 'निरामिष' शब्द का सीधा अर्थ न लेकर उल्टा ही अर्थ 'सामिष' लेना होगा। चौपाई का अर्थ यह है कि काग जब होगा तब सामिष ही होगा। यहाँ काकु वक्रोक्ति है। इसी प्रकार 'दारु विचार कि करइ कोउ', 'जीति को सक संग्राम', 'बोलत बचन झरत जनु फूला', मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू' आदि काकु वक्रोक्ति के उदाहरण हैं।

(५) श्लेष—जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थ निकालकर काम में लाए जाएँ वहाँ श्लेषालंकार होता है; यथा—द्विज द्रोही न बचहिं सुरराई। जिमि पंकज बन हिम ऋतु आई॥ यहाँ

'द्विज' शब्द पर श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं—ब्राह्मण और चन्द्रमा, और दोनों से काम लिया गया है।

(६) पुनरुक्ति प्रकाश—जहाँ किसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक ही शब्द बार-बार प्रयुक्त किया जाए वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार होता है; जैसे—'कलप कलप लगि प्रभु अवतरहीं', 'साधु साधु कहि ब्रह्म बखाना', 'बारबार करि दंड-प्रणामा', सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी', आदि उद्धरणों में कलप-कलप, साधु-साधु, बार-बार, सुमिरि सुमिरि आदि पुनरुक्ति प्रकाश के उदाहरण हैं।

(७) वीप्सा—जहाँ एक ही शब्द आश्चर्य, भय, घृणा, पश्चात्ताप आदि हृद्गत भावों के प्रदर्शन कराने के लिए बार बार प्रयुक्त हो वहाँ वीप्सा अलंकार होता है; जैसे—'बार बार कह राउ' में 'बार बार' के द्वारा दशरथ की आतुरता, 'पाहि-नाथ ! कहि पाहि गोसाईं' में 'पाहि पाहि' के द्वारा रामचन्द्र में भरत की अनन्य भक्ति दिखलाई गई है।

(ख) अर्थालंकार—अर्थालंकारों में सर्वप्रधान उपमा अलंकार है। दो वस्तुओं में किसी धर्म्म विशेष को लेकर समता दिखाना ही उपमा अलंकार है। इस अलंकार में चार अंग होते हैं—(१) उपमेय, अर्थात् वह वस्तु जिसकी समता दिखलाई जाए; जैसे—मुखचन्द्र; यहाँ मुख की समता चन्द्र से दिखाई गई है; अतः मुख उपमेय हुआ। उपमा अलंकार में उपमेय ही प्रधान रहता है। (२) उपमान, अर्थात् वह वस्तु जिससे उपमेय की समता दिखाई जाए; जैसे, उक्त उदाहरण में मुख की समता चन्द्र से दिखाई गई है; अतः चन्द्र उपमान हुआ। (३) धर्म्म, अर्थात् वह अंश जिसमें समता दिखाई जाए; जैसे, उक्त उदाहरण में

सौन्दर्य धर्म्म है जो यहाँ लुप्त है। मुखचन्द्र का अर्थ है 'मुख जो चन्द्र की तरह सुन्दर है।' (४) वाचक, अर्थात् वह शब्द वा शब्द-समूह जिसके द्वारा समता दिखाई जाए; जैसे उक्त उदाहरण में शब्द-समूह 'की तरह' वाचक है। जिमि, इव, सदृश वा इन्हीं की तरह अन्य शब्द उपमालंकार में वाचक का काम करते हैं।

उपमालंकार के दो मुख्य भेद होते हैं—(१) पूर्णोपमा और (२) लुप्तोपमा। जिस उपमा में चारों अंग वर्त्तमान हों वह पूर्णोपमा और जिसमें एक वा एक से भी अधिक अंग लुप्त हों वह लुप्तोपमा कहलाती है। पुनः लुप्तोपमा के अनेक उपभेद होते हैं। विद्वानों ने तो उपमालंकार के सभी भेदोपभेदों को मिलाकर इसे २७ प्रकार के माने हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य के उदाहरण 'मानस' से उद्धृत कर नीचे दिए जाते हैं—

(१) पूर्णोपमा; जैसे—'विरह बिकल नर इव रघुराई।' यहाँ चारों अंग प्रकट हैं। रघुराई = उपमेय; नर = उपमान; विरह-विकल = धर्म्म और इव = वाचक है।

(२) वाचक लुप्तोपमा; जैसे—'तरुण अरुण वारिज नयन।' इसका अर्थ है, जिनकी युवा और लाल कमल 'के सदृश' आँखें हैं। यहाँ वाचक 'के सदृश' लुप्त है।

(३) धर्म्म लुप्तोपमा; जैसे—'ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी'। यहाँ शीतलता धर्म्म का लोप है। इस उद्धरण का अर्थ है, चन्द्रमा की किरण तुल्य तुम्हारी शीतल वा शान्ति-दायिनी बातें सुनकर।

(४) उपमान लुप्तोमा; जैसे—'समर धीर नहिं जाइ बखाना। तेहि सम नहिं प्रति भट जग जाना॥' यहाँ तेहि = उपमेय; समर

धीर=धर्म्म और सम=वाचक हैं; पर प्रति भट नहिं होने के कारण उपमान का लोप है।

(५) उपमेय लुप्तोपमा; जैसे—'नर-नारायण सरिस सुभ्राता।' यहाँ नर-नारायण=उपमान; सुभ्राता=धर्म्म और सरिस=वाचक हैं; पर उपमेय का लोप है।

(६) वाचक-धर्म्म-लुप्तोपमा; जैसे—'पद राजीव बरनि नहिं जाई।' यहाँ 'पद राजीव का अर्थ है, पद राजीव के सदृश कोमल। पद=उपमेय; राजीव=उपमान हैं; पर वाचक 'के सदृश' और धर्म्म 'कोमल' दोनों लुप्त हैं।

(७) धर्म्मोपमान लुप्तोपमा; जैसे—'आजु पुरन्दर सम कोउ नाहीं।' इसका अर्थ है, आज इन्द्र के समान कोई भाग्यशाली नहीं है। यहाँ पुरन्दर=उपमेय और सम=वाचक हैं, पर 'भाग्यशाली' और 'कोउ' के अभाव से क्रमशः धर्म्म और उपमान का लोप है।

(८) धर्म्मोपमेय लुप्तोपमा; जैसे—'मारेउ मोहिं ब्याध की नाईं।' यहाँ पर 'ब्याध' उपमान और 'की नाईं' वाचक हैं; पर धर्म्म (पापात्मा) और उपमेय (तुमने) का लोप है।

(९) वाचकोपमेय लुप्तोपमा; जैसे—'नील सरोरुह स्याम।' यहाँ स्याम=धर्म्म और नील सरोरुह=उपमान है; पर वाचक (सदृश) और उपमेय (जो) का लोप है।

(१०) वाचकोपमान लुप्तोपमा; जैसे—'चितवनि चारु मारमद हरनी।' यहाँ चितवनि=उपमेय और चारु=धर्म्म है; पर अमुक वस्तु (उपमान) और 'की तरह' (वाचक) का लोप है।

(११) मालोपमा। जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान हों वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। यह दो प्रकार का होता

है—(क) एक धर्म्मा; अर्थात् जिसमें सभी उपमानों का एक ही धर्म्म कहा जाए और (ख) भिन्न-धर्म्मा; अर्थात् जिसमें भिन्न-भिन्न उपमानों के भिन्न-भिन्न धर्म्म कहे जाएँ।

(क) एक धर्म्मा का उदाहरण—

'वैनतेय वलि जिमि चह कागू। जिमि शस चहे नाग अरि भागू॥
जिमि चह कुसल अकारण कोही। सुख-सम्पदा चहै शिव द्रोही॥
लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकिता कि कामी लहई॥
हरिपद विमुख परम पदचाहा। तस तुम्हार लालच नरनाहा॥'

इस उदाहरण में एक ही उपमेय 'नरनाहा' के काग, शस, कोही, शिव-द्रोही, लोभी, लोलुप आदि अनेक उपमानों के बीच एक ही धर्म्म (अनुचित लालच) का कथन किया गया है।

(ख) भिन्न धर्म्मा का उदाहरण—

'वन्दौं खल जस सेस सरोषा। सहस-वदन वरनैं पर दोषा॥
पुनि प्रणवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनैं सहस दस काना॥
बहुरि शक्र सम विनवौं तेही। सन्तत सुरानीक हित जेही॥
हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसवाहु से॥
तेज कृशानु रोष महि पेशा। अघ अवगुण धन धनिक धनेशा॥
उदय केतु समहित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥'

इस उदाहरण में एक ही उपमेय 'खल' के लिए शेष, पृथुराज, शक्र, राहु, सहस्रवाहु आदि भिन्न-भिन्न उपमानों को लाकर उनके परनिन्दन, परदोषश्रवण, सुरापान आदि भिन्न-भिन्न धर्म्मों का कथन किया गया है।

(१२) अनन्वयोपमा। जहाँ उपमान और उपमेय अभिन्न हों अर्थात् उपमानाभाव के कारण जहाँ उपमेय को ही उपमान कहा जाए वहाँ अनन्वयोपमा अलंकार होता है; जैसे—'भरत

भरत सम जानि; तुम समान तुम तात'; 'मोहि समान मैं मातु दुहाई' आदि उदाहरणों में जो उपमेय हैं वे ही उपमान भी हैं।

अन्यान्य अर्थालंकार।

(१३) प्रतीप। यह भी एक प्रकार का उपमालंकार है। प्रतीप का अर्थ है—विपरीत (उलटा)। इस अलंकार में उपमा के उपमेय और उपमान उलटकर क्रमशः उपमान और उपमेय हो जाते हैं; जैसे—'उतरि नहाने जमुन जल, जो सरीर सम साम।' साधारणतः उपमालंकार में रामचन्द्र के शरीर (उपमेय) का श्याम रंग यमुना-जल आदि जैसे अन्य श्याम पदार्थों (उपमान) के सदृश बताया जाता है। पर उक्त उदाहरण में बात उलटी है। यमुना जल ही रामचन्द्र के शरीर की तरह श्याम कहा गया है; अर्थात जो उपमेय था वह उपमान और जो उपमान था वह उपमेय हो गया है। ऐसा करने से उपमेय की विशेष उत्कृष्टता हो जाती है। प्रतीप के पाँच भेद होते हैं :—

(क) प्रथम प्रतीप। इसमें प्रसिद्ध उपमान को उपमेय की कल्पना करते हैं; जैसे—'उतरि नहाने जमुन-जल, जो सरीर सम साम।' यहाँ प्रसिद्ध उपमान यमुना के जल को शरीर का उपमेय कहा गया है। विशेष व्याख्या अभी पहले कर दी गई है; देख लीजिए। दण्डी ने इसको 'विपर्योपमा' नाम से उपमा का एक भेद माना है।

(ख) द्वितीय प्रतीप। इसमें उपमान के द्वारा उपमेय की निकृष्टता वा उसका अनादर दिखाया जाता है; जैसे—'नाँघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होंहि सुनहु जड़कीसा।' यहाँ समुद्र नाँघने वाले पक्षियों (उपमान) के द्वारा समुद्र में सेतु बाँध-

कर उसे पार करनेवाले रामादिकों (उपमेय) का अनादर दिखाया गया है।

(ग) तृतीय प्रतीप। इसमें उपमेय की अपेक्षा उपमान में तुच्छता दिखाई जाती है; जैसे—'भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति-सदन न पटतर पावा॥' यहाँ भूपति भवन (उपमेय) की अपेक्षा सुरपति-सदन (उपमान) की तुच्छता दिखाई गई है। 'सिय मुख पटतर पाव किमि, चन्द वापुरो रंक।' यहाँ भी यही अलंकार है।

नोट—द्वितीय और तृतीय प्रतीप एक दूसरे के उलटे होते हैं।

(घ) चतुर्थ प्रतीप। जहाँ उपमेय की समता उपमान नहीं कर सके वा उपमेय की उपमा के लिए उपमान अयोग्य हो, वहाँ चतुर्थ प्रतीप होता है; जैसे—'सीय बदन सम हिमकर नाहीं।' यहाँ सीय-वदन (उपमेय) की समता हिमकर (उपमान) नहीं करता। इसी प्रकार 'वैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें।' यहाँ भी सीता के मुख की उपमा के लिए चन्द्र की अयोग्यता दिखाने के कारण चतुर्थ प्रतीप है।

नोट—तृतीय और चतुर्थ प्रतीपों में बहुत कम अन्तर देख पड़ता है।

(ङ) पंचम प्रतीप। जहाँ उपमान का कार्य्य उपमेय के ही भली-भाँति करने से उपमान निष्प्रयोजन हो जाए वहाँ पंचम प्रतीप होता है; जैसे—'नाभि मनोहर लेत जनु, जमुन भँवर छवि छीन'। यहाँ नाभि ने यमुना के भँवर की छवि छीन ली, जिससे भँवर निरर्थक हो गया। उसका कोई भी प्रयोजन न रहा। इसी प्रकार 'रूप अपार मार मद मोचन'; 'निज सरूप रतिमान विमोचन', आदि उदाहरणों में रूप, सरूप आदि

(उपमेय) मार, रति आदि (उपमान) को व्यर्थ कर देते हैं। यहाँ सर्वत्र पंचम प्रतीप है।

(१४) रूपकालंकार। जहाँ वाचक और धर्म्म का निर्देश न करके उपमेय और उपमान को एक ही मान लिया जाए वहाँ रूपक अलंकार होता है। रूप का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेना। इस अलंकार में उपमेय में उपमान की कल्पना कर ली जाती है, इसीसे इसका नाम रूपक पड़ा है, जैसे 'मुखचन्द्र' में मुख (उपमेय) में चन्द्र (उपमान) का आरोप हुआ है, अर्थात् मुख को ही चन्द्र मान लिया गया है। रूपक के यों तो भेदोपभेद बहुत होते हैं, पर मुख्यतः उसके तीन भेद माने जाते हैं—(क) साङ्गरूपक (ख) निरंगरूपक और (ग) परम्परित रूपक।

(क) साङ्गरूपक। इसका नाम सावयव रूपक भी है। जहाँ अंगों के सहित उपमेय में अंगों के सहित उपमान का आरोप किया जाए वहाँ सांगरूपक होता है। गोसाईंजी ने 'रामचरित-मानस' के बालकाण्ड में रामकथा और सरयू नदी के बीच जो रूपक बाँधा है वह देखने योग्य है। 'चली सुभग कविता सरिता सी' से लेकर 'मिटहिं पाप परिताप हिए ते' तक पढ़ जाइए। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में 'सात्विक श्रद्धा' और 'धेनु' के बीच का रूपक भी विलक्षण हुआ है।

(ख) निरंग रूपक। इस रूपक में केवल प्रधान वस्तु का ही कथन होता है, उसके अंगों का नहीं। अर्थात् अंगों के बिना उपमान का उपमेय में आरोप करना ही निरंग व निरवयव रूपक है। इसके दो भेद हैं—(१) तद्रूप रूपक और (२) अभेद रूपक।

तद्रूप रूपक में ऊपर, अन्य, दूसरा आदि शब्द वाचक

होकर आते हैं; जैसे—'कहहिं ज्योतिषी अपर विधाता।' यहाँ ज्योतिषी में अपर द्वारा विधाता का आरोप हुआ है।

अभेद रूपक तब होता है जब उपमेय में अभेद से उपमान का आरोप किया जाता है। अभेद का अर्थ है एकता। अभेद रूपक में आहार्य अभेद रहता है; अर्थात् अभेद न रहने पर भी अभेद मान लिया जाता है; जैसे—'श्री गुरुपद नख मनिगन जोती', यहाँ नख और मणि में अभेद रूपक है।

(ग) परम्परित रूपक। जहाँ मुख्य रूपक किसी अन्य रूपक पर आश्रित रहता है वहाँ परम्परित रूपक होता है। अर्थात् जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बने तो वहाँ परम्परित रूपक होता है; जैसे—'महामोह महिषेस विसाला। रामकथा कालिका कराला॥' यहाँ रामकथा और कालिका का रूपक, मोह और महिषेश के रूपक पर, आश्रित है; अथवा यों कहिए कि रामकथा और कालिका के रूपक का कारण मोह और महिषेश का रूपक है; अतः यहाँ परम्परित रूपक है।

(१५) अपन्हुति अलंकार। 'अपन्हुति' शब्द 'न्हुङ्' धातु से बना है। इसका अर्थ छिपाना है। इस अलंकार में उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाता है। इसके ६ भेद हैं—(क) शुद्धापन्हुति, (ख) पर्य्यस्तापन्हुति, (ग) भ्रान्त्यपन्हुति, (घ) हेत्वपन्हुति, (ङ) छेकापन्हुति और (च) कैतवापन्हुति।

(क) शुद्धापन्हुति। इसमें उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान का स्थापन किया जाता है, जैसे—'वन्धु न होइ मोर यह काला।' यहाँ उपमेय 'वन्धु' को असत्य बतलाकर उपमान 'काल' का स्थापन किया गया है।

(ख) पर्य्यस्तापन्हुति। एक वस्तु के धर्म्म का दूसरी वस्तु में आरोप करने का नाम पर्य्यस्ता पन्हुति है; जैसे—'कुल गुरु

सम हित माय न बापू।' यहाँ माँ-बाप का धर्म्म कुलगुरु में आरोपित हुआ है।

(ग) भ्रान्त्यपन्हुति। जहाँ सत्य बात को प्रकट करके किसी की शंका वा भ्रान्ति का निवारण किया जाय वहाँ भ्रान्त्य-पन्हुति अलंकार होता है; जैसे—'तेजवन्त लघु गनिय न रानी।' यहाँ सत्य बात को बतलाकर एक सखी ने जनक-पत्नी की रामचन्द्र के द्वारा धनुष के तोड़े जाने की शंका को दूर किया है।

(घ) हेत्वपन्हुति। कारण बताते हुए उपमेय का निषेध-पूर्वक उपमान के स्थापन करने का नाम हेत्वपन्हुति है; जैसे—'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥ तव रिपु-नारि-रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥' यहाँ उपमेय पयोनिधि वारि का निषेध-पूर्वक उसके खारे होने का कारण बताते हुए उपमान नारि-रुदन-जल का स्थापन किया गया है।

(ङ) छेकापन्हुति। स्वविषयक किसी गुप्त रहस्य के प्रकट हो जाने पर उसको मिथ्या समाधान द्वारा छिपाने के प्रयत्न को छेकापन्हुति कहते हैं; जैसे—'कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रणाम तुम्हरेहि नाईं॥' सती तो रामचन्द्र की परीक्षा ले चुकी थीं पर शिव के पूछने पर उन्होंने इस गुप्त रहस्य को यह कहकर छिपाने का प्रयत्न किया कि मैंने तो रामचन्द्र की कुछ भी परीक्षा न ली; केवल आपकी ही तरह मैंने भी उनको प्रणाम किया है।

(च) कैतवापन्हुति। किसी कार्य्य का होना वा किसी वस्तु का वर्णन किसी बहाने से करने का नाम कैतवापन्हुति है; जैसे—'तिय मिस मीच सीस पर नाचा।' यहाँ राजा दशरथ

के सिर पर मृत्यु का नाचना उनकी स्त्री (कैकेयी) के बहाने बताया गया है। यह अलंकार छल, व्याज, मिस आदि शब्दों से पहचाना जाता है।

(१६) उत्प्रेक्षालंकार। प्रस्तुत (उपमेय) की, अप्रस्तुत (उपमान) रूप में, संभावना करने का नाम उत्प्रेक्षालंकार है। उत्प्रेक्षा और रूपक में यह भेद है कि उत्प्रेक्षा में उपमेय और उपमान को दो वस्तु समझते हुए उपमेय में उपमान का आहार्य आरोप किया जाता है और रूपक में जो आहार्य आरोप होता है वह उपमेय-उपमान के अभेद में होता है; जैसे—'मुखचन्द्र' में 'मुख ही चन्द्र है', यह अभेद माना जाता है; अतः यहाँ रूपक है। और उत्प्रेक्षा में 'मुख मानो चन्द्र है' ऐसा कहकर मुख और चन्द्र को वस्तुतः दो भिन्न वस्तु मानते हैं। उत्प्रेक्षा के वाचक मनु, मानो, मानहु, जनु जानो, इव आदि शब्द हैं। इसके तीन भेद हैं—(क) वस्तूत्प्रेक्षा, (ख) हेतूत्प्रेक्षा, (ग) फलोत्प्रेक्षा।

(क) वस्तूत्प्रेक्षा जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाए वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है। इसके दो भेद हैं—उक्त-विषया और अनुक्त-विषया।

उक्त-विषया में उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) कहकर संभावना की जाती है; जैसे—'लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाय। निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल विलगाय ॥' यहाँ लता-भवन और दोनों भाइयों (उपमेयों) कहकर जलद पटल और जुग विमल विधु (उपमानों) की संभावना की गई है।

अनुक्त-विषया में उत्प्रेक्षा के विषय (उपमेय) को बिना कहे ही संभावना की जाती है; जैसे—'बसहि नगर सुन्दर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनु धारी।'

(ख) हेतूत्प्रेक्षा। अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा करना हेतूत्प्रेक्षा है, अर्थात् जो वास्तव में कारण न हो उसे कारण मानकर उसकी उत्प्रेक्षा करने का नाम हेतूत्प्रेक्षा है। इसके दो भेद हैं—सिद्ध विषया और असिद्ध विषया।

सिद्धविषया वह है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध (संभव) हो, जैसे—'पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं जनु लागत सायक ॥' भाटों का पढ़ना और गायकों का गुण गाना साधारणतः पीड़ा का कारण नहीं होता, पर उसी को यहाँ बाणवत् पीड़ाजनक बताकर उत्प्रेक्षा की गई है। बाणों की चोट से पीड़ा का होना संभव है, अतः यहाँ सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा है।

असिद्धविषया वह है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध (असंभव) हो, जैसे—'सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहिं सभीत देत जय माला ॥' जानकीजी रामचन्द्र के गले में जय माला पहना रही हैं। पहनाने के लिए अपनी दोनों हाथों से जयमाला को पकड़कर अपनी दोनों भुजाएँ उठा ली हैं। वहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों दो नाल-युक्त कमल चन्द्र को जय माला पहना रहे हों। नाल-युक्त कमलों का चन्द्र को जयमाला पहनाना असिद्ध (असंभव) है; अतः यहाँ असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

(ग) फलोत्प्रेक्षा। अफल को फल मानने की उत्प्रेक्षा करना फलोत्प्रेक्षा है, जैसे—

चारु चरन नख लेखत धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी ॥
मनहुँ प्रेमवस विनती करहीं। हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं ॥

सीताजी अपने पैर के नखों से धरती खुरेच रही हैं जिससे उनके नूपुर मधुर ध्वनि कर रहे हैं। वहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है

कि मानो नूपुर उनसे यह विनती कर रहे हैं कि वे उन्हें अपने पैरों से अलग करके वन को न जाएँ। यद्यपि नूपुरों को पैरों में रहने देना उनकी ध्वनि रूप प्रार्थना का फल नहीं है, पर यहाँ पर उसी को फल मानने की उत्प्रेक्षा की गई है।

(१७) निदर्शनालंकार। दो वाक्यों के अर्थों में विभिन्नता रहते हुए भी समता दिखलाना निदर्शना है। निदर्शना का अर्थ दृष्टान्त है। इस अलंकार में दृष्टान्तरूप में अपने कार्य्य की उपमा दिखलाई जाती है। इसके चार भेद हैं :—

(क) प्रथम निदर्शना। दो असम वाक्यों के अर्थों की एकता जो, सो, जे, ते आदि शब्दों के द्वारा दिखलाना प्रथम निदर्शना है; जैसे—'सुनु खगेस हरि-भक्ति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिन्धु विनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़ करनी।

(ख) द्वितीय निदर्शना। इसमें उपमान के गुण को उपमेय धारण करता है; जैसे—'सिय मुख ससि भए नैन चकोरा।' यहाँ उपमान चन्द्रमा के गुण को उपमेय सीता-जी का मुख और चकोर के गुण को रामचन्द्र के नेत्र धारण करते हैं।

(ग) तृतीय निदर्शना। यह द्वितीय निदर्शना की उलटी होती है; अर्थात् इसमें उपमेय के गुण को उपमान धारण करता है; जैसे—तव मूरति विधु उर बसति, सोइ स्यामता भास।' यहाँ रामचन्द्र की मूर्त्ति (उपमेय) की श्यामता (गुण) चन्द्र का कलंक (उपमान) धारण करता है।

(घ) चतुर्थ निदर्शना। इसमें अपने अनुभव से दूसरे को उपदेश दिया जाता है; जैसे—दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर अजहुँ सीय पिय देहु। कृपा-सिन्धु रघुनाथ भजि, नाथ विमल

जस लेहु ॥ यहाँ मन्दोदरी अपने अनुभव से रावण को उपदेश दे रही है।

(१८) तुल्ययोगिता अलंकार। जहाँ कई वस्तुओं में एक ही धर्म्म का कथन किया जाए वहाँ यह अलंकार होता है: जैसे—'सब कर संसय अरु अज्ञानू' से लेकर 'चढ़े जाए सब संग बनाई' तक पढ़ जाइए। यहाँ संसय आदि अनेक वस्तुओं में एक ही धर्म्म 'चढ़े जाए' कथन किया गया है।

(१९) दीपक अलंकार। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक ही धर्म्म के कथन का नाम दीपक अलंकार है: जैसे—'सरिस स्वान मघवान जुवानू'। यहाँ प्रस्तुत इन्द्र और अप्रस्तुत श्वान् और युवन् का एक ही धर्म्म कहा गया है। तुल्ययोगिता और दीपक में यह अन्तर है कि तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों का अथवा केवल उपमानों का एक ही धर्म्म कहा जाता है। और दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म्म कहा जाता है।

(२०) प्रतिवस्तूपमालंकार। उपमेय और उपमान के पृथक्-पृथक् दो वाक्यों में एक ही समान धर्म्म शब्द-भेद द्वारा कहने को प्रति वस्तूपमालंकार कहते हैं: जैसे—'तिनहिं सुहायन अवध बधावा। चोरहिं चाँदनि राति न भावा॥' यहाँ पहला उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य है। दोनों में एक ही समान धर्म्म 'अच्छा नहीं लगना' भिन्न शब्दों ('सुहायन' और 'न भावा') के द्वारा कहा गया है।

(२१) दृष्टान्तालंकार। जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य और उनके धर्म्म भी पृथक्-पृथक् कहे जाएँ वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है; जैसे—'टेढ़ जानि शंका सब काहू। वक्र चन्द्रमा ग्रसै न राहू।' यहाँ उपमेय वाक्य का

धर्म्म 'शंका सब काहू' शब्द-समूह के, और उपमान वाक्य का धर्म्म 'ग्रसै न राहु' शब्द-समूह के द्वारा पृथक्-पृथक् कहे गए हैं। प्रतिवस्तूपमा में केवल एक ही धर्म्म शब्द-भेद द्वारा दोनों वाक्यों में कहा जाता है। और दृष्टान्त में भिन्न-भिन्न धर्म्म भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा दोनों वाक्यों में कहे जाते हैं। यहाँ दोनों में अन्तर है। पण्डितराज का मत है कि दोनों को एक ही अलंकार के दो भेद कहने चाहिए।

(२२) व्यतिरेकालंकार। उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता वा निकृष्टता दिखाने को व्यतिरेकालंकार कहते हैं; जैसे (उत्कृष्टता)—'जिनके जस प्रताप के आगे। ससिमलीन रवि सीतल लागे॥' यहाँ उपमान चन्द्र और सूर्य की अपेक्षा उपमेय यश की उत्कृष्टता दिखाई गई है। पुनः (निकृष्टता)–कहउँ नाम बड़ राम ते, निज विचार अनुसार।' यहाँ उपमान 'नाम' की अपेक्षा उपमेय 'राम' की निकृष्टता दिखाई गई है। इस अलंकार को प्रतीप के एक भेद से भिन्न मानना व्यर्थ-सा जान पड़ता है। एक विद्वान् ने "जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष....... चन्द्र वापुरो रंक", इस एक ही दोहे को पंचम प्रतीप और व्यतिरेकालंकार, दोनों का उदाहरण माना है। कारण यह है कि दोनों में उपमान की अपेक्षा उपमेय में उत्कर्ष पाया जाता है। वस्तुतः कभी-कभी अलंकारों में भेद बतलाना कठिन हो जाता है। अतः अच्छा तो यह होता कि सदृश दीखनेवाले अनेक अलंकारों को किसी एक ही मूल अलंकार के उपभेद मान लिया जाता।

(२३) विरोधाभास अलंकार। द्रव्य, क्रिया, गुण अथवा जाति में विरोध की प्रतीति जिससे हो वह विरोधाभास अलंकार है; जैसे—'कबहूँ योग वियोग न जाके। देखा प्रगट विरह

दुख ताके', 'गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव-बेस सिव-धाम कृपाला', इत्यादि। व्याख्या सरल है, अतः नहीं दी गई।

(२४) व्याजस्तुति अलंकार। निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति करने को व्याजस्तुति कहते हैं; जैसे—'नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवन भिखारी॥' यहाँ नारद की प्रत्यक्ष निन्दा द्वारा उनकी प्रशंसा की गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो नारद की शिक्षा मानते हैं वे अवश्य संसार से विरक्त हो जाते हैं।

(२५) व्याज निन्दालंकार। स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा करने का नाम व्याज निन्दालंकार है; जैसे—'धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। नाचहिं जहँ तहँ परिहरि लाजा॥' यहाँ वानरों की प्रत्यक्ष प्रशंसा द्वारा उनकी निन्दा की गई है।

(२६) कारणमालालंकार। पूर्व पूर्व कहे हुए पदार्थ, जहाँ उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के कारण कहे जाएँ, वहाँ कारण मालालंकार होता है; जैसे—बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद, होए न दृढ़ अनुराग॥ इत्यादि।

(२७) काव्यलिंगालंकार। जहाँ किसी कही हुई बात का, स्पष्ट हेतु अथवा प्रमाण देकर, समर्थन किया जाए वहाँ काव्य-लिंगालंकार होता है; जैसे—रचि महेस निज मानस राखा। पाय सुसमय सिवासन भाखा॥ तातें रामचरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥ यहाँ 'रामचरित मानस' का यह नाम पड़ने का स्पष्ट हेतु बताकर उसका समर्थन किया गया है।

(२८) अर्थान्तरन्यासालंकार। सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन करना अर्थान्तरन्यास है; जैसे (सामान्य का विशेष से)—'सठ सेवक की प्रीति रुचि,

रखिहहिं रामकृपालु। उपल किए जल जान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु॥' पुनः विशेष का सामान्य से—'तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥

अलंकार-निरूपण इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय नहीं है कि सभी प्रकार के अलंकारों तथा उनके विविध भेदोपभेदों पर विचार किया जाए; अतः केवल मुख्य-मुख्य अलंकारों के लक्षण बता और उनके उदाहरण 'मानस' से उद्धृतकर इस विषय को यहाँ समाप्त कर दिया जाता है।

(ग) रस-निरूपण—साहित्य की सौन्दर्य-वृद्धि में अलंकारों की तरह ही रस सहायता करते हैं। 'रामचरित-मानस' एक काव्य-ग्रन्थ है और काव्य का रसात्मक होना अनिवार्य है; अन्यथा वह काव्य नहीं है; क्योंकि लिखा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्य-दर्पण) अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अतः 'मानस' के सम्बन्ध में रसों का निरूपण करना जरूरी हो गया।

रस क्या है? किसी घटना विशेष को देखने, वा किसी वर्णन विशेष को सुनने, किंवा उन पर मनन करने से मनुष्य के अन्तःकरण में जो विकार उत्पन्न होता है उसे भाव कहते हैं। भावों का अविच्छिन्न प्रवाह ही रस है। भावों की विभिन्नता समझकर ही रसों का भेद-निरूपण किया जाता है। रस नौ हैं जैसा कि साहित्य दर्पण में लिखा है—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः। वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः (३।२०६)। अर्थ—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत ये ८+१=६ रस हैं।

(१) शृङ्गार-रस। 'शृङ्ग' शब्द का अर्थ है काम का उद्रेक, और 'आर' शब्द का अर्थ है आगम; अतः जिससे कामोद्रेक का आगम हो वह शृङ्गार है। यही सभी रसों का राजा समझा जाता है। आधुनिक कवि इस रस से उदासीन से देख पड़ते हैं। पर प्राचीन और मध्य-कालीन कविगणों ने इस रस का प्रयोग उच्छृंखलता से किया है। गोसाईंजी ने भी जहाँ तहाँ अपनी कृतियों में इस रस का प्रयोग किया है; पर शिष्टता की मर्य्यादा का उल्लंघन उन्होंने कहीं पर भी नहीं किया है। 'मानस' के नायक और नायिका का प्रथम परस्पर साक्षात्कार जनक की फुलवारी में होता है। गोसाईंजी ने दोनों के हृद्गत भावों का जिस संयत भाषा में वर्णन किया है वह देखने योग्य है।

(२) हास्य-रस। विकृत आकार, वाणी, वेश, चेष्टा आदि को देखने से यह उत्पन्न होता है। 'नारद-मोह' और 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद' इसके अच्छे नमूने हैं।

(३) करुण-रस। इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण-रस की उत्पत्ति होती है। राजा दशरथ की मृत्यु, सीता-हरण और लक्ष्मण-मूर्च्छा पर रामचन्द्र का विलाप, राम वन गमन आदि घटनाएँ इस रस से ओत-प्रोत हैं।

(४) रौद्र-रस। क्रोध और आवेश के अवसर पर जिस रस का प्रादुर्भाव हो वह रौद्र रस है। शत्रु की चेष्टा, मानभंग, अपकार, गुरु जनों की अवहेलना आदि से क्रोध और आवेश के साथ इस रस की उत्पत्ति होती है। रामचन्द्र की उपस्थिति में राजा जनक के 'वीर विहीन मही मैं जानी', ऐसा कहने पर लक्ष्मण का उन पर आग बबूला होना तथा भरत के सेना के साथ चित्रकूट आने पर उन्हें रामचन्द्र का शत्रु समझकर उन्हें

रण-भूमि में शत्रुहन् के साथ सुला देने की प्रतिज्ञा लक्ष्मण का करना रौद्ररस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(५) वीर-रस। जिस रस का प्रादुर्भाव अत्यन्त उत्साह से होता है वह वीर रस है। 'मानस' के अरण्यकाण्ड में खरदूषण का रामचन्द्र के साथ युद्ध वर्णन करनेवाला तोमर छन्द जो 'तब चले बान कराल' से शुरू होकर 'कटकटहिं कठिन कराल' पर जाकर समाप्त होता है, वीर रस से भरा है।

(६) भयानक-रस। किसी भयंकर वस्तु, घटना वा परिस्थिति के वर्णन से भयानक रस का प्रादुर्भाव होता है। 'मानस' के लंकाकाण्ड में राम-रावण-युद्ध-सम्बन्धित 'भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति' वाला छन्द इस रस का एक अच्छा उदाहरण है।

(७) वीभत्स-रस। रुधिर, आँत आदि घिनौनी वस्तुओं के वर्णन वा दर्शन से इस रस की उत्पत्ति होती है। 'मानस' के अरण्य काण्ड में खर-दूषण-युद्ध-सम्बन्धित 'कटकटहिं जम्बुक भूत प्रेत' वाला छन्द पढ़िए।

(८) अद्भुत-रस। किसी आश्चर्य-जनक तथा विचित्र वस्तुओं के दर्शन वा वर्णन से इस रस का प्रादुर्भाव होता है। गोसाईं जी ने सती-कृत राम-परीक्षा में इस रस की एक अच्छी बानगी दिखाई है।

(९) शान्त-रस। तत्व ज्ञान और वैराग्य से शान्त रस उत्पन्न होता है; जैसे—'मन से सकल वासना भागी। केवल राम चरण अनुरागी', 'देह धरे का यह फल भाई। भजिए राम सब काम विहाई', 'एहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई', 'नर तनु पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥ इत्यादि।

'रामचरित मानस' से उद्धृत कर ऊपर दिए हुए मुख्य-मुख्य अलंकारों तथा नवों रसों के उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से पाठकों को यह बात भली-भाँति मालूम हो जाती है कि गोसाईंजी ने अपनी उक्त रचना-रमणी को सर्वाङ्ग सुन्दर तथा भुवन मोहिनी बनाने में कोई दकीका उठा नहीं रखा है। आप प्रकृति देवी के अनन्य भक्त भी थे और उसके रूप-माधुरी पर जी-जान से लट्टू हो रहे थे। आपने उस देवी के अक्षय्य सौन्दर्य भंडार से तरंगाकुल सरिताओं, सुदूर विस्तृत अथाह सागरों, प्रशान्त झीलों, पुष्पस्तवक विनम्र लताओं, सुस्वाद फल भार नत मस्तक वृक्षपँक्तियों, गगन चुम्बिनी गिरि-श्रेणियों तथा क्षितिज परिवेष्ठित वनराजियों की अनुपम छटाओं का संग्रह कर और उन्हें अपनी प्रखर-प्रतिभा के खराद पर चढ़ा और भी चमत्कारिणी बना कर 'मानस'-महाकाव्य में यथा-स्थान समाविष्ट कर दिया है। जहाँ पर जिस अलंकार की जरूरत दीख पड़ी वहाँ पर आपने उसी अलंकार के उन्माद्क झंकार से पाठकों को बेसुध-बुध कर दिया है। और रसों का तो कुछ कहना ही नहीं है! आपने सभी रसों की सुधा धाराएँ अप्रतिहत गति से बहाकर और अपने पाठकों को एक अनिर्वचनीय आनन्द के महासागर में ले जाकर उन्हें बिना डुबोए नहीं छोड़ा है।

अथ पञ्चम परिच्छेद

मानस के दोष

चतुर्थ परिच्छेद में प्रस्ताव कर आया हूँ कि पञ्चम परिच्छेद में 'मानस' के दोषों पर विचार किया जाएगा; क्योंकि वही सच्ची तथा निष्पक्ष समालोचना है जिसमें आलोचनाधीन वस्तु के गुणों के साथ-साथ उनके दोषों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जाए। गोसाईंजी की रामायण में भला दोष! यह सुनकर उनके कितने अन्ध भक्त इस दोषोद्घाटन को एक पाप-कथा समझकर चौंक उठेंगे और अपने दोनों कर्ण-कुहरों में उँगली ठूस लेंगे ताकि वह सुन न पड़े। गोसाईंजी तो अपने अन्ध भक्तों से भी कहीं अधिक चौकन्ने थे। अंगरेजी में कहावत है Guilty mind is always suspicious। इसका आक्षरिक हिन्दी अनुवाद है—अपराधी मन सदा शंकित रहता है। उक्त अंगरेजी कहावत का हिन्दी रूपान्तर (न कि आक्षरिक अनुवाद) है—चोर की दाढ़ी में तिनका। गोसाईंजी भली-भाँति जानते थे कि उन्होंने अपनी रामायण में बड़ी-बड़ी धाँधलियाँ मँचा रखी हैं। एक समय ऐसा भी आएगा जब कि इस रामायण को समालोचकों की निष्ठुर लेखनी के प्रचण्ड प्रहारों का सामना करना होगा। इसी भय से उन्होंने, जैसा कि मैं प्रथम परिच्छेद में कह आया हूँ, अपने भावी समालोचकों को पहले से ही (In anticipation) गालियाँ सुना दी हैं जिसमें वे उनकी रामायण के विरुद्ध अपनी

लेखनी उठाने का साहस न कर सकें। पर सच्चे समालोचक इस सारहीन धर्म की (Empty threat) का जिसे गीदड़-भभकी भी कह सकते हैं, कब परवाह करनेवाले हैं? वे अवश्य ही मानस के दोषों का विना उद्घाटन किए नहीं छोड़ेंगे। अब तक जितने समालोचकों ने इस अद्भुत ग्रन्थ पर अपनी लेखनी उठाइ है, वे सब के सब इसकी खूबियों की चकाचौंध में पड़कर अपने नेत्रों की ज्योति इस प्रकार खो बैठे हैं कि वे इसकी त्रुटियों को देख ही नहीं सके हैं; अतः उनकी समालोचना निष्पक्ष तथा परिपूर्ण नहीं कही जा सकती। फलतः यह आवश्यक हो गया कि इस ग्रन्थ की समालोचना बहुत ही सावधानी से की जाए जिसमें इसकी खूबियों के साथ-साथ इसकी त्रुटियाँ भी दिखाई जा सकें; अन्यथा वह निष्पक्ष और परिपूर्ण नहीं होने से कौड़ी काम की न होगी और जनता इस ग्रन्थ का वास्तविक मूल्य आँकने में सदा असमर्थ रहेगी।

इस ग्रन्थ के दोषों पर पाँच शीर्षकों के आधीन विचार किया जाएगा—(१) रामचन्द्र को परमात्मा का अवतार मानना; (२) राम-नाम जपने का तथाकथित माहात्म्य; (३) 'मानस' के पठन तथा श्रवण का फल; (४) गोसाईंजी का स्त्री-द्वेष और (५) गोसाईंजी का ब्राह्मण-पक्षपात और शूद्र घृणा।

(१) रामचन्द्र को परमात्मा का अवतार मानना— गोसाईंजी एक कट्टर अवतारवादी थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब परमात्मा मानवादि भौतिक प्राणियों का रूप धारण कर अधर्म्मियों का उच्छेद पूर्वक धर्म्म का पुनः संस्थापन करता है। रावणादि राक्षस ऐसे ही

अधर्मी जीव थे जिनका संहार करने के लिए रामावतार हुआ था। जैसा कि मैं तृतीय परिच्छेद में कह आया हूँ, महर्षि वाल्मीकि तो रामादि भ्रातृ-चतुष्टय को विष्णु के ही अंशावतार मानते हैं; पर गोसाईंजी के राम विष्णु के नहीं; प्रत्युत साक्षात् परमब्रह्म परमात्मा के ही मानव-रूप हैं। यहाँ पर इस विवाद को छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस विश्व का संचालन करनेवाली ईश्वर वा ब्रह्म वा परमात्मा नामक कोई चेतन सत्ता है कि नहीं; अथवा वह प्रकृति के अनादि और अनन्त एवं अटल नियमों के द्वारा नियंत्रित होकर स्वतः चल रहा है। बल्कि यहाँ पर परमात्मा की सत्ता मानकर ही अवतारवाद पर विचार हो रहा है; अथवा यों कहिए कि यदि परमात्मा है तो क्या यह मानने योग्य बात है कि वह एक साधारण संसारी जीव की तरह माता के गर्भ में आकर जन्म ग्रहण कर सकता है और जन्म लेकर और कुछ काल तक सांसारिक कार्य्यों में व्यस्त रहकर पुनः अपने रूप में लीन हो जाता है। गर्भ का नाम सुनकर रामचन्द्र के कितने अन्ध-भक्त चौंक उठेंगे। पर उनके चौंक उठने की कोई जरूरत नहीं, कारण कि अन्य रामायण-कारों की तरह गोसाईंजी भी अग्नि-प्रदत्त दिव्यचरु के भक्षण से दशरथ की सभी रानियों का गर्भ रह जाना मानते हैं—

एहि विधि गर्भ सहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सब नारी॥
जा दिन ते हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥

इस उद्धरण में 'जा दिन ते हरि गर्भहि आए', इस वाक्य से स्पष्ट है कि परमात्मा कौशल्या के गर्भ में आ गए। यदि ऐसी बात है तो तुलसी का परमात्मा अथवा यों कहिए कि उसके अवतार रामचन्द्र एक साधारण संसारी जीव हैं जिनका, जन्म

लेने के कारण, मरण होना अनिवार्य्य है तथा जिनका मानव-योनि-सुलभ त्रुटियों से मुक्त रहना असंभव है। और बात भी यही सच्ची है, जैसा कि तृतीय परिच्छेद में रामचन्द्र का चरित्र-चित्रण करते दिखाया गया है। इन त्रुटियों को देखते हुए कौन ऐसा अक़्ल का दुश्मन होगा जो रामचन्द्र को एक संसारी जीव न मान कर उनको परमात्मा समझ बैठेगा। इस दशा में गोसाईंजी का परमात्मा को शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किए हुए चतुर्भुज रूप में कौशल्या देवी के सामने पेश करना, पुनः उस देवी की प्रार्थना पर परमात्मा का बालक-रूप धरकर रोने लगना, जैसा कि 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला' वाले छन्द में वर्णित है, सिवा चंडूखाने के एक महागप्प के और कुछ नहीं। और यदि परमात्मा को बिना किसी स्त्री के गर्भ में ढकेले हुए ही उसे बालक बना कर रुलाना गोसाईंजी का अभीष्ट था तो कौशल्या से दस महीनों तक गर्भ-भार ढोलवाने का स्वांग रचने की आवश्यकता ही क्या थी ?

सच्ची बात तो यह है कि रामचन्द्र परमात्मा वा किसी अन्य देवता के अवतारादि कुछ भी न थे। वे एक मनुष्य थे और अन्य मनुष्यों की तरह मानवजाति सुलभ कमज़ोरियों से खाली न थे। अन्य दलीलों से भी सिद्ध किया जा सकता है कि न परमात्मा का अवतार ही होता, न रामचन्द्र ही उसके अवतार थे। रामावतार होने का यह कारण बताया जाता है कि रावणादि राक्षसों के उपद्रवों से देवगण तथा धरणी देवी व्याकुल हो गईं थीं, अतः उनके उद्धारार्थ ही परमात्मा को मनुज रूप धारण करना पड़ा। पर तृतीय परिच्छेद में स्वयं गोसाईंजी के ही लेखों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि देव-गण राक्षसों से किसी प्रकार अच्छे नहीं थे।

आपने ही उन्हें कुचाली, चोर, नीचबुद्धि; डाही, स्वार्थी आदि घृणित विशेषणों से याद किया है और उनके सिरताज इन्द्र को तो कुत्ते और काक तक की उपमा से भी विभूषितकर डाला है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन त्रिदेवों, एवं देव-गुरु वृहस्पति तथा उनके चेले चन्द्रादिकों का पतन-वृत्तान्त तो अलग है जिसे सुनकर शरीर सिहर उठता और आत्मा काँप उठती है। अतः देवताओं जैसे गिरे जीवों की रक्षा के लिए परमात्मा का अवतीर्ण होना विश्वास-योग्य नहीं प्रतीत होता। यदि वह ऐसे जीवों का पक्ष लेकर अवतार लिया करे तो वह परमात्मा नहीं।

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि परमात्मा भले ही देवताओं का पक्ष लेकर अवतीर्ण न हो; पर वह तो ब्राह्मणों, साधु-सन्तों तथा गौओं की रक्षा के निमित्त अवश्य अवतार लेता है। पर प्रतिवादी की इस दलील में भी कुछ सार नहीं है; कारण कि इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। महमूद गज़नवी ने इस अभागे भारत पर सत्रह चढ़ाइयाँ कर न मालूम कितने शहरों और गावों को जलाकर भस्म कर दिया; कितना अपार धन यहाँ से लूट-खसोटकर ले गया; कितने निरीह तथा निरस्त्र भारतवासियों को कुत्तों और बिल्लियों की तरह तलवार के घाट उतारकर उन्हें यम-धाम पिठाया; कितने देवमन्दिरों की जड़ खुदवा कर उन्हें धराशायी बनाया; कितनी देव मूर्त्तियों को अपने हथौड़ों से चकना-चूरकर उन्हें अपने पैरों से कुचला; प्राणों से भी अधिक प्रिय अपने धर्म्म की रक्षा में लगे हुए कितने साधु-सन्तों, पण्डे-पुजारियों, ब्राह्मण-तपस्वियों का कत्ले आम किया; पर उसके इन विविध अत्याचारों को देखते हुए भी हिन्दुओं के तथा कथित दीन-बन्धु

तथा जन भयहारी परमात्मा के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी; उनका अवतार लेना तो दूर रहा। गज़नवी को किसी शत्रु ने नहीं मारा; बल्कि वह अपनी प्राकृतिक मृत्यु से ही मरा।

यह तो हुआ एक कलियुगी तथा ऐतिहासिक दानव की लीलाओं का वर्णन, जिसकी क्रूर क्रीड़ाओं का स्थल केवल विचारी भारत-वसुन्धरा थी। पर इस कलिकाल में महमूद से भी बढ़कर घोर दानव हो गए हैं जिनकी क्रूरता के सामने महमूद की क्रूरता फीकी पड़ जाती है तथा जिन्होंने अपने रक्तमय अत्याचारों से धरणी देवी के वक्षःस्थल को अनेक बार प्रकम्पित कर दिया है। ये थे हून-सर्दार अटिला और मुगल-सरदार चंगेज़ खाँ। कहते हैं कि अपने-अपने ज़माने में इनके नाम सुनते ही मध्य एशिया से लेकर मध्य यूरोप तक के लोग थर्रा उठते थे। जहाँ गए तहाँ बस्तियों को उजाड़ कर जला देना, लूट लेना तथा वहाँ के निवासियों को या तो कत्लकर देना या तो दास-दासी बना लेना इनका एकमात्र काम था। अटिला कहा करता था कि जहाँ वह पहुँच जाता वहाँ की घास भी नहीं उगने पाती। पर ऐसे भयानक तथा वीभत्स नर-पिशाचों का वध करने के लिए किसी रामचन्द्र का अवतार नहीं हुआ। संभवतः उस काल में परमात्मा कुंभकर्णी निन्द्रा में खर्राटे ले रहा था।

गो-वंश की करुण-कहानी तो इससे भी अधिक दारुण है। जब तक भारत में शासन की बागडोर हिन्दुओं के हाथ में रही तब तक गो-वंश का कुशल रहा, क्योंकि हिन्दू गो-जाति को अति ही पूज्य दृष्टि से देखते और उसे किसी प्रकार की स्वल्प से भी स्वल्प हानि पहुँचाना महापाप समझते हैं, उनका गो-

बध करना तो दूर रहा। गो-बध का तो नाम सुनते ही उनकी अन्तरात्मा काँप उठती है और अपनी जान हथेली पर रखकर वे गौ-माता की जान बचाने के लिए सदा कटि-बद्ध रहते हैं। हिन्दुओं का गो-जाति के प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति दिखलाने का कारण केवल उनका धार्म्मिक अन्ध विश्वास नहीं है, प्रत्युत यह पशु जाति इतनी उपयोगी है कि इसकी रक्षा प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह किसी भी धर्म्म का अनुयायी क्यों न हो, करनी चाहिए। पर शोक है कि गो-वंश के बुरे दिन तभी शुरू हो गए जब से गोमांस लोलुप मुसल्मानों और इसाइयों का शुभ पादार्पण इस पवित्र भारत-भूमि में हुआ। लगभग एक हजार वर्ष से भारत का शासन हिन्दुओं के हाथ में नहीं है और तभी से गो-वंश का ह्रास होना जारी है और यह ह्रास इस द्रुतगति से दिनों-दिन बढ़ रहा है कि अजब नहीं कि कुछ काल में इस उपयोगी पशु-जाति का उच्छेद (Extinction) हो जाए। एक समय था जब भारत में दूध और घी की नदियाँ बहती थीं; पर आज जीवन-धारण के लिए परमावश्यक ये दोनों ही पदार्थ दुष्प्राप्य हो गए। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि युद्ध-काल की तो बात ही न्यारी है; शान्ति-काल में भी इसाइयों और मुसल्मानों की उदर पूर्त्ति के लिए प्रति दिन इतनी हृष्ट-पुष्ट गाएँ काटी जा रही है कि जिनका लेखा लेना मुश्किल है। बूचड़-खानों के वीभत्स दृश्य की कल्पना करते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गो-रक्त-रंजित बूचड़ खानों के लालफर्श पर मुहं बा, जीभ बाहर निकल और दाँत खिसोड़ कर छटपटाती हुई गौओं की खून-लथपथ लाशों को देखकर निर्दयता के हृदय में भी दया का संचार होता होगा; पर हिन्दूओं के गोसुर-विप्र-सन्त-हितकारी महाप्रभु को लम्बी तान कर सोने से फुर्सत

कहाँ! यह तो लीला है शान्ति-काल का। अब जरा युद्ध-काल का हाल सुनिए।

यों तो कई लाख ब्रिटिश-सैनिक भारत में पहले से ही विद्यमान थे जिनकी खुराक के लिए न मालूम कितनी गौएं प्रति-दिन कटती थीं। पर जब से गत विश्वव्यापी महासमर शुरू हुआ, जो ई० स० १६३६ से ई० स० १६४५ तक, अर्थात् छः वर्सों तक चलता रहा, लाखों की संख्या में अमरिकन और कैनेडियन सैनिक भारत में आ गए, जिनका भी पेट गो-मांस से भरना भारत को लाजिम हो गया। अब यदि आप कल्पना करना चाहें कि इन कई लाख गोरों की क्षुधा-तृप्ति के लिए कितनी गौओं के गले पर नित्य छुरी फिरती होगी तो आप कभी भी कल्पना नहीं कर सकते। इतनी संख्या में गौएँ कट गईं कि उनका प्रायः अभाव सा हो गया है। इसका फल यह हुआ है कि रुपए के दो सेर भी माँगने पर खाँटी दूध नहीं मिलता। भैंस के भी दूध-घी का यही हाल जानिए। गो-वंश का इस द्रुतगति से संहार होते देख किसी भगवान् का हृदय नहीं पसीजता। क्या पाप का घड़ा अभी भरा नहीं है? क्या गोवंश पर इससे भी अधिक अत्याचार होगा तब कहीं जाकर उनकी रक्षा के लिए भगवान् प्रगट होंगे? कहाँ गईं वे पृथ्वी माताजी प्रायः गोरूप धारणकर अपना दुखड़ा सुनाने के लिए ब्रह्मा बाबा के यहाँ जाया करती थीं? क्या गो-वंश के समूलोच्छेद होने पर ही भगवान् प्रगट होंगे? रोगी के काल-कवलित होने पर ही यदि डाक्टर आया तो उसका आना और नहीं आना दोनों बराबर हैं। अतः अटिला, चंगेजखाँ आदि घोर कलियुगी राक्षसों की अमानुषिक प्रलय लीलाओं तथा गो-वंश के द्रुतगति से किए जाते हुए हृदय-विदारक संहार

पर निष्पक्ष तथा शान्त हृदय से विचारने पर तो यही जान पड़ता है कि औतारवाद केवल एक गपोड़ावाद है जो अन्ध-विश्वासियों के भ्रान्त मस्तिष्क की उपज मात्र है। रावण शिव-जी का अन्नय भक्त था। पर आश्चर्य्य तो इस बात पर है कि रावण जैसे शिवजी के अन्नय भक्त का नाती-पूत-समेत संहार करने के लिए तो रामावतार हुआ, पर सोमनाथ तथा विश्वनाथ जैसे दो जगत्प्रसिद्ध शैव धामों को भरपेट अपमानित तथा दूषित करनेवाले क्रमशः महमूद गज़नवी तथा औरंगज़ेब जैसे शिव द्रोहियों का किसी ने बाल तक भी बाँका न किया। विक्षिप्त हिन्दुओं द्वारा शिव के अवतार माने जानेवाले मरहट्टा-सरदार शिवाजी ने जो औरंगज़ेब के साथ थोड़ी-बहुत छेड़-खानी की थी उसका मूल्य उनके पुत्र शंभूजी को अपने खून से चुकाना पड़ा। इसी को कहते हैं-लेने के बदले देने पड़े ? क्या प्रभु की लीलाएँ ऐसी ही ऊटपटाँग हुआ करती हैं ?

पाठक वृन्द ! पुनः एक बार 'मानस' की पोथी अपने हाथ में लीजिए और उसे ध्यान से पढ़िए। आप देखेंगे कि गोसाईं-जी ने रामचन्द्र का ईश्वरावतार होना यों ही चलते-चलते अन-चित्ते में वा संयोग-वश (By chance) नहीं लिख मारा है, बल्कि जान-बूझकर तथा अपने विश्वासानुसार खूब सोच-समझकर ही लिखा है, सो भी एक-आध बार नहीं, बल्कि अनेकों बार, अथवा यों कहिए कि जब कभी उन्हें वैसा लिखने का मौका मिला तभी वैसा लिखने से बाज नहीं आए हैं। फल यह हुआ है कि आपने अपने अवतारवाद के इस कील को अपने पाठकों के मस्तिष्क में अपनी प्रौढ़ लेखनी के हथौड़े से बार-बार ठोकते और धँसाते चले गए हैं, यहाँ तक की यह कील रामचन्द्र के अन्ध भक्तों के मस्तिष्क में इतना नीचे चला गया है कि उसका

उन्मूलन करना असंभव सा हो गया है। मैंने, अशिक्षितों और गँवारों को कौन कहे, बड़े-बड़े एम० ए० बी० ए० आदि उपाधि-धारियों को, जिनमें कितने वकील तथा कितने उच्च पदस्थ राज कर्म्मचारी हैं, रामचन्द्र की पाषाण प्रतिमा के सामने 'मानस' की चौपाइयों का गान तथा तालों बजा-बजाकर नाचते हुए देखा है। ये लोग रामचन्द्र और अपने में क्रमशः पति-पत्नी का भाव मानते हैं हिन्दू जाति का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है! इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि अट्ठारहों पुराणों तथा उतने ही उपपुराणों ने उतना अन्धविश्वास नहीं फैलाया जितना अन्धविश्वास गोसाईंजी कृत इस रामायण ने अकेले फैलाया है।

इस प्रसंग में एक और बात भी विचारने योग्य है। गोसाईंजी ने रामचन्द्र की बड़ाई करते-करते उन्हें सातवें आसमान पर चढ़ा दिया। और वहाँ लेजा कर आपने अपने राम को परमात्मा के पद पर अभिषिक्त कर दिया। पर अफ़सोस इस बात का रह गया कि परमात्मा के पद के ऊपर कोई दूसरा पद नहीं होता, नहीं तो आप अपने राम को बिना उस पर बैठाए नहीं छोड़ते। पर रामचन्द्र के ऊपर ईश्वरत्व का बनावटी खोल गोसाईंजी के बार-बार ओढ़ाते रहने पर भी, 'उघरे अन्त न होहिं निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू', आपके ही इस वचन को चरितार्थ करता हुआ आपके इष्टदेव के कपोल-कल्पित ईश्वरत्व का भंडा-फोड़ तभी हो जाता है, उसकी मुरादाबादी कलई तभी खुल जाती है जब राम की मानवोचित दुर्बलताएँ, दबाने के लाख यत्न करने पर भी उनके आचरण से आपसे आप फूट निकलती हैं। पर गोसाईंजी अपने खेल के कच्चे खेलाड़ी नहीं हैं। वे अति ही प्रत्युत्पन्न मति

हैं। उनकी विलक्षण सूझ है। वे बखूबी जानते हैं कि किस समय किस युक्ति से अपने चरित-नायक की रक्षा करनी चाहिए। ज्योंही उन्होंने देखा कि रामचन्द्र अपनी स्वाभाविक कमजोरियाँ दिखा कर अपने नकली ईश्वरत्व का पर्दा फ़ाश करना चाहते हैं त्यों ही वे यह कहकर उन पर पुनः पर्दा डाल देते हैं कि भगवान् यह सब 'नर-लीला' कर रहे हैं। बस, इतना कहा कि रामचन्द्र के अन्ध भक्तों की कुछ-कुछ खुलती हुई आखों में पुनः धूल जा पड़ती है और रामचन्द्र विषयक सभी शंकाओं का तत्काल समाधान हो जाता है। सीता-हरण हो गया है और रामचन्द्र प्रिया-वियोग के असह्य आघात के कारण विक्षिप्त होकर राह में जो भी मिल जाता है उसीसे सीता-विषयक जिज्ञासा कर बैठते हैं। विक्षिप्तता की दशा में उनको इस बात की तमीज़ नहीं है कि मैं जिससे सीता का पता पूछ रहा हूँ वह जड़ है वा चेतन; मनुष्य है वा पशु। लक्ष्मण का सभी समझाना बेकार हो जाता है—

चौ०—लछिमनु समझाए बहु भाँती। पूछन चले लता तरु पाँती।
हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी॥
इत्यादि।

अपने इष्टदेव को इस प्रकार आप से आप अपना भंडा-फोड़ करते देख गोसाईंजी चट दौड़ कर उन पर 'नर-लीला' वाला पर्दा डाल देते हैं—'पूरन काम राम सुख-रासी। 'मनुज-चरित' कर अज अविनासी॥'

अपनी सीता-वियोग-जन्य-विक्षिप्तता का हाल स्वयं रामचन्द्र ने ही उनसे कहा है जब वे पुष्पक पर चढ़कर उनके साथ लंका से वापस आ रहे थे। रघुवंश, सर्ग १३ पढ़िए—

इमां तटा शोकलतां चतन्वीं स्तनाभिरामस्तवकभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा सा श्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥

अर्थ—पंपातटस्थ अशोक-वृक्ष पर चढ़ी हुई इस पतली को, जो स्त्रियों के स्तन जैसे सुन्दर-सुन्दर फूलों के दो के भार से झुक गई है, तुम मिल गई इस बुद्धि से. जब जिसकी आखों में आँसू छलछला रहे थे, आलिंगन करने का हुआ तो लक्ष्मण ने मुझे मना किया।

रामचन्द्र तो अपनी सारी जिन्दगी 'नर-लीला' ही करते रह गए। उन्होंने 'ईश्वर लीला' कब की जो उनको ईश्वरावतार मान लिया जाए? और यदि उनको 'नरलीला' ही करना अभीष्ट था तो उनको उचित था कि वे एक आदर्श 'नर-लीला' करते। पर जैसा कि तृतीय परिच्छेद में उनका चरित्र-चित्रण करते समय दिखाया गया है, वे अपने आचरणों से वैसा आदर्श स्थापित नहीं कर सके। निरपराध शूर्पणखा की नाक-कान कटवा लेना, वाली को व्याध की तरह मार डालना, सुग्रीव और विभीषण के पाप कर्म्म पर आँखें मूँद लेना, सती सीता का परित्याग करना आदि उनके ऐसे काले कारनामे हैं जो उनके 'नरलीला' में बट्टा लगा देते हैं। और सब से अचंभे की तो बात यह है कि रामचन्द्र ने स्वयं कहीं और कभी भी ईश्वरत्व का दावा नहीं किया। पर गोसाईं जी उनके ईश्वरावतार होने का डंका बराबर पीटते रहे। इसी को कहते हैं 'मुदई सुस्त और गवाह चुस्त'।

(२) राम-नाम जपने का माहात्म्य—राम-नाम जपने का तथाकथित माहात्म्य। गोसाईं जी के विचार से राम-नाम की महिमा अपार है। आपने राम-नाम का महत्त्व

वर्णन करने में बालकाण्ड की कितनी ही चौपाइयां एवं दोहे खर्च कर डाले हैं। उनके नमूने लीजिए—

बन्दउँ राम-नाम रघुवर को। हेतु कृशानु भानु हिमकर को ॥
महामंत्र जेइ जपत महेसू। काशी मुकुति हेतु उपदेसू ॥
महिमा जासु जान गनराउ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥
जानि आदि कवि नाम प्रतापू। भएउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहि कुसंकट होहिँ सुखारी ॥
नाम-प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी ॥
नारद जानेउ नाम प्रतापू। जगप्रिय हरि हरिहर प्रिय आपू ॥
सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने वस करि राखेउ रामू ॥
अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥

दो०—नाम राम को कलप तरु, कलि कल्यान-निवास ।
जो सुमिरत भयो भांग ते तुलसी तुलसीदास ॥

चौ०—नहिं कलि करम न धरम विवेकू। राम-नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥
भाव कुभाव अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
इत्यादि ।

इतना ही नहीं, गोसाईंजी स्वयं ब्रह्म तथा रामचन्द्र की भी महिमा से उनके राम-नाम की महिमा अत्यधिक मानते हैं—

चौ०—समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ॥
देखिए रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम विहीना ॥
रूप विशेष नाम विनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने ॥
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मन बड़ नाम दुहूँ ते। किए जेहि जुग निज बस निज बूते ॥
उभय अगम जुग सुगम नामते। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते ॥

"राम भगत-हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल वासा॥
राम एक तापस तियतारी। नाम कोटिखल कुमति सुधारी॥
भंजेउ राम आप भव-चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक वन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर-निकर दल रघुनन्दन। नाम सकल कलिकलुष निकंदन॥
दो०—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुन गाथ॥ इत्यादि।

बस, इतने ही उद्धरणों से पाठकों को भली-भाँति मालूम हो गया होगा कि गोसाईंजी की दृष्टि में राम-नाम का महत्त्व कितना ऊँचा था। उनके विश्वासानुसार यह राम-नाम का ही प्रताप था जिसने गणेशजी को देवताओं में प्रथम पूज्य बना दिया। पर गोसाईंजी का यह कथन पूर्णतः असत्य मालूम होता है, कारण कि किसी ऐसे जीवधारी प्राणी के अस्तित्व में विश्वास नहीं होता जिसका धड़ तो मनुष्य का और मस्तक हाथी का हो और जो राम-नाम जपा करता हो। हो सकता है कि कितने अन्य देवताओं की तरह गणेश भी कवियों के कल्पना-प्रसूत हों और उनका राम-नाम जपना भी कपोल-कल्पित ही हो। यदि कहो कि गणेश, महादेव, शिव आदि परमात्मा के ही नाम हैं तो प्रश्न उठता है कि परमात्मा को राम-नाम जपने की क्या आवश्यकता थी? वह तो स्वतः प्रथम पूज्य है। अतः हो न हो राम-नाम जप का देवताओं में प्रथम-पूज्य बननेवाला देवता जिसके कान, नाक, सूँड़ आदि हाथीके से हैं हवाईकिले बनानेवाले कवियों की कल्पना-मात्र है। संभवतः किसी रामोपासक पुराण-कार ने राम-नाम का महत्त्व दिखलाने के लिए ही उक्त

कल्पित कथा को उक्त कल्पित देवता के साथ जोड़ दिया है और इसी प्रकार किसी दूसरे लाल बुझक्कड़ ने लुटेरे रत्नाकर को ब्रह्मवेत्ता वाल्मीकि के रूप में परिणत करने के लिए उससे 'राम-राम' की जगह 'मरा-मरा' जपवाने की सरासर झूठ कहानी अपने मन से गढ़ली है और उसी का अनुगमन हमारे गोसाईंजी ने आँख मूँद कर लिया है, क्योंकि राम-नाम का उलटा जपना तो एक ओर रहे, उसके सीधे जपने से भी कोई मनुष्य शुद्ध और ब्रह्म-तुल्य न आज तक हुआ और न भविष्य में हो सकता है। वाल्मीकि के विषय में यह भी अर्द्धाली लिखी मिलती है—'उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीक भए ब्रह्म समाना ॥' पर यह कथन भी सर्वथा मिथ्या है। शुद्ध और ब्रह्मज्ञानी बनने का एकमात्र उपाय विद्याभ्यास और सत्संग है, न कि राम-नाम वा किसी मंत्र का जपना। जो चाहे इस कथन की सत्यता की जाँच इस प्रकार कर सकता है। किसी एक मूर्ख को एकान्त में इस प्रकार रखो कि वह किसी सदाचारी विद्वान् से मिलने न पावे और उसके नियमित रूप से भरण-पोषण का प्रबन्ध करके उससे अहर्निश, खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, टहलते-फिरते राम-नाम जपवाता रहे तो पच्चास वर्षों के बाद भी आप उसकी मूर्खता में किसी प्रकार की कमी तथा उसकी बुद्धि में किसी प्रकार का प्रस्फुरण न पा सकेंगे। उसका एक सिद्ध महात्मा बन जाना तो दूर रहा। कोई सत्य-जिज्ञासु धनिक महाशय इसकी परीक्षा लेकर निर्णय कर सकते हैं। वाल्मीकि सत्संग और विद्याभ्यास से ही योगी और ब्रह्मज्ञानी बनने में समर्थ हुए थे, न कि राम-नाम के उल्टे जाप से। यह विदित है कि उन्होंने सप्तर्षियों के साथ सत्संग किया था और उन्हीं से शिक्षा ग्रहण

की थी। यह बात अनुभव-सिद्ध है कि 'भात-भात' रटने से भूख नहीं मिटती और इसी प्रकार 'पानी-पानी' रटने से प्यास नहीं बुझती; तो फिर केवल राम-नाम जपने से अज्ञान दूर होकर ज्ञान का विकास कैसे हो सकता है? मैंने कतिपय साधुओं और वैरागियों को राम-नाम के जाप में अपनी सारी आयु को गँवाते हुए देखा है; पर उनमें विवेक और ज्ञान का कुछ भी विकास नहीं देखा गया। वे ज्यों के त्यों अविवेकी और दुर्व्यसनी बने रहे। इन उदाहरणों से फल यह निकला कि विद्याभ्यास, सत्सङ्ग, जिज्ञासा, मनन आदि सद्‌गुणों से ही मनुष्य आत्मोन्नति करके विद्वान् योगी तथा तत्त्वदर्शी बन सकता है; तोते की तरह केवल राम-नाम रटने से नहीं।

राम-नाम की महिमा वर्णन करते समय गोसाईं जी ने एक बड़ी सूझ की बात भी कही है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं! आप लिखते हैं कि सत्य-युग में परमात्मा का ध्यान करने से, त्रेता में विविध यज्ञों के सम्पादन से, द्वापर में भगवान् के पूजने से सिद्धि प्राप्त होती थी; पर 'नहिं कलि करम न धरम विवेकू। राम-नाम अवलंबन एकू।' अर्थात् कलियुग में धर्म्म-कर्म्म का कुछ भी विचार नहीं है। केवल एक राम-नाम का ही भरोसा है। यदि ऐसी बात है तो ध्रुव, प्रह्लाद और वाल्मीकि को, जो कलियुगी जीवन थे, केवल राम-नाम जपने से सिद्धि क्यों मिल गई? क्योंकि आप के ही कथनानुसार उन युगों में सिद्धि प्राप्त करने के और-और उपाय थे न कि राम-नाम का जाप। आप के ये दोनों कथन परस्पर-विरोधी होने से एक दूसरे का आप से आप उच्छेद कर देते हैं। असल बात तो यह है कि पूर्व के

युगों में राम-नाम जपने की परिपाटी बिल्कुल न थी। ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि आदि ने सत्संग, विद्याभ्यास आदि से ज्ञान प्राप्त किया था। राम-नाम जपने से नहीं। इस कलियुगी लटके के आविष्कर्त्ता गोसाईं जी तथा उन्हीं के सरीखे जीव हैं जो बिना कठिन परिश्रम किए ही कौड़ी के मोल ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

पर राम-नाम जपने की इस कलियुगी परिपाटी ने हिन्दू जाति का कितना अहित किया, यह इसके जन्मदाताओं को मालूम नहीं। इस कुत्सित प्रथा ने करोड़ों गृहस्थों तथा लाखों साधुओं को निरुत्साह और पुरुषार्थहीन बना दिया है। इन विचारों के मन में इस बात ने जड़ जमा ली है कि कलियुग में राम-नाम जपने के अतिरिक्त और कोई भी धर्म-कर्म नहीं निभ सकता। यह बात उनके मन में इस प्रकार जम गई है कि आज हजारों उपदेशकों और नेताओं के लाख प्रयत्न करने पर भी निकाले नहीं निकलती। इन्हें समझाते-समझाते थक जाइए; पर इनके मन में उत्साह, वीरता और पुरुषार्थ का स्वल्प भी संचार होते नहीं दीखता। इसी का फल है कि आज हिन्दू जाति विश्व की अन्य जातियों के सन्मुख कायरता और अकर्म्मण्यता का नमूना बन गई है। करोड़ों हिन्दुओं के हृदय में यह धारणा बैठ गई है कि कलियुग का अन्त होने पर ही जब भगवान् कल्कि का अवतार होगा तभी सब लोग यथोचित धर्म्म-कर्म्म करने लगेंगे; तब तक केवल हाथ पर हाथ रखे और राम-नाम जपते हुए कालक्षेप करते चलो। उनके दिमाग़ में कलियुग का ऐसा ख़ब्त समाया हुआ है कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं होता कि हम हिन्दू लोग भी पुरुषार्थ और प्रयत्न करके संसार

का अग्रसर जातियों की तरह स्वतंत्र होकर स्वर्ग-सुख का उपभोग कर सकते हैं। आत्मविश्वास न होने के कारण पुरुषार्थ और स्वावलम्बन आदि सद्गुणों के ग्रहण करने में असमर्थ होकर हिन्दू जाति परावलंबन से, लाखों वर्षों के बाद अवतार द्वारा, संसार का सुधार होना सम्भव मानती है। देखना है कि इस जाति के सिर पर से कलियुग का भूत कब दूर होता है। जिस दिन यह कुसंस्कार पूरी तरह से उससे पृथक् होगा उसी दिन यह उन्नति के पथ पर अग्रसर होने में समर्थ होगी; उसके पूर्व कभी नहीं।

हिन्दुओं के वेदादि धर्म्म-ग्रन्थों ने सांसारिक भोगैश्वर्य्य को निःसार, अचिरस्थायी, अतः उपेक्षणीय बताते हुए मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ का लक्ष्य माना और सब किसी को उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की नेक सलाह दी। मोक्ष क्या है, ज़रा इसके स्वरूप पर भी ध्यान दीजिए। जीवात्मा के द्वारा जन्म-मरण-निवृत्ति-पूर्वक ब्रह्म में लीन होकर अक्षय्य आनन्द के उपभोग की अवस्था का नाम मोक्ष वा मुक्ति है। यदि सचमुच ऐसी कोई अवस्था है तो उसकी प्राप्ति कोई सरल कार्य्य नहीं हो सकती। उसके लिए कठिन से कठिन उपाय करने पड़ते होंगे। श्रुति कहती है—

'वेदाह मेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'

अर्थ—मंत्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—हे जिज्ञासु! मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ। वह सूर्य की तरह प्रकाशवान् है। वह अज्ञानरूप अन्धकार के परे है। उसी का ज्ञान होने से अमरत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। मोक्ष-प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ।३।८ पढ़िए।

भगवद्गीता का वचन है—

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७।१६॥

अर्थ—श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा जाननेवाला व्यक्ति अनेकों जन्म के पश्चात् मुझे प्राप्त करता है । ऐसा महात्मा विरला ही कोई होता है।

यदि वास्तव में मोक्ष-प्राप्ति सुसाध्य नहीं है तो उसका अधिकारी कदाचित् ही कोई होता होगा । इसका पता नहीं कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक कोई जीव मुक्त हुआ कि नहीं । अजब नहीं कि अभी तक सभी जीव 'चौरासी' का चक्कर लगा ही रहे हों । पर भला हो गोसाईं तुलसीदास जी का जिन्होंने अपने भक्तों के उपकारार्थ मोक्ष-लाभ के लिए राम-नाम के जाप जैसी एक सरल युक्ति बता दी ? पर आप का दिमाग़ एक साधारण व्यक्ति का दिमाग़ नहीं है ! उसमें भव-रोग की शान्ति के लिए राम-नाम के जाप जैसे कतिपय अन्य चुटकिले एवं टोट के भी भरे पड़े हैं; जैसे—काशी-वास, अयोध्या-वास, रामेश्वर-दर्शन, गंगा-स्नान आदि । आपके निम्न लिखित पद्यों पर दृष्टि-पात कीजिए—

(क) मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर ।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥
(ख) काशी मरत जन्तु अवलोकी । जासु नाम-बल करौं बिसोकी ॥
(ग) आकर चारि जीव जग अहहीं । काशी मरत परम पद लहहीं ॥
(घ) जो गति अगम महामुनि गावहिं । तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ॥
(ङ) वन्दौं अवधपुरी अति पावन । सरयू सरि कलि-कलुष नसावनि ॥

(च) जो रामेश्वर दर्शन करिहैं । सो तनु तजि मम लोक सिधरिहैं ।।
(छ) जो गंगा-जल आनि चढ़ाइहि । सो सायुज्य मुकुति नर पाइहि ।।
(ज) एहि विधि भरत सेतु सब संगा । दीख जाइ जग-पावनि गंगा ।।
इत्यादि ।

कहाँ तक गिनाया जाए ? जब गोसाईं जी सब प्रकार के चुटकिले बताते-बताते थक गए तो अन्त में आपने मुक्ति विचारी को कौड़ी के मोल लुटा दिया और 'रामलला-नहछू' के गानेवाले को भी पुरस्कार-स्वरूप मुक्ति दे डाली—

जो एह नहछू गावहिं, गाइ सुनाइहिहो ।
ऋद्धि सिद्धि कल्यान. मुक्ति नर पाइहिहो ।।

अजामिल ब्राह्मण और पिंगला वेश्या की कथा तो और भी विचित्र है। कहते हैं कि अजामिल जन्म भर पाप करता रहा और मरने के समय अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा । बस 'नारायण' का नाम सुनते ही यमराज के दूत नौ दो ग्यारह हो गए और विष्णु के दूतों ने उसे ले जाकर परम धाम पहुँचाया ? अवश्य ही दोनों ही दूत-दल निरे मूर्खों के थे कारण कि उनमें से कोई न समझ सका कि अजामिल अपने लड़के को बुला रहा है अथवा वह भगवान् का स्मरण कर रहा है । और पिंगला तो तोता पढ़ाते-पढ़ते तरी । वह खुद तो तर गई, पर आज तक किसी ने नहीं बताया कि उसके चेले उस तोते की क्या गति हुई ! वह भी अपनी गुरुआइन के साथ तर गया था उसने जहन्नुम् की राह ली ! जिस देश में गाजर-मूली से भी सस्ते मोल पर मुक्ति मिला करती है वहाँ के निवासी कोई कर्म्म-धर्म्म क्यों करें ? बाबा मलूकादास जी ने भी तो अपना फतवा दे रखा है—'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम । दास मलूका कहि गये, सबके दाता राम ।।' जहाँ के

लोगों में ऐसी बेहूदी शिक्षा का प्रचार चिरकाल से होता रहा हो वहाँ आलस्य, अकर्म्मण्यता आदि दुर्गुणों का अखण्ड राज्य स्थापित हो जाये तो इसमें अचरज ही क्या है। बिना हाथ-पाँव मैले किए केवल राम-नाम जपकर मुक्ति पाने के इस अन्ध विश्वास ने हिन्दू जाति का कितना अनिष्ट किया है, इसका अनुमान करना कठिन है। इसके फेर में पड़कर लाखों की संख्या में हिन्दू-सन्तान घर-द्वार को तिलांजलि देकर और उदर भरि साधु-संन्यासियों का वेश धारणकर भारत-वसुन्धरा के लिए भार-स्वरूप हो गये हैं, जो इस प्रकार निरक्षर भट्टाचार्य्य हैं कि जहाँ उन्हें विद्याभ्यास का उपदेश दीजिए तहाँ वे तत्काल कह बैठते हैं—'लिखन पढ़न बब्भन के काम। भज लो सन्तों सीताराम।' कितने बैरागी मुझे इस कदर मूर्ख मिले हैं कि वे 'सीताराम' का शुद्ध उच्चारण न कर उसकी जगह 'सैत्ताराम' बोला करते हैं। इन सारी खुराफातों की जड़ गोसाईं जी के द्वारा राम-नाम का सीमातीत महिमा वर्णन है।

(३) मानस के पठन-श्रवण का फल—गोसाईं जी ने बालकाण्ड के प्रारम्भ तथा उत्तरकाण्ड के अन्त में क्रमशः राम कथा का माहात्म्य और उसके श्रवण तथा पठन का फल मुक्तकण्ठ से वर्णन किया है जैसा कि निम्नलिखित कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है—

राम-कथा का माहात्म्य।

चौ०—निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥
बुध विस्राम सकल जनरंजनि। रामकथा कलिकलुष विभंजनि॥
रामकथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहँ अरनी॥
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सोहाई॥
सोइ वसुधानल सुधा तरंगिनि। भय भंजनि भ्रमभेक भुअंगिनि॥

असुर सेन सम नरक-निकंदिनि। साधु विबुधकुल हित गिरि नन्दिनी॥
संत-समाज-पयोधि रमासी। विश्व-भार-भर अचल छमासी॥
जमगन मुहँ मसि जग जमुनासी। जीवन मुकुत हेतु जनु कासी॥
इत्यादि।

रामकथा के पठन तथा श्रवण का फल।

चौ०—मन कामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥
एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा॥
रामहिं सुमिरिय गाइए रामहिं। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥

छं०—रघुवंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥

श्लो०—पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्ति-प्रदम्।
माया मोह मलापहं सुविमलं प्रेमाम्बु पूरं शुभम्॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्तिये।
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्तिनो मानवाः॥

पुनः सुन्दरकाण्ड के अन्त में आप लिखते हैं—

दो०—सकल सुमङ्गल दायक, रघुनायक गुनगान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिन्धु बिना जलयान॥

किष्किन्धा के अन्त में देखिए—

दो०—भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्हकर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि॥

गोसाईं जी ने रामायण के माहात्म्य तथा उसके पठन-श्रवण के फल पर इतना जोर दिया सही; पर ऐसा करने का जो घातक परिणाम हुआ है वह संभवतः किसी को पहले मालूम न था और वह अब मालूम हो रहा है। अन्धविश्वासी जीव प्रायः मुक्ति तथा स्वर्ग के लिए सदा लालायित रहते हैं। ऐसा

करना उनका स्वाभाविक होता है। इस पर यदि मुक्ति तथा स्वर्ग किसी नाम के जपने मात्र अथवा किसी पोथी के पारायण मात्र से मिल जाया करें तो फिर उसके लिए धर्म्म-कर्म्म करने का कठिन परिश्रम कोई क्यों उठावे ? कितने लोग किसी रोग की निवृत्ति के लिए कितने मुकद्दमा जीतने के लिए; एवम् कितने संतान-प्राप्ति के लिए रामायण का पाठ या तो स्वयं करते हैं या नहीं तो किसी पंडित से कराते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे लोगों की समझ में दुनिया में ऐसा कोई कष्ट, पीड़ा वा दुःख नहीं है जिसके लिए रामायण-पाठ राम-बाण नहीं हो। मैं ऐसे दो सगे भाइयों को जानता हूँ जो मेरे सहपाठी थे। जब ये सयाने हुए तो इनके बीच पैतृक सम्पत्ति के बटवारे के लिए मुकद्दमा छिड़ा। मुकद्दमा जीतने के लिए दोनों ओर से पंडित बैठा-कर तुलसीकृत रामायण का पाठ अपने-अपने यहाँ होने लगा। मुकद्दमा लड़ते-लड़ते प्रिवी-काउन्सिल तक पहुँचा। इसी बीच बड़े भाई से मुझे भेंट हुई। समाचार के पूछ-ताँछ के सिलसिले में जब मुझे मुकद्दमें तथा रामायण-पाठ का हाल मालूम हुआ तो मैंने उनको बहुत धुत्कारा और बतलाया कि मुकद्दमा जीतने के लिए रामायण का पाठ करना या कराना उसको अपमानित करना है; क्योंकि उसके साथ ऐसा व्यवहार करना उसकी शिक्षा के बिल्कुल प्रतिकूल है। कहाँ तो रामायण हम लोगों को यह अमर शिक्षा दे रही है कि भ्रातृ-प्रेम की तुलना में दुनिया की सारी दौलत तुच्छातितुच्छ है, कहाँ जिस पुण्य भारत-भूमि में भ्रातृ-प्रेम के सामने साम्राज्य को भी अपने पैरों से ठोकर मारनेवाले रामचन्द्र और भरत का उज्ज्वल उदाहरण आदर्शवत् पथ-प्रदर्शक हो और कहाँ वहाँ के ही रहनेवाले दो सहोदर भाई एक तुच्छ जमीनदारी जीतने के लिए एक दूसरे के विरुद्ध रामायण का पाठ

कराव। यह कैसी शोक की बात है! आप लोग दोनों भाई रामायण का घोर अपमान कर रहे हैं। निदान मेरे इस कथन का प्रभाव बड़े भाई पर इतना पड़ा कि उसने घर जाकर मुक-दमा-सम्बन्धी अपना सभी कागज अपने छोटे भाई के सम्मुख यह कहकर फेंक दिया आज से सम्पूर्ण सम्पत्ति का मालिक तुम्हीं बनो; मुझे मुकद्दमे से कोई वास्ता नहीं रहा। बड़े भाई का यह आत्म-त्याग देखकर छोटा भाई उसके पैरों पर रोता हुआ गिर पड़ा। दोनों ने मुकद्दमा उठा लिया और तब से बड़े प्रेम-पूर्वक इकट्ठे रहने लगे। यह है रामायण का यथार्थ पाठ! एक दूसरे सज्जन मुझे ऐसे मिले जो सम्पन्न होते हुये भी निःसन्तान थे। अतः उन्होंने काशी के एक पंडित को हनुमान् के मन्दिर में बैठकर प्रतिदिन रामायण का पाठ करने के लिए मासिक वेतन पर नियुक्त किया था। पर कई वर्षों तक नित्य पाठ होते रहने पर भी उन्हें कोई सन्तान न हुई और वे निःसन्तान ही मरे। पर इन बिचारों का कसूर ही क्या? कसूर है उन गोसाईं जी का जिन्होंने रामायण के माहात्म्य तथा उसके पठन-श्रवण के फल को इतने भड़कीले शब्दों में और इतना अनुचित रूप से बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है कि मूर्खों और गँवारों को कौन कहे, पढ़े-लिखे लोग भी उनके घपले में आ जाते हैं। आरा में एक मठिया है जिसे बाबा बालकृष्ण दासजी का मठिया कहते हैं। वहाँ पर इस वर्ष (विक्रमीय संवत् २००२ में) राम-नाम का अखंड जाप होने की व्यवस्था की गई है। अखंड जाप का यह अर्थ है कि राम-नाम का उच्चारण चौबीसों घंटा बिना विश्राम के निरन्तर होता रहे। इस अखंड-जाप के लिए कई दल नियत किए गए हैं जो अपने नियत समय पर आकर अपनी ड्यूटी

बजाया करते हैं। एक दल गया कि तत्काल दूसरा दल आ धमका और अपनी ड्यूटी बजाने लगा। राम-सीता की मूर्त्ति के चारों तरफ चक्कर लगाते हुए ढोलक-झाल के ताल पर 'रघुपति राघव राजाराम' यह गाते रहना प्रत्येक दल का काम है। इस अखंड-जाप में आरा के कितने वकील भी, जिनका पेशा भाई-भाई में ज़मीन के लिए मुकद्दमा लड़वाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, शामिल है। इन वकीलों से यह तो पार नहीं लगता कि दो लड़ते हुए भाइयों को रामायण की शिक्षा समझाकर उनमें रामचन्द्र और भरत की तरह पारस्परिक प्रेम का संचार करावें; पर अखंड-जाप में शामिल होंगे ज़रूर। यह है उनकी रामायण-निष्ठा। कितने तो ऐसे हैं जो यह समझ बैठे हैं कि कितना हूँ पाप करो। बस एक बार राम का नाम ले लो अथवा रामायण की एक-आध चौपाई बोल दो। इतना ही में बेड़ा पार! सभी पाप छुमंतर हो जाएँगे! रामायण मानों जादू का पिटारा है। पर यह निश्चय जानिए कि इन सभी बुराइयों की जड़ गोसाईं जी की 'माहात्म्य' तथा 'फल' की सीमातीत प्रशंसा है जिसने रामायण की वास्तविक उपयोगिता पर एक बारगी पानी फेर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू जनता रामायण को लौकिक पुस्तक न मानकर इसे एक पारलौकिक पुस्तक मान बैठी है; अथवा यों कहिए उसे कोई पार्थिव वस्तु न मानकर एक स्वर्गीय वस्तु माना करती है जिसके मूल्य को किसी लौकिक मान-दंड से नहीं; बल्कि पारलौकिक मान-दंड से आँकना चाहिए। पर ऐसा समझ बैठना उसकी भारी भूल है। परलोक, स्वर्ग वा मुक्ति वस्तुतः काल्पनिक चीज़ें हैं। इनका साक्षात्कार आज तक किसी ने भी नहीं किया।

पर यदि ये चीज़ें वास्तविक भी हों तो उनके साधन का उपाय किसी नाम का जपना वा किसी पोथी का पाठ करना नहीं है। लोक हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसके साथ हमारा संघर्ष निरन्तर चल रहा है। यदि हम किसी प्रकार लोक को सुधार लें तो परलोक उसी प्रकार आप से आप सुधर जाए जैसे चारपाई की एक तरफ बुनने से वह दूसरे तरफ आप से आप बुन जाती है। और लोक का सुधार आचरण के सुधार से होता है। यदि रामायण की शिक्षाएँ ग्रहणकर हम लोग अपने आचरण को सुधार लें, यदि रामायण के अध्ययन से हम लोग यह मालूम कर लें कि माता-पिता के प्रति पुत्र का, पति के प्रति पत्नी का, गुरु के प्रति शिष्य का, भाई के प्रति भाई का, राजा के प्रति प्रजा का, स्वामी के प्रति सेवक का, पड़ोसी के प्रति पड़ोसी का, मनुष्य-मात्र के प्रति मनुष्य-मात्र का, अथवा संक्षेप में यह समझिए कि प्राणि-मात्र के प्रति प्राणि-मात्र का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए और उसे मालूमकर यदि हम लोग उसका पालन करें तो यह दुःखमय संसार भी हमारे लिए साक्षात् स्वर्ग बन जाए। यही है राम-नाम का अखंड-जाप; यही है रामायण का यथार्थ पाठ। पर हममें से कितने हैं जो रामायण के प्रति ऐसा भाव रखते हैं !! कितने तो ऐसे भोले-भाले हैं कि वे तुलसीकृत रामायण का केवल पाठ करना जानते हैं; पर उसका अर्थ कुछ भी नहीं समझते। ऐसे लोगों की यह भ्रान्ति-मूलक धारणा होती है कि रामायण केवल पाठ करने के लिए ही रची गई है; न कि उसका अर्थ भी जानने के लिए। उसका केवल पाठ करना ही अभीष्ट फल-प्रद होता है; उसका अर्थ-ज्ञान व्यर्थ है। मानो रामायण की पोथी शिव जी का रचा हुआ 'सावर

मंत्रजाल' हो, जिसके विषय में गोसाईं जी ने लिखा है—

' अनमिल अच्छर अर्थ न जापू । प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू ।"

धन्य हैं गोसाईं जी, जो स्वयं तो अन्धविश्वास के गर्त्त में डुबे ही थे; अपने साथ अपने चेलों को भी ले डुबे !

(४) गोसाईं जी का स्त्री-द्वेष—गोसाईं जी ने अपने 'मानस'-ग्रन्थ के प्रारंभ में उसे 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' बनाने का वचन दिया है। पर इसके पाठकों में से विरला ही कोई ऐसा होगा, जो इस बात की खोज करता हो कि देखें कहाँ-कहाँ पर उन्होंने अपने उक्त वचन के विरुद्ध काम किया है; अथवा यों कहिए, उनका मत कहाँ-कहाँ पर श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों के प्रतिकूल ठहरता है। यों तो खोज करने पर गोसाईं जी के रामायण में बहुत सी शास्त्र-विरुद्ध मिलेंगी, पर आपने जो स्त्री जाति के विषय में अपनी सम्मति दी है उससे कोई भी विद्वान् शायद ही सहमत हो। आप सिद्धान्त की दृष्टि से स्त्री जाति में केवल दोष ही दोष देखते हैं; गुण एक भी नहीं, और जब-जब आपको उनकी निन्दा करने का मौका मिलता है, तब-तब उस मौके से आप नहीं चूकते; यह बात दूसरी है कि आप की लेखनी किसी महिला-विशेष के पक्ष में अपवाद-स्वरूप कुछ गुण लिख दे। निम्नलिखित उद्धरणों पर दृष्टि-पात कीजिए—

(क) 'कीन्ह कपट मैं संभुसन, नारि सहज जड़ अज्ञ ।'

इस उद्धरण में 'सहज' शब्द ध्यान देने योग्य है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही कपटी, जड़ और मूर्ख होती हैं।

(ख) 'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराउ। देखहु नारि-सुभाउ-प्रभाउ ।'

यहाँ भी छल-कपट करना स्त्रियों का स्वाभाविक दोष बताया गया है।

(ग) 'जदपि जोषिता अन अधिकारी। दासी मन क्रम वचन तुम्हारी।'

यहाँ स्त्रियों को सभी अधिकारों से वंचितकर उन्हें मनोवचन कर्म से पुरुषों की दासियाँ बना दिया गया है।

(घ) 'अब मोहि आपन किङ्करि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी।'

इस उद्धरण में भी स्त्रियों को पुरुषों की दासियाँ तथा स्वभावतः जड़ और मूर्ख कहा गया है।

(ङ) 'सहज अपावन नारि, पति सेवत शुभगति लहहिं।
जस गावत स्रुति चार, अजहुँ तुलसि का हरिहिं प्रिय'॥

इस उद्धरण में यह बताया गया है कि स्त्रियों की एकमात्र गति उनके पति हैं। पति-सेवा से ही उन्हें सद्‌गति मिल सकती है; अन्यथा नहीं; कारण कि वे तो स्वभावतः अपवित्र हैं और उनकी यह अपवित्रता उनके जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। वेदों ने भी इसीलिए पातिव्रत्य धर्म्म का यशोगान किया है कि एक पातिव्रत्य ही ऐसी चीज़ है जो स्त्रियों की स्वाभाविक अपवित्रता को मिटा सकती है।

(च) 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी'।

इस अर्द्धाली के द्वारा गोसाईं जी ने शूद्रों और स्त्रियों को पशु की तरह पीट-पाटकर ठोक करने का एक अच्छा नुस्खा अपनी 'नानापुराण-निगमागसम्मत' बुद्धि से बतला दिया।

(छ) 'नारि सुभाव सत्य कवि कहहिं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया।'

यहाँ स्त्रियों में आठ स्वाभाविक दोष बताए गए हैं—(१)

साहस (जल्दीबाजी); अर्थात् परिणाम को बिना सोचे ही किसी कार्य के करने में धृष्टता तथा शीघ्रता करना; (२) झूठ बोलना; (३) कभी स्थिर नहीं रहना; (४) दूसरों को ठगने के लिए माया (कपट-पूर्ण व्यवहार) रचना; (५) भय का कारण नहीं रहते हुए भी भय करना; (६) विचार नहीं करना, (७) अपवित्र रहना और (८) निर्दय होना।

(ज) 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी'॥

यहाँ स्त्रीमात्र पर एक अति ही घृणित लांछन लगाया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ ऐसी कुबुद्धि होती हैं कि वे केवल सुन्दर पुरुष चाहती हैं, चाहे रिश्ते में वह उनका भाई, पिता, पुत्रादि क्यों न हो। क्या गोसाईं जी के इस कथन से यह ध्वनि नहीं निकलती कि स्त्रियाँ इस प्रकार की भ्रष्ट जीव हैं कि वे अपने भाई आदि से भी, यदि वे रूपवान हों तो, अपनी काम-पिपासा को सन्तुष्ट करा लेने में तनिक भी नहीं हिचकतीं? माना कि यह वचन शूर्पणखा के प्रति कहा गया है। पर यह सोचने की बात है कि इस वचन की कथन-शैली सैद्धान्तिक है न कि वैयक्तिक। दूसरी अर्द्धाली से उक्त ध्वनि और भी स्पष्ट हो जाती है—

'होहिं विकल मन सकहिं न रोकी। जिमि रवि-मणि द्रव रविहिं विलोकी।'

इन उद्धरणों में स्त्रीमात्र को पुंश्चली, भ्राता-पिता आदि के भी सौन्दर्य पर मुग्ध होनेवाली तथा इन्द्रिय-लोलुप कहा गया है। यदि कहो कि शूर्पणखा एक अधेड़ स्त्री थी जिसकी तुलना में नवयुवक रामचन्द्र उसके पुत्र तुल्य थे; अतः 'भ्राता-पिता-पुत्रादि' वाक्य उसी के जैसी कुलटा स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है; सभी स्त्रियों के सम्बन्ध में नहीं तो इस दलील में भी कुछ सार नहीं है; कारण कि तुम्हारे

जस लोग राक्षसियों को काम-रूपिणी मानते हैं; उनके लिए बूढ़ी अथवा युवती होना इच्छाधीन रहता है। इसके अतिरिक्त यदि २७ चौयुगियाँ बड़ी रेवती का विवाह बलदेव के साथ होना अनुचित नहीं माना गया, तो उमर में, युगों को नहीं, बल्कि कुछ ही वर्षों के अन्तर के कारण, शूर्पणखा-राम का सम्बन्ध क्यों अनुचित होता और ऐसे प्रस्ताव करनेवाली उस विचारी शूर्पणखा को कुलटा क्यों कहा जाए ?

(झ) 'समय स्वभाव नारि कर साँचा। मंगल माहिं अमंगल राँचा' ॥

यहाँ नारी जाति को स्वभावतः डरपोक और शुभ में भी अशुभ मनानेवाली कहा गया है।

(ञ) 'पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती' ॥

यहाँ पुरुषों को तो सब प्रकार से प्रबल और प्रतापी, पर स्त्रियों को स्वभावतः निर्बल और जड़ कहा गया है।

(ट) 'साँच कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई' ॥

यहाँ स्त्रियों का चरित्र पुरुषों के लिए सर्वथा अज्ञेय बताया गया है; यहाँ तक कि अपनी छाया का पकड़ लेना भले ही संभव मान लिया जाए, पर स्त्रियों का चरित्र जान लेना कदापि संभव नहीं माना जा सकता।

(ठ) विधिहु न नारि हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

यहाँ भी वे ही सब पूर्वोक्त भाव हैं।

(ड) अरण्य-काण्ड के अन्त में राम-नारद-सम्वाद पढ़िए। वहाँ पर गोसाईं जी ने रामचन्द्र के मुख से स्त्री निन्दा का खजाना ही खोलवा दिया है—

दो०—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह की धार।
तिन महँ अति दारुण दुखद, माया रूपी नार॥

चौ०—सुनु मुनि कह पुरान स्रुति संता। मोह विपिन कहँ नारि वसन्ता॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहिं हरषप्रद वरषा एका॥
दुर्वासना कुमुद समुदाई। तिनकहुँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म्म सकल सर सीरुह वृन्दा। होइ हिम तिनहिं देत दुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहहिं नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक-निकर सुखकारी। नारि निविड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम तिय कहहिं प्रवीना॥

दो०—अवगुन-मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि॥"

गोसाईं जी की सम्मति में संसार की समस्त बुराइयों और दुर्गुणों की जड़ तथा सद्गुणों की नाशक स्त्रियाँ ही हैं। इस राम-नारद-सम्बाद में न किसी विशेष स्त्री का ज़िक्र है, न कथा से कोई ख़ास सम्बन्ध। इतना ही नहीं, जब कि रामचन्द्र स्वयं अपनी खोई हुई स्त्री के लिए जंगलों और पहाड़ों में रोते-पीटते फिर रहे हैं, उनके मुँह से स्त्री जाति के सम्बन्ध में ऐसी सम्मति का निकलना बिल्कुल अस्वाभाविक जान पड़ता है। न हुआ उस समय आजकल का कोई समालोचक; नहीं तो उनसे पूछता कि महाराज, अगर स्त्री अवगुणों की ऐसी खान है और धर्म, जप, तप, सत्य, शील आदि निःशेष सद्गुणों के लिए साक्षात् यमराज के समान है, तो आप अक़्लमन्द होकर फिर उसी फाँस को अपने गले में डालने की कोशिश क्यों कर रहे हैं ? अच्छा हुआ कि आपकी स्त्री को कोई हर ले गया—'आँख फुटी पीर मिटी।' और जब गोसाईं जी स्त्रियों

की निन्दा करते-करते थक गए तो उन्होंने अपने इस 'नारी-मेध' की पूर्णाहुति इस महामन्त्र से कर दी--

'काह न पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय ॥'

गोसाईंजी का स्त्री-विषयक मत बतलाकर अब मन्वादि धर्म्म शास्त्रकारों का मत बतलाया जाता है, जिससे पाठकों को यह बात भली-भाँति मालूम हो जाएगी कि आपका उक्त-मत 'नाना पुराण-निगमागम-सम्मत' कदापि न होकर सम्भवतः 'क्वचिदन्यतोऽपि' से सम्बन्ध रखता है; अथवा स्पष्ट भाषा में यों कहिए कि वह मत गोसाईंजी की निजी कल्पना है। यद्यपि मनु ने भी स्त्रियों में कुछ दोष पाये हैं; पर ऐसा नहीं कि उन्होंने उनके केवल दोषों का उद्घाटनकर उनके गुणों को छिपा लिया है। उन्होंने गुण-दोष दोनों दिखलाए हैं और हमें तुलसीदास की तरह 'ताड़न' वाले नुस्खे का प्रयोग न कर, उनके साथ प्रेम, सहानुभूति आदि के व्यवहार करने की शिक्षा देते हैं। वे अपनी स्मृति के ९वें अध्याय में स्त्रियों के ये दोष बतलाते हैं—

"नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा कुरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१४॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्चस्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्व्वते ॥१५॥

अर्थ--स्त्रियाँ रूप की परीक्षा नहीं करतीं। युवा, वृद्ध आदि अवस्था पर इनकी श्रद्धा भी नहीं है। सुन्दर हो या कुरूप; पुरुष को पाते ही ये उसके साथ भोग-विलास करने लगतीं हैं ॥१४॥ स्त्रियाँ पुरुष को देखते ही उसके साथ क्रीड़ा करने की इच्छा से, चित्त की चंचलता से तथा स्वभाविक स्नेह-शून्यता

से पति के यत्न के साथ रक्षा करने पर भी उससे प्रतिकूल होकर व्यभिचार करने लगती हैं ॥१५॥

अतः स्त्रियों की रक्षा के लिए वे पुरुषों को सख्त ताकीद करते हैं; पर वे उनको डंडे मारने को कदापि नहीं कहते—

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽसां प्रजापति निसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति ॥१६॥

अर्थ—प्रजापति का रचा हुआ इनका ऐसा स्वभाव जानकर इनकी रक्षा का यत्न पुरुष विशेष रूप से करे ॥१६॥

स्त्रियों की रक्षा क्यों करनी चाहिए और कैसे करनी चाहिए यह भी मनु बतला देते हैं।

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथा विधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥९॥
न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाय योगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्म्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्यवेक्षणे ॥११॥

अर्थ—स्त्री जैसे पुरुष का सेवन करती है वैसे ही सन्तान पाती है। अतः विशुद्ध सन्तान की प्राप्ति के लिए यत्न-पूर्वक स्त्री की रक्षा करे ॥९॥ बलात्कार से स्त्रियों की पूर्ण रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है, किन्तु इन आगे कहे हुए उपायों के द्वारा उनका पूर्ण रक्षण-कार्य हो सकता है ॥१०॥ पति अर्थ के संग्रह, व्यय, घर की सामग्री और अपने शरीर की शुद्धि, स्थापित अग्नि की सेवादि कार्य, अन्न का पाक और घर की वस्तुओं की देख-भाल इन सब कार्य्यों में स्त्री को नियुक्त करे अर्थात् इन सब कार्य्यों का भार स्त्री के ऊपर छोड़ देवे ॥११॥

मनु स्त्री-जाति में पूर्वोक्त कतिपय दोषों की कल्पना करते हुए भी स्त्रियों को साक्षात् लक्ष्मी की दृष्टि से देखते तथा पूजने की ताकीद करते हैं, अन्यथा महा अनिष्ट हो सकता है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥२६॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ गर्भाधान के निमित्त परम मंगल की पात्र हैं, अतः वस्त्राभूषण से सम्मान करने के योग्य और घर की शोभा रूप हैं। अधिक क्या कहें, घरों में स्त्री और लक्ष्मी में कुछ भी भेद नहीं है। स्त्रीहीन गृह श्रीहीन प्रतीत होता है।

पुनः वे तृतीय अध्याय में लिखते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त्राफलाः क्रियाः ॥५६॥
शोचन्ति जामयोयत्र विनश्यत्याशुतत्कुलम्।
न शोचन्तितु यत्रैता वर्द्धतेतद्धि सर्वदा ॥५७॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्य प्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समंततः ॥५८॥
तस्मादेताः सदापूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥५९॥

अर्थ—बहुत कल्याण के चाहनेवाले पिताओं, पतियों तथा देवरों को उचित है कि वे भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि से इनका सत्कार तथा पूजन करें ॥५५॥ जहाँ पर स्त्रियाँ पूजी जाती हैं वहाँ पर सब देवता विहार करते हैं तथा जहाँ पर ये नहीं पूजी जातीं वहाँ की यज्ञादि सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥५६॥ जिस कुल में बहिन, स्त्री, पुत्री और पुत्र-वधू आदि दुखी रहती

हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; और जहाँ ये दुखी नहीं रहतीं वह धन-धान्य से सदा समृद्ध रहता है ॥५७॥ भगिनी, पत्नी, बेटी, बहू—ये दुखी हो जिन घरों को कोसती हैं वे घर अभिचार द्वारा नष्ट हुए के समान धन, जन आदि समेत नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥५८॥ अतः ये भगिनी आदि कौमुदी आदि सत्कारों में और यज्ञोपवीत आदि उत्सवों में समृद्धि चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा सदा पूजने योग्य हैं ॥५९॥

अहा! स्त्री-जाति के दोषों को देखते हुए भी महाराज मनु अन-देखा-सा बनकर उन्हें लक्ष्मीवत् पूजन-योग्य बतलाते हैं और हमारे गोसाईं जी उन्हें खूब बनाकर पीटने का सदुपदेश देते हैं। दोनों महानुभावों के स्त्री-विषयक भावों में कितना अन्तर है, यह पाठकगण स्वयं देख लें।

मालूम होता है कि गोसाईं जी को स्त्री-जाति के प्रति एक भारी चिढ़-सी हो गई थी, जिसके आवेश में आकर स्त्रीजाति-विषयक परस्पर-विरोधी बातें भी लिखते हुए आपको यह न मालूम हो सका कि मैं क्या लिख रहा हूँ। सीता-अनुसूया-सम्वाद में आपने पातिव्रत्य-धर्म्म का उपदेश दिया है। आप लिखते हैं—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं॥
बिनु अवसर भय तेरह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥

इस उद्धरण में आपने पतिव्रता स्त्रियों को चार श्रेणियों में बाँटा है—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) नीच और (४) लघु और उनके लक्षण भी बता दिए हैं। यदि गोसाईं जी इस समय जीवित रहते तो मैं एक बात उनसे विनय-पूर्वक पूछता कि यदि

आपकी समझ-मुबारक में स्त्रियाँ केवल सुन्दर पुरुष ही चाहती हैं, वे भले-बुरे का विचार नहीं करतीं, तथा यदि वे नाना-विध सहजात अवगुणों की खान हैं तो कम से कम उत्तम तथा मध्यम कोटि के पातिव्रत्य इस संसार में केवल दुर्लभ ही नहीं, किन्तु अलभ्य होंगे। ये पातिव्रत्य केवल कल्पना में ही पाए जा सकेंगे, व्यावहारिक जीवन में कभी नहीं। पर हमारा इतिहास हमें बता रहा है कि सती (दक्ष-कन्या), सीता, सावित्री, दमयन्ती, मदालसा, विहुला, पद्मावती, गान्धारी, शैव्या (राजा हरिश्चन्द्र की धर्म्मपत्नी) आदि उत्तमकोटि की पतिव्रताएँ अपने अटूट पातिव्रत्यधर्म्म से आज भी संसार भर के नारी-समाज का मुख उज्ज्वल कर रही हैं। इन्हीं पतिव्रताओं के पुण्य चरित्ररूपी आलोकवर्त्तिका अपने हाथ में लेकर आज भी नारी-समाज अपने संकट-मय कर्त्तव्य-पथ पर निधड़क चले जाने का साहस कर रहा है; और पतिव्रताओं की बात जाने दीजिए। जिन भगवती जनक-नन्दिनी का पावन चरित्र आपने अपनी रामयण में गाया है, कम से कम उनका भी उदाहरण आपको निःशेष नारी-समाज को कलंकित करने के पहले विचार लेना चाहिए था। इसे बिना विचारे स्त्रीमात्र को निःशेष अवगुणों की खान मान लेना 'अन्धेर पुर नगरी बेबूझ राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली कहावत को चरितार्थ करना है।

पतिव्रता स्त्रियों के कुछ उदाहरण दे, अब विद्या, वीरता, कार्य्य-कुशलता आदि सद्गुणों से विशिष्ट नारी-रत्नों के उदाहरण दिए जाते हैं। गोसाईं जी के 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' विचार से स्त्रियों में गुणों का सर्वथा अभाव है। उनमें केवल दोष ही भरे हैं। पर वास्तविकता ठीक इसके प्रतिकूल है। सच पूछिए तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक

गुणवती होती हैं। यह बात तब स्पष्ट होगी जब उन्हें गुणवती बनाने का कष्ट उठाया जाए; अथवा उन्हें गुणोपार्ज्जन करने का अवसर दिया जाए। हमने तो उन्हें भोग-विलास की सामग्री तथा बच्चे पैदा करने की मशीन बना रखी है। अतः हमारा उनसे अधिक आशा करना भूल है। बबूल का पेड़ बोकर भी हम आम खाना चाहते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी वीर, धीर, गम्भीर, कार्य्य-कुशल, विदुषी आदि हो सकती हैं। रोमनों के दाँत खट्टे कर देनेवाली प्राचीन बृटेन की अधीश्वरी बोडीशिया एक स्त्री ही थी और वह अपने देश से उन्हें मार भगाती यदि उसके सरदार उसे धोखा न देते। आर्लियन्स के अवरोध (Sieg of Orleans) में अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ाने वाली जोन आफ़ आर्क (Joan of Arc) एक त्रयोदश वर्षीया ग्रामीण बालिका थी जो दरिद्र माता-पिता की सन्तान होने के कारण खेतों में भेड़ चराया करती थीं। दुर्दान्त मुग़ल-सम्राट् अकबर से लोहा लेनेवाली अहमदनगर की चाँद सुल्ताना एक अबला थी। इसी प्रकार रानी दुर्गावती (गढ़ मंडल की) और रानी लक्ष्मी बाई (झाँसी की), दोनों स्त्रियाँ ही थीं, जिनके वीर चरित इतिहास के पन्नों में मणियों की तरह जड़े हैं। और भी सुनिए। इङ्गलैन्ड को घरेलू तथा बाहरी, धार्म्मिक और राजनीतिक, झगड़ों के झकोरों से बचाकर सुदृढ़ करने का श्रेय रानी एलिज़ाबेथ को हुआ। राजनीति-कुशला इस रानी ने इंगलैन्ड पर जिस चातुरी के साथ शासन किया, वह पुरुषों को भी नसीब नहीं। संभवतः इस प्रकार की अभौतिक प्रतिमासंपन्न रानी भूमंडल के किसी भी देश के राजसिंहासन पर अब तक नहीं बैठी।

अब विद्या के क्षेत्र में आइए। राजा जनक की सभा में गूढ़ दार्शनिक विषयों पर आलोचना-प्रत्यालोचना करनेवाली एवं बड़े-बड़े वेदान्ती पुरुषों को भी निरुत्तर कर देनेवाली मैत्रेयी और गार्गी स्त्रियाँ थीं। मण्डन मिश्र की स्त्री भारती (सरस्वती) एक स्त्री ही थी जो अपने पतिदेव तथा शंकराचार्य के बीच होते हुए शास्त्रार्थ में हार-जीत की निर्णायिका बनाई गई थी। बस इसी से उसकी विद्वत्ता का अनुमान कीजिए। वेद दर्शन-काल में कितनी स्त्रियाँ मंत्रों की द्रष्ट्री तक हुई हैं। प्राचीन दक्षिण भारत की विदुषी विज्जका एक स्त्री ही थी जो स्वयं विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती बनने का साहस रखती थी। दण्डी ने सरस्वती देवी को 'सर्व शुक्ला' लिखा था; पर विज्जका श्यामवर्णा थी, अतः उसने दण्डी पर यह आक्षेप किया—

नीलोत्पलदल श्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैवदण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

अर्थ—दण्डी का सरस्वती को पूर्णतः श्वेत लिखना व्यर्थ था; क्योंकि वह नील कमल की तरह श्यामवर्ण मुझ विज्जका को जानता नहीं था। अभिप्राय यह कि यदि वह मुझे जानता तो सरस्वती को सर्वशुक्ला न लिखकर सर्वश्यामा लिखता। 'विद्वद्-वृंत्तम्', पृष्ठ ५०, पढ़िये।

माना कि विद्वान् पुरुषों की अपेक्षा विदुषी स्त्रियों की संख्या कम है; पर इस कमी का कारण उनकी स्वाभाविक अयोग्यता नहीं है; वरन् उन्हें यथेष्ट मात्रा में विद्योपार्जन का अवसर नहीं मिलता है। स्त्रियों की योग्यता तो इसी से सिद्ध है कि विद्या की अधिष्ठात्री देवी स्त्री हैं, न कि पुरुष। पर गोसाईंजी के मस्तिष्क में ये सब बातें नहीं धसीं। धसें कैसे ? वहाँ तो

'ताड़न' वाला मन्त्र बुद्धि पर पर्दा डाले हुए था; इसी कारण वहाँ पर 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ॥' वाली उनकी ही चौपाई काम कर गई।

गोसाईंजी के कितने अन्ध भक्त उनके पक्ष में यह कहा करते हैं कि आपका उद्देश्य 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' आदि स्त्री-निन्दा-विषयक वाक्यों के लिखने में कुछ समस्त नारी-जाति को कलंकित करने का नहीं है, उन्होंने तो जहाँ जैसा प्रसंग उपस्थित हुआ है, परिस्थिति के अनुकूल वहाँ वैसा वर्णन किया है। उन्होंने प्रसंग उपस्थित होने पर गृह-देवियों का गौरव गान भी किया है। बालकाण्ड में पार्वती की विद्वता पर सात महर्षियों का निरुत्तर होकर उन्हें सिर झुकाना; जनकपुर की युवतियों की विद्वत्तापूर्ण बातचीत, अयोध्याकाण्ड में वन जाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए जानकीजी का पाण्डित्य-पूर्ण भाषण, सुमित्रा का लक्ष्मण को सदुपदेश, चित्रकूट में जनक तथा दशरथ की राजमहिषियों की दर्शन-शास्त्र की चर्चा, अरण्यकाण्ड में अनुसूया का सीताजी को संसार-प्रसिद्ध उपदेश, शूर्पणखा की रावण को राजनीति की शिक्षा, किष्किन्धाकाण्ड में तारा का बालि को हितोपदेश, सुन्दरकांड में त्रिजटा की विवेक-पूर्ण भविष्य-वाणी और लंकाकाण्ड में मन्दोदरी का रावण को विद्वता-पूर्ण आदेश, क्या ये सब बातें इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि गोसाईंजी स्त्रियों में विद्या-बुद्धि भी पाते थे? इतना ही नहीं, आपके विचार से भील-किरातों की भी स्त्रियाँ सुन्दर कल्पनाएँ कर सकती थीं। देखिये—

'इनहिं देख विधि मन अनुरागा। पटतर योग बनावन लागा ॥
कीन्ह बहुत श्रम एक न आये। तेहि ईर्ष्या बन आन दुराये ॥'

कितनी दूर की सूझ है ! पुनश्च—

'निपट निरंकुश निठुर निशंकू। जेहि शशि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रूख कल्प तरु सागर खारा। तेहि पठए बन राजकुमारा॥'

कल्पना की कोमलता तो अनुभव कीजिये !

और यदि प्रसंग से विवश होकर गोसाईं जी ने स्त्रियों की निन्दा की है तो उन्होंने पुरुषों के साथ रिआयत ही कौन सी की है ? वे आदर्श से पतित स्त्रियों की खबर जिस प्रकार लेते हैं उसी प्रकार वे पतित पुरुषों की भी खबर लेते हैं—

"डिगै न संभु-सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥
कुलवन्त निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरहिं चोर गती॥
तव अनुचरी करउ पन मोरा। एक वार विलोकु मम ओरा।
मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।"

इत्यादि।

अभिप्राय यह कि गोसाईंजी ने निष्पक्ष होकर स्त्री और पुरुष दोनों को ही फटकारा है।

पर प्रतिवादियों के इस दलील में कुछ भी सार नहीं दिखाई देता। यदि पुरुष-विषयक और नारी-विषयक दोनों प्रकार के निन्दात्मक वाक्यों के रूप पर जरा गौर से विचार किया जाए तो उनका सूक्ष्म अन्तर (subtle difference) स्वयं मालूम हो जायगा। नारी-निन्दा के वाक्यों को गोस्वामी जी ने इस रूप में ढाला है कि मानों वे किसी सार्वभौम तथा नित्य-सत्य (Universal and Eternal Truth) की घोषणा कर रहे हों, जो देश काल से अपरिच्छिन्न होकर नारी-मात्र पर लागू है। पर पुरुष-निन्दा के वाक्यों का वैसा रूप नहीं है। उनका वही रूप है जो देश-काल से परिच्छिन्न होकर केवल पुरुष विशेष वा पुरुषों के दल-विशेष पर लागू है, पुरुष मात्र पर नहीं।

बल्कि, गोसाईं जी ने तो 'पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती' लिखकर पुरुष-जाति की बड़ाई एक सार्वभौम तथा नित्य-सत्य के रूप में कर डाली है। सारांश यह कि गोस्वामी जी कृत नारी-निन्दा का रूप सैद्धान्तिक, पर पुरुष-निन्दा का रूप वैयक्तिक है। अवश्य ही प्रतिवादियों ने इस भेद को समझने का कष्ट नहीं उठाया। केवल कौशल्या आदि कुछ एक स्त्रियों की प्रशंसा तथा वालि, रावण आदि कुछ एक पुरुषों की निन्दा कर देने से ही गोसाईं जी नारी-द्वेष के कलंक से नहीं बच सकते। और 'रामचरितमानस' में पार्वती की सप्तर्षियों के साथ विद्वत्ता-पूर्ण बातचीत, जानकी का वन गमनार्थ पाण्डित्य-पूर्ण भाषण, तारा और मन्दोदरी का अपने-अपने पतियों को तर्क-पूर्ण हितोपदेश आदि के जो वर्णन हैं, वे कुछ गोसाईं जी के नारी-जाति के प्रति सद्भाव के परिचायक नहीं हैं। बल्कि वे उस यथार्थ, नित्य, अगोप्य और अदम्य सत्य के प्रबल प्रस्फोट हैं जो नारी जाति के प्रति उनकी महानिष्ठुर लेखनी के नृशंस प्रहारों के द्वारा लाख दबाए जाने पर भी न दब सके।

गोसाईं जी के कितने हिमायती उनका पक्ष लेकर राम-नारद-संवाद में नारी जाति के प्रति जो कालकूट उगला गया है उसके समर्थन में यह दलील पेश करते हैं कि वहाँ पर स्त्रियों के विविध दूषणों के दिखलाने का उद्देश्य केवल विरक्तों को स्त्रियों के संसर्ग से बचाना है। पर 'रामचरितमानस' की रचना केवल विरक्तों के ही लाभार्थ नहीं; वरन् विरक्त, गृहस्थ आदि सभी प्रकार के मनुष्यों के लाभार्थ हुई है। अतः यदि विरक्तों के लाभार्थ स्त्रियों के दूषण दिखलाए, तो गृहस्थों के लाभार्थ उनके गुण भी दिखलाने चाहते थे। यह तो हुई एक

बात। दूसरी बात यह कि यदि विरक्त पुरुषों के लाभार्थ स्त्री-निन्दा की गई तो न्याय तो यही कहता है कि शबरी, स्वयं प्रभा (जिसके साथ सीतान्वेषण-तत्पर हनूमान् आदि वानरों की भेंट विवर में हुई थी) आदि जैसी विरक्त तथा तपोनिष्ट स्त्रियों के लाभार्थ पुरुष-निन्दा भी की जाए। पर करे कौन? कलम तो ठहरी पुरुषों के हाथ में। गोसाईं जी के दिव्य चक्षुओं को केवल स्त्रियाँ ही सकल अवगुणों की खान दीख पड़ीं! जिन्होंने स्त्रियों को वैराग्य का शत्रु माना, उन्होंने स्त्री-जाति के महत्त्व को समझा नहीं। स्त्रियाँ पुरुषों को सन्मार्ग से कभी भी विचलित नहीं होने देतीं, बशर्ते कि उनके महत्त्व के अनुसार उनका सदुपदेश किया जाए। यदि स्त्री किसी विरक्त के पतन का कारण बनी तो इसमें स्त्री का दोष नहीं, बल्कि दोष है वैराग्य का ढोंग रचनेवाले उस मूर्ख का ही कि उसने स्त्री का सदुपयोग नहीं किया। कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, याज्ञवल्क्य, जनक आदि ब्रह्मर्षि और राजर्षिगण गृहस्थ होते हुए भी आदर्श विरक्त थे और विरक्त होते हुए भी आदर्श गृहस्थ थे। 'जोग भोग महँ राखेउ गोई' वाली गोसाईं जी की ही चौपाई राजा जनक के एक ही साथ आदर्श योगी (विरक्त) और आदर्श भोगी (गृहस्थ) होने का ज़बर्दस्त प्रमाण है। स्त्री क्या, संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसके असदुपयोग से हानि न हो सके।

(५) गोसाईं जी का ब्राह्मण-पक्षपात और शूद्र-घृणा—इस विषय पर प्रथम परिच्छेद में गोसाईं जी के जीवन-वृत्तान्त पर प्रकाश डालते समय थोड़ा-बहुत लिखा जा चुका है। अब उसी का यहाँ पर विशेष विवरण रहेगा। 'रामचरित-मानस' के निष्पक्ष तथा शान्ति-पूर्ण अध्ययन से यह बात निर्विवाद-रूप से सिद्ध हो जाती है कि उसके रचयिता के हृदय में

जातीय-राग-द्वेष (Communalism) कूट-कूटकर भरा हुआ था। उनके नस-नस में ब्राह्मण जाति के लिए एक सीमारहित अनुराग, पर शूद्र जाति के लिए एक वैसा ही द्वेष व्याप्त हो रहा था जो उनके जैसे एक राष्ट्रीय महाकवि के लिए सर्वथा अनुचित था। उनके ब्राह्मण-पक्षपात की तो व्याख्या लग सकती है; पर उनकी शूद्र-घृणा की नहीं। प्रथम परिच्छेद में गोसाईं जी कृत ब्राह्मण-प्रशंसा के विविध कारणों में से एक यह भी बताया गया है कि वे अपने बाल्य-काल से ही अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए नर हरिदास नामक एक ब्राह्मण महात्मा के आश्रित बने रहे; अतः उन्होंने ब्राह्मणों का गुण गाना ही इस ब्राह्मण-ऋण से मुक्त होने का सरल उपाय समझा। पर उनकी शूद्र-घृणा की व्याख्या कैसे की जाए, यह मालूम नहीं होता।

ब्राह्मण-पक्षपात—अब यहाँ पर गोसाईं जी के ब्राह्मण जाति-विषयक कतिपय पक्षपात-पूर्ण पद्यों को एकैकशः उद्धृत करके उनकी समीक्षा करता हूँ। पाठक उस पर विचार करें—

(क) पूजिए विप्र शील-गुण-हीना। शूद्र नाहिं गुण ज्ञान-प्रवीना॥

समीक्षा—गोसाईं जी की यह चौपाई अन्याय-पूर्ण होने से सर्वथा अमान्य है। शील और गुण से हीन ब्राह्मण का आदर करना और गुणी तथा ज्ञानी शूद्र का अनादर करना बड़ा भारी जुल्म है। जिस देश में गुणहीन व्यक्तियों का आदर और गुणी तथा ज्ञानी व्यक्तियों का अनादर होता हो उस देश का सर्वनाश होने में देर नहीं लगती। सामाजिक अधोगति और दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण गुणवानों का तिरस्कार और गुणहीनों का सत्कार है। इस उल्टे व्यवहार से देश में

बड़ी अशान्ति और गड़बड़ी मँच जाती है, लोग कर्त्तव्य-विमुख और उच्छृंखल बन जाते हैं। जब से हमारे देश में पूज्य और अपूज्य, योग्य और अयोग्य, एवं राग और द्वेप का विचार जाति-भेद पर अवलम्बित हुआ तभी से यह देश अधःपतन की ओर द्रुतगति से अग्रसर हुआ। यदि गोसाईं जी का उक्त सिद्धान्त ठीक रहता तो वेश्या-पुत्र वशिष्ट, चाण्डाली-पुत्र पाराशर, कैवर्त्तकी-पुत्र व्यास और शूद्री-पुत्र भरद्वाज कभी भी पूज्य न होते।

गुणी का आदर करना और गुणहीन का अनादर करना ही शास्त्र-सम्मत और न्याय-संगत है। संस्कृत ग्रन्थों में सैकड़ों स्थलों पर गुणी की पूजा और गुणहीन का अनादर करने का उल्लेख है। नमूने के तौर पर इसके कतिपय प्रमाण नीचे दिए जाते हैं—

(१) गुणाः पूजा-स्थानं-गुणिषु नच लिंगं न च वयः।

(२) येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुविभारभूता, मनुष्य-रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

(३) स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

(४) ऋषयश्चक्रिरे धर्म्मं योऽनूचानः स नो महान्।

(५) साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाण-हीनः।

(६) न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव वा।
न च शूद्रो न वै म्लेच्छो, भेदिता गुणकर्म्मभिः ॥

(७) नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

(८) सर्वं ज्ञान प्लवनैव वृजिनं संतरिष्यसि।

(९) ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।

(१०) धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

(११) गुणिगण गणनारंभे, न पतति कठिनी ससंभ्रमाद्यस्य ।
ते नाम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्याकीदृशी भवति ॥
(१२) विपदि धैर्य यथाभ्युदये क्षमा, सदसिवाक् पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृति सिद्ध मिदं हि महात्मनाम् ॥
(१३) गुणौ हिं सर्वत्र पदं निधीयते ।

(१४) न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः । इत्यादि ।

और भी कितने प्रमाण दिए जा सकते हैं जिनमें विद्वानों ने गुण का ही महत्त्व वर्णन किया है, न कि जाति का ।

अब देखना यह है कि जिन गोसाईं जी ने उक्त चौपाई को लिखा है वे स्वयं उसका पालन कहाँ तक करते थे। उनके मत से रामचन्द्र की भक्ति करना तथा उनका नाम जपना एक बड़ा भारी गुण है। यदि नीच से भी नीच जाति का कोई मनुष्य रामचन्द्र का भक्त बनकर उनका नाम जपता हो तो क्या वे कभी भी उसका अनादर कर सकते हैं ? कभी नहीं। उन्होंने स्वयं उत्तरकाण्ड में रामचन्द्र के मुँह से कहलवाया है—'भगति-वन्त अति नीचऊ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय अस मम बानी।' अतः जो 'नीचउ प्रानी' भक्ति के कारण रामचन्द्र का प्राणप्रिय है, क्या गोसाईं जी उसका अनादर करना कभी उचित समझेंगे ? कदापि नहीं । इससे मेरा तात्पर्य यही है कि गोसाईं जी स्वयं ही अपनी उक्त (विचाराधीन) चौपाई के कायल नहीं थे। यदि वे कायल होते तो वे वानर हनूमान् की इतनी स्तुति और पूजा कभी नहीं करते। इतनी क्या, कुछ भी नहीं करते। उन्होंने केवल पक्षपात-वश अपने समय की प्रथानुसार ब्राह्मणों के खुशामद में उक्त चौपाई को अपने अन्तर्रात्मा के विरुद्ध लिख दिया जो मानने योग्य नहीं है। पुनश्च—

(ख) शापत ताड़त परुष कहन्ता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता॥

समीक्षा—गोसाईं जी की यह व्यवस्था वैसा ही अन्याय-पूर्ण है जैसे कोई कहे कि "गौराङ्ग प्रभु हिन्दुस्तानियों को ब्लडी (Bloody), रास्केल (Rascal) आदि कोई भी गाली देवें अथवा वे अपने बूट (Boot) के ठोकरों का प्रहार कितनाहूँ उन पर करें तो उन्हें चुपचाप सह लेना चाहिए"। यदि इस चौपाई के अनुसार हिन्दूसमाज ब्राह्मणों का अत्याचर चुपचाप सहने लग जाए तो यह निश्चय जानिए कि सम्पूर्ण ब्राह्मण-समाज एक भयंकर रूप से उद्दंड और स्वेच्छाचारी बनकर न मालूम कौन-कौन कर्म-अकर्म करने लगेगा, इसका कोई भी ठिकाना न रहेगा। ब्राह्मणों को इतना अनुचित अधिकार दे देना हिन्दू जाति के लिए पूर्णतः घातक सिद्ध होगा। अतः गोसाईं जी की उक्त चौपाई कभी मानने योग्य नहीं है।

गोसाईं जी के कितने हिमायती विविध पौराणिक कथाओं का हवाला देकर उक्त चौपाई का समर्थन करते हैं। नारद ने राजा शीलनिधि की कन्या को स्वयंवर में नहीं प्राप्त करने का कारण विष्णु की चालबाजी समझी, अतः उन्होंने विष्णु को शाप दिया जिसे विष्णु ने विना कुछ चीं-चपड़ किए शिरोधार्य्य कर लिया। महर्षि भृगु ने विष्णु की परीक्षा लेने के लिए उनकी छाती पर खूब कसकर लात मारी, पर विष्णु महर्षि पर क्रोधित होने तथा उन्हें इस भारी कसूर के लिए सजा देने के बदले उनके चरणों को यह कहते हुए अपने हाथों से दबाने लगे कि भगवन्! मेरा वक्षस्थल बड़ा कठोर है, आप के कोमल चरण को उस पर आघात करने से सख्त चोट लगी होगी। परशुराम जनकपुर जाकर भरी राज सभा में रामचन्द्र के विरुद्ध न मालूम कितने कठोर शब्दों का प्रयोग किया, पर रामचन्द्र ने

उनके सभी कठोर शब्दों को चुपचाप सिर झुकाये सह लिया। 'शापत, ताड़त, परुष कहन्ता,' इन तीनों के क्रमशः तीन उदाहरण मिल गए।

पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन उदाहरणों की निःसारता आप से आप प्रकट हो जाती है। नारद की तो पूरी दुर्गति विष्णु ने पहले ही कर दी थी कि उन्हें बन्दर बनाकर भरी राजसभा में नचाया था। अधिक दण्ड देना विष्णु ने उचित न समझा। नारद के खुद शाप में भी कुछ सार नहीं दीखता। क्योंकि प्रत्येक कल्प के रामावतार के समय विष्णु का नर-रूप धारण करना, सीता के हरी जाने पर रामचन्द्र का विलाप करना तथा उनका वानरों से सहायता लेना, ये घटनाएँ रामायण के आवश्यक और अनिवार्य्य अंग रहते हैं। रामायण की ये घटनाएँ अवश्यंभावी हैं, नारद शाप दें अथवा न दें। इनके बिना रामायण नहीं बन सकती। नारद के शाप की व्यर्थता तभी मालूम हो जाती है जब हम लोग यह देखते हैं कि जिस कल्प में नारद शाप के कारण नहीं, बल्कि किसी अन्य कारण-वश, जैसे जय-विजय के प्रति सनकादिकों के शाप-वश, रामावतार हुआ था उस कल्प में भी उक्त घटनाएँ घटी थीं। असल बात यह है कि प्रत्येक कल्प के रामावतार में उक्त घटनाएँ अनिवार्य्य रूप से घटती हैं, ये नारद के किसी शाप की प्रतीक्षा नहीं करतीं। भृगु ने विष्णु के हृदय में लात अवश्य मारी, पर विष्णु को परीक्षा पास करनी थी, अतः वे कुछ न बोले। विष्णु एक पूरे नीति-कुशल जीव हैं। अपने स्वार्थ-साधन के लिए वे नीच से भी नीच उपाय का आश्रय लेने में तनिक भी नहीं हिचकते। उनके द्वारा जलन्धर की पत्नी का पाति-व्रत्य-नाश इसका प्रबल प्रमाण है। ये खूब जानते थे कि

"नीचातिनीचैरति नीचनीचैः सर्वैरुपायैः फलमेव साध्यम्।

यही कारण था कि विष्णु भृगु को दण्ड देने के बदले उनके पैर दबाने लगे जिसमें वे त्रिदेवों में श्रेष्ठ मान लिए जाएँ। यह 'शापत' और 'ताड़त' की वास्तविक व्याख्या हुई। अब 'परुष कहन्ता' की व्याख्या सुनिये। परशुराम की छीछालेदर लक्ष्मण कर रहे थे और रामचन्द्र तथा विश्वामित्र बैठे-बैठे तमाशा देख रहे थे। परशुराम की खिल्लियाँ लक्ष्मण ने ठीक वैसे ही उड़ाईं जैसे लड़के किसी पागल की उड़ाया करते हैं और रामचन्द्र ऊपर से विनय-प्रार्थना भी करते जाते थे, पर मन ही मन मुसकाते भी रहते थे। पर जब रामचन्द्र ने देखा कि यह अहंकारी और उद्दण्ड ब्राह्मण विनय करने से सिर पर चढ़ा जा रहा है; बिना इसका प्रतिरोध किए यह डींग हाँकता ही रहेगा; निरपराध तथा निर्बल क्षत्रियों का संहार करने से इसका मन बहुत बढ़ गया है, अतः इसकी धृष्ठता छुड़ानी चाहिये। बस, ज्योंही राम ने त्योरी बदलकर परशुराम को ललकारा, त्योंही वे दुम दबाकर भागे। इन उदाहरणों में नारदादि के ब्राह्मणत्व का कुछ भी लिहाज नहीं किया गया।

पुराणों से और भी कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों तथा अन्य ब्राह्मण-पुंगवों के ब्राह्मणत्व पर पानी फेर दिया गया है, उनकी पूजा करना तो दूर रहे। स्वयं विष्णु ने, जो भृगु-द्वारा लात मारे जाने पर भी कुछ न बोले, राजा अम्बरीष का पक्ष लेकर थोड़ी-थोड़ी-सी भी बातों के लिए शाप देने में सदा उद्यत ब्राह्मण-वरिष्ठ दुर्वासा के ऊपर सुदर्शन चक्र छोड़कर उनका मान-मर्दन कर दिया। विष्णु के अवतार भूत वामन ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि में रोड़ा अटकाते देख दैत्य गुरु शुक्राचार्य की आँखें फोड़ डाली। रामचन्द्र ने

स्त्री-चुराने के अपराध में ब्राह्मण-वंश-प्रसूत रावण का नाती-पूत समेत वधकर ब्राह्मण-पूजन का रक्त-रंजित महोत्सव कर डाला। स्वयं श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य को चकमा देकर उन्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन के हाथ यमधाम की यात्रा करा दी और अश्वत्थामा की जो दुर्दशा कराई वह किसी से छिपी नहीं है। ये तो हुईं स्वयं विष्णु तथा उनके कतिपय अवतारों की ब्राह्मण-पूजाएँ। अन्यों का भी यही हाल जानिए। राजा निमि ने शाप के बदले शाप देकर खुद अपने पुरोहित महर्षि वशिष्ठ का ही सर्वनाश कर दिया। सारांश यह कि किसी ने भी सामर्थ्य रहते 'शापत ताड़त परुष कहन्ता' विप्र से बिना बदला चुकाये नहीं छोड़ा। अतः गोसाईं जी की यह भी चौपाई मानने योग्य नहीं है।

शूद्र-घृणा—अब यहाँ पर गोसाईं जी के शूद्र-विरोधी उन जहरीले उद्धारों पर विचार किया जाता है जिनसे काक-भुसुन्डी और गरुड़ के सम्वाद में कलियुग का विवरण भरा गया है। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि शूद्रों का यह पद-दलन काक-भुसुन्डी को सम्बन्धित कलिकाल का एक शूद्र बतलाकर उसी शूद्र के द्वारा कराया गया है। काक-भुसुन्डी ने गरुड़ के समक्ष अपने प्रथम जन्म का जो इतिवृत्त कहा है उसके अनुसार वह किसी पूर्व कल्प के कलिकाल में अयोध्या में जाकर शूद्र शरीर में जन्मा था। उस शूद्र-जन्म में काक-भुसुन्डी ने कलियुग का जो तमाशा देखा उसी का वह वर्णन करते हुए तथा स्वयं उस जन्म का शूद्र और इस जन्म का काग, जो पक्षियों में चाण्डाल समझा जाता है, होते हुए भी अपनी बिरादरी के लोगों (शूद्रों) को जिस हेय बुद्धि से कोसता है उसे देख उसकी बुद्धि पर तरस आता है और गोसाईं जी की उस नीति-पूर्ण चातुरी पर जिसका आश्रम लेकर उन्होंने स्वयं कठपुतली का तार पीछे से

खींचते हुए एक शूद्र के ही द्वारा शूद्रों की हजामत बना डाली है, "शाबास, महाराज ! शाबास ।' बिना कहे जी नहीं मानता। और भी एक बात ध्यान देने योग्य है। गोसाईं जी ने वर्ण लेकर जो कुछ भला-बुरा कहा है वह केवल ब्राह्मण और शूद्र इन्हीं दो वर्णों के लिए। क्षत्रियों और वैश्यों के प्रति वे मौन हैं। क्या हम लोग इससे यह मान लें कि क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने धर्म्म पर आरूढ़ थे ? क्या कलियुग की हवा इन दो वर्णों को नहीं लगी थी ? यह तो हो नहीं सकता। अथवा क्या ये दोनों वर्ण उस कलि में एकदम लापता थे ? अथवा क्या आपने इन दोनों ही अन्नपाती वर्णों को 'युगे जघन्येद्वे जाती, ब्राह्मणः शूद्र एवच' इस शास्त्र के अनुसार शूद्र ही मान लिया ? ये सब बातें स्पष्टतः नहीं मालूम होतीं। यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों और शूद्रों के प्रति आपने जो कुछ कहा वा काक-भुसुन्डी से कहवाया है उनमें आपकी दो भावनाएँ अलग-अलग काम कर रही है। यदि ब्राह्मणों की अधोगति देखकर आपके हृदय में दुःख है तो वे 'पूजिए विप्र शीलगुण हीना' आदि लिखकर अपने मन को सान्त्वना दे देते हैं; पर शूद्रों की शूद्र के उन्नति देखकर आपके हृदय में जो जलन उत्पन्न होती है, वह बराबर धधकती रहती है। अब यहाँ पर आपके शूद्र-विषयक उद्गारों को एकैकशः लेकर उनकी समीक्षा पाठकों के विचारार्थ की जाती है।

(क) सूद्र द्विजन्ह उपदेशहि ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहि कुदाना ॥

समीक्षा—मनुष्यों की तरह पक्षियों में भी श्रेणी-विभाग माना जाता है जिसके अनुसार हंसादि शान्त-प्रकृतिवाले पक्षी ब्राह्मण, गरुड़ादि शिकार करनेवाले पक्षी क्षत्रिय तथा काकादि अभक्ष्य-भक्षक पक्षी चाण्डाल समझे जाते हैं। अतः यदि काक-

भुसुन्डी, पक्षि-समाज का चाण्डाल होता हुआ भी, क्षत्रिय गरुड़ तथा हंस-रूप-धारी अतः ब्राह्मण शिव को, व्यास गद्दी लगाकर ज्ञान का उपदेश दे सकता है, तो शूद्र यदि ब्राह्मणों को और विशेषकर कलि के ब्राह्मणों को, जिनके विषय में स्वयं उसी की सम्मति 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी' आदि है, ज्ञान का उपदेश देता है तो कौन सा बुरा काम करता है? क्योंकि वैसे ब्राह्मणों से तो पढ़ा-लिखा शूद्र ही उत्तम है। जान पड़ता है कि शूद्र-द्वेष ने गोसाईं जी के मस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व इस प्रकार जमा लिया था कि उसके फेर में पड़-कर आपको चाण्डाल का उपदेश देना तो सह्य पर शूद्र का उपदेश देना असह्य हो गया। लोमश ऋषि ने भी काक-भुसुन्डी को शाप देते समय 'वायस' को पक्षियों में चाण्डाल माना है; यथा—'सपदि होहु पच्छी चंडाला।' इससे भी सिद्ध है कि काक-भुसुन्डी चांडाल था और वह स्वयं भी अपने को यही मानता था। इस पर भी मजा यह कि वह अपनी ढेंढ़र न निरेख दूसरे की फूली निरेखना था। उसका क्या अधिकार था कि वह शूद्रों के कथा वाचने, जनेऊ पहनने और दान लेने को अनुचित कह सके? प्रायः ओछे लोगों की यह धारणा रहती है कि शूद्र ही शूद्रों का पल्ला लिया करते हैं। ऐसे लोग तरस के पात्र हैं। और यदि इन्हें अपनी जाति वा वर्ण का घमण्ड हो तो वे 'हिन्दू जाति का उत्थान और पतन' नामक पुस्तक पढ़ें।'

(ख) बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि देखावहिं डाँटि॥

समीक्षा—जब काक के ही कथनानुसार उस कलिकाल के ब्राह्मण श्रुति विक्रेता, निरक्षर, लोलुप, कामी, आचारहीन और

और वृषली-स्वामी हो गये तो ऐसे महापतित ब्राह्मणों के साथ शूद्रों का विवाद करना और उनसे अपने को नीच न समझना शास्त्र की दृष्टि से पूर्णतः उचित है और उनका यह कहना कि जो ब्रह्म को जानते हैं वे ही ब्राह्मण हैं सोलहो आने सही है; क्योंकि व्याकरण-शास्त्र 'ब्राह्मण' शब्द की यही व्युत्पत्ति बतलाता है—'ब्रह्म वेदं शुद्धं चैतन्यं वा वेत्यधीते वा' इति ब्राह्मणः (ब्रह्मन्+अण्); अर्थात् जो ब्रह्म (वेद वा शुद्धचैतन्य) को जानता वा उसका अध्ययन करता है उसी का नाम ब्राह्मण है; 'ब्राह्मन्' शब्द में 'अण्' प्रत्यय लगाने से 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है। यदि सचमुच वे कलयुगी ब्राह्मण इस प्रकार मूर्ख थे कि वे 'ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति तक नहीं जानते थे तो शूद्रों का उन्हें डाँट-डपटकर तथा आँख दिखाकर समझाना सर्वथा उचित था और वृषली-स्वामी ब्राह्मण को तो चाण्डाल से भी नीच बताया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण, प्रकृति खण्ड, अध्याय ३१, पढ़िये—

यदि शूद्रां व्रजेद्विप्रो, वृषली-पतिरेवसः ।
स भ्रष्टोविप्रजातेश्च. चाण्डालात्सोऽधमः स्मृतः ॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण शूद्रा का गमन करे वह वृषली-पति कहलाता है। वह ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट है और चाण्डाल से भी अधम कहा गया है।

अतः ऐसे कामी, आचार-हीन ब्राह्मणों से शूद्रों का पुजवाना कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है; क्योंकि जो स्वयं चाण्डाल से भी गया बीता है कम से कम उसके लिए तो शूद्र अवश्य पूज्य है। इसमें लोक-परलोक गँवाने की कुछ भी आशंका नहीं है।

(ग) सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन करहिं पुराना॥

समीक्षा—मैं पहले कह चुका हूँ कि काक-भुसुन्डी काग होने के कारण पक्षि-समाज का चाण्डाल था जो शूद्र से भी अधम समझा जाता है। पर वह भी लोमस ऋषि की कृपा से कुछ विद्या-बुद्धि पाकर नीलाचल पर आया और उसी की चोटी पर अपनी कुटिया बनाकर जप-तप करने लगा। वह पीपल-वृक्ष के नीचे ध्यान, पाकड़ के नीचे जाप और यज्ञ, आम के नीचे मानस-पूजा और बर के नीचे बैठकर कथा-पुराण कहा करता था जिसे सुनने के लिए असंख्य पक्षी आया करते थे। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब स्वयं चाण्डाल होता हुआ भी काक-भुसुन्डी जप-तप-योग यज्ञादि किया करता और वरासन पर बैठकर दूसरों को कथा-पुराण सुनाया करता था तो वे ही सब कर्म्म शूद्रों को करते हुये देखकर उसके हृदय में जलन क्यों हुई ? यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह है कि जब उसी के कथनानुसार कलियुग के सभी ब्राह्मण निरक्षर लोलुप कामी आदि होकर अपने धर्म्म-कर्म्म से भ्रष्ट हो गये तो जप-तप आदि करने तथा वरासन पर बैठकर पुराण कहने का काम शूद्रों ने अपनाया तो इसमें उन लोगों ने कौन-सा कसूर किया ? क्या ये सब काम किसी जाति-विशेष की बपौती हैं ? शास्त्र की तो यह व्यवस्था है—'न जातिर्दृश्यते राजन् गुणः कल्याणकारकाः' अन्यथा स्वयं गोसाईंजी, जिनकी जाति-पाँति का कुछ भी ठिकाना न था, उक्त सब कर्म्मों को क्यों करते थे ? उन्हें तो इस दशा में शूद्रों के साथ डाह न रखकर सहानुभूति रखनी चाहिये। और काक-भुसुन्डी तो जप-तप आदि करने एवं वरासन पर बैठकर कथा वाचने के कारण क्रमशः शम्बूक और रोम हर्षण की तरह वध-दण्ड के योग्य है।

भए वरन संकर सकल, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप दुख पावहिं, भय रुज सोक वियोग ॥

समीक्षा—यह लीजिए। गोसाईं जी ने इस दोहे को लिखकर सब बना-बनाया चौपट कर दिया! क्योंकि जब सभी वर्ण-संकर हो गये तो कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र है, इसकी शिनाख्त जाती रही। इस दशा में ब्राह्मण-शूद्र-विषयक आपकी सारी सम्मति निराश्रय हो जाने के कारण धूल में मिल गई और 'अन्धेरपुर नगरी बेवूफ राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली कहावत पूर्णतः चरितार्थ हो गई, क्योंकि समाज में सर्वत्र संकरता के छा जाने पर सभी एकाकार हो जाते हैं। कोई किसी को हँसने-दुसने, पूज्य-अपूज्य, नीच-ऊँच आदि कहने के लायक नहीं रह जाता।

(ङ) अधम जाति मैं विद्या पाये। भएउ जथा अहि दूध पिआये।

समीक्षा—अब यहाँ काक-भुसुन्डी अपने प्राक्तन जन्म का, जिस समय उसने मनुष्य-योनि में शूद्र का जन्म पाया था, उज्जयिनी-सम्बन्धी वृत्तान्त कह रहा है। दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर वह अपनी जन्म-भूमि अयोध्या से जीविकार्थ उज्जयिनी चला गया और वहाँ एक ब्राह्मण-गुरु का शिष्य हो गया। गोसाईं जी ने इन दोनों चेला-गुरु को लेकर यह दिखाने की कृपा की है कि शूद्र पढ़-लिखकर भी कहाँ तक दुर्जन और ब्राह्मण कहाँ तक सज्जन हो सकता है और उस पर भी मजा यह कि चेले (शूद्र) के छोटापन और गुरु (ब्राह्मण) के बड़प्पन का व्याख्यान उस चेले शूद्र के ही द्वारा दिलवाया गया है जिसमें किसी को शूद्रों की नीचता और ब्राह्मणों की उच्चता में शंका न रहे। काक-भुसुन्डी कहता है कि जाति का नीच होने के कारण मेरा विद्या पढ़ना साँप का दूध पिलाने के तुल्य हो

गया । मैं बहुत ही दंभी, कपटी, कुटिल, अभिमानी, महाखल, शिव-भक्त होता हुआ भी विष्णु-निंदक, ब्राह्मणों की सूरत देखकर जलनेवाला, गुरुद्रोही और उनके हितकर आदेशों पर भी क्रोध करनेवाला था और गुरुदेव की सज्जनता तो देखिए । वे दया के सागर, करुणा के अवतार, क्षमा की मूर्त्ति तथा अति ही सरल स्वभाव के थे । क्रोध ने तो मानो उन्हें छूआ तक नहीं था । वे मेरे अवगुणों पर भी आँखें बन्द कर मेरे ऊपर सदा वात्सल्य की दृष्टि रखते और मेरे हित का चिन्तन सदा किया करते थे; यहाँ तक कि उन्हीं के प्रति मेरी उद्दण्डता देखकर शिव ने जो शाप दिया था उसकी कठोरता भी उन्होंने अपनी ही स्तुति से शिव को प्रसन्न कर दूर करा दी थी। पर गोसाईं जी गुरु-चेले का चरित्र-चित्रण करते हुए परस्पर-विरोधी बातें लिखकर पुनः गिरफ़्तार हो गए हैं। यदि चेला सचमुच इतना घमन्डी और पाखन्डी तथा ब्राह्मणों को देखकर जलनेवाला था तो वह एक ब्राह्मण का चेला कैसे बन गया, यह समझ में नहीं आता । और यदि कुछ सीखने के उद्देश्य से चेला बना तो गुरु के नीति-शिक्षा देने पर उसे क्रोध क्यों होता था ? क्या वह सीखना चाहता था जो गुरु उसे न सिखाते थे ? जैसा सरल-स्वभाव उसने गुरु का बनाया है और जैसी स्नेह-दृष्टि गुरु उस पर रखते थे, वैसे सरल स्वभाववाले शिष्य-वत्सल गुरु अपने चेले से कुछ भी गुप्त नहीं रख सकते थे। अतः अवश्य ही 'काक-गरुड़-सम्बाद' नाना प्रकार के परस्पर-विरोधी तथा अशास्त्रीय बातों से भरे रहने के कारण किसी पागल के प्रलाप-सा मालूम होता है जिसे बुद्धि से कुछ भी सम्पर्क रखनेवाला मनुष्य कदापि नहीं मान सकता ।

उपसंहार—'रामचरितमानस' की मीमांसा समाप्त हो चुकी। इसके विविध गुणों तथा दोषों पर निष्पक्ष होकर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डाला जा चुका ताकि विज्ञजन इसके यथार्थ मूल्य का अनुमान कर सकें। इस बात को कोई भी नहीं इन्कार कर सकता कि हिन्दी-साहित्य में यह एक अनूठा ग्रन्थ है। इस जोड़ का कोई भी महाकाव्य आज तक हिन्दी भाषा में नहीं लिखा गया। यह हिन्दू जाति की राष्ट्र-सम्पत्ति है जिसका गर्व प्रत्येक हिन्दू को होना चाहिए। इस ग्रन्थ-रत्न को आबाल-वृद्ध, शिक्षित किम्वा अशिक्षित, सभी हिन्दू बड़ी ही श्रद्धा तथा भक्ति की निगाह से देखते हैं। जिस समय साधारण अक्षर-ज्ञान-प्राप्त एक ग्रामीण व्यक्ति मिट्टी का चिराग सामने रखकर 'मानस' के पद गाने लगता है, उस समय ज़रा ध्यान से उसकी ओर देखिए। भक्ति के परिमार्जित रूप को वह नहीं जानता; काव्य की बारीकियों का उसे ज्ञान नहीं; संगीत के प्रभाव से वह बिलकुल अपरिचित है; शब्दों के अर्थ, चमत्कार तथा अलंकार की खूबियों का उसे पता नहीं; पर फिर भी उस समय उस पर एक अजीब नशा, एक विलक्षण मस्ती, एक अपूर्व तल्लीनता छा जाती है जिसे देखकर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। पर सृष्टि का यह अटल नियम है कि यहाँ कोई भी वस्तु, अच्छी से अच्छी वह क्यों न हो, सर्वथा दोष-मुक्त नहीं दीखती। असंख्य-बहुमूल्य-रत्न-प्रसू सागर-गर्भ में भीमाकृति जल-जन्तुओं का निवास होना, तापत्रयहारी हिमांशुमाली के सर्वतः देदीप्यमान विमल विम्ब में कलंक कालिमा का भी स्थान पा जाना, अपने दिव्य सौरभ से चंचल मन को सर्वत्र से हटाकर अपनी ओर हठात् खींच लेनेवाले गुलाब के पौधे में

नुकीले काटों का उद्गम होना आदि विश्व की रचना में गुण-दोष के अनिवार्य्य सम्मिश्रण के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अतः 'मानस' में भी गणनातीत गुणों के साथ कुछ दोषों का भी साहचर्य देख पड़ना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध नहीं है। यह मनोहर महाकाव्य एक विशाल राजोद्यान है जिसमें ओज, प्रसाद और माधुर्य्य जैसे गुण-त्रय का त्रिविध समीर निरन्तर बह रहा है; जिसमें नाना प्रकार के श्रुति मधुर छन्द, शुक, सारिका, पिक, चातकादि विविध मधुर-ध्वनि पक्षियों की तरह अपना-अपना राग अलाप रहे हैं; जिसमे कल्याणकरी अनेक शिक्षाओं तथा उपदेशों के दिगन्त-व्यापी सौरभ को बिखेरनेवाले वचन प्रफुल्ल कुसुम-स्तवकों की भाँति चित्त को आह्लादित कर रहे हैं। पर इन सभी उत्कर्षों के होते हुए भी इस नन्दनोपम उपबन में दुर्भेद्य अन्धविश्वासों की कतिपय जटिल तथा कंटकाकीर्ण झाड़ियाँ हैं जिनसे बचकर ही साहित्यिक मालियों को प्रसून लूने करने चाहिए; अन्यथा जहाँ इषत् भी प्रमाद हुआ कि उन्हें क्षत-विक्षत होकर लाभ के बदले असीम हानि उठानी पड़ेगी। बस, यही मेरा 'मानस'-विषयक अन्तिम निवेदन है।